[परिसंवाद-८]

पुनश्चर्या-संवाद

[समाजविज्ञान : अन्तर्विषयी अध्ययन]

कुलपति प्रो. राममूर्ति शर्मा की प्रस्तावना से विभूषित

सम्पादक

डॉ. सोमनाथ त्रिपाठी

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

परिसंवाद | ८ |

पुनश्चर्या-संवाद

[समाजविज्ञान : अन्तर्विषयी अध्ययन]

कुलपति प्रो० राममूर्ति शर्मा की प्रस्तावना से विभूषित

सम्पादक

डॉ० सोमनाथ त्रिपाठी



सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

PARISAṀVĀDA [8]

PUNAŚCARYĀ-SAṀVĀDA

[SAMĀJAVIJÑĀNA : ANTARVIṢAYĪ ADHYAYANA]

FOREWORD BY

PROF. RAM MURTI SHARMA

VICE-CHANCELLOR

EDITED BY

DR. SOMNATH TRIPATHI

Head, Department of Social Sciences
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi



VARANASI

2001

ISBN : 81-7270-084-9

Research Publication Supervisor -

Director, Research Institute

Sampurnanand Sanskrit University

Varanasi- 221 002



Published by -

Dr. Harish Chandra Mani Tripathi

Director, Publication Institute

Sampurnanand Sanskrit University

Varanasi- 221 002



Available at -

Sales Department

Sampurnanand Sanskrit University

Varanasi- 221 002



First Edition - 500 Copies

Price - Rs. 230 = 00



Printed by -

Rajesh Computer's

Jaiprakashnagar, Sigra, Varanasi

परिसंवाद | ८ |

पुनश्चर्या-संवाद

[समाजविज्ञान : अन्तर्विषयी अध्ययन]

कुलपति प्रो० राममूर्ति शर्मा की प्रस्तावना से विभूषित

सम्पादक

डॉ० सोमनाथ त्रिपाठी

अध्यक्ष, सामाजिक विज्ञान विभाग

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी



वाराणसी

२०५८ वैक्रमाब्द १९२३ शकाब्द २००१ खैस्ताब्द

ISBN : 81-7270-084-9

अनुसन्धान–प्रकाशन–पर्यवेक्षक –
निदेशक, अनुसन्धान-संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी ।



प्रकाशक –
डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी
निदेशक, प्रकाशन-संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी –२२१००२



प्राप्ति–स्थान –
विक्रय-विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी–२२१००२



प्रथम संस्करण – ५०० प्रतियाँ
मूल्य – २३०.०० रूपये



मुद्रक –
राजेश कम्प्यूटर्स
जयप्रकाशनगर, सिगरा,
वाराणसी–२२१०१०

प्रस्तावना

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के सामाजिक विज्ञान विभाग द्वारा सन् १९९९ में आयोजित 'पुनश्चर्या-पाठ्यक्रम' में मनीषी विद्वानों द्वारा पढ़े गये निबन्धों को **'पुनश्चर्या-संवाद'** नाम से परिसंवाद-ग्रन्थमाला के आठवें पुष्प के रूप में प्रकाशित होता देखकर मुझे अपार हर्षानुभूति हो रही है। इस पुनश्चर्या-पाठ्यक्रम के निदेशक एवं परिसंवाद-ग्रन्थमाला के आठवें पुष्प के सम्पादक **डॉ. सोमनाथ त्रिपाठी** को एतदर्थ हार्दिक धन्यवाद प्रदान करता हूँ। डॉ. त्रिपाठी ने पुनश्चर्या-पाठ्यक्रम के लिए जो विषय निश्चित किया था, वह अत्यन्त हृदयग्राही होने के साथ ही साथ सामाजिक विज्ञान के उत्कर्ष का पाथेय बनेगा। इस पुनश्चर्या-पाठ्यक्रम का केन्द्रीय विषय था— **''समाजविज्ञान : अन्तर्विषयी अध्ययन''।** निश्चय ही विद्वानों ने सामाजिक विज्ञान के विषयों, उनके अन्तर्विषयों तथा उनके अध्ययनों पर अपनी-अपनी दृष्टि से गहरा विश्लेषण किया है। इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए इसकी व्याप्ति और निरुक्ति के प्रसङ्ग में यह कहना समीचीन होगा कि ''समाज के, विज्ञान के विषयों एवं अन्तर्विषयों का विशिष्ट अध्ययन'' इस पुष्प में प्रस्तुत किया गया है ।

महाकवि कालिदास ने अपनें रघुवंश-महाकाव्य में परस्पराश्रयी भावों, विचारों एवं विषयों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि परस्पराश्रयी भावों, विचारों एवं विषयों के अन्त: अध्ययन से उनके केन्द्रीय भाव, विचार एवं विषय अन्योन्याश्रित होते हुए उनकी आलम्बनधर्मिता को उद्दीपनधर्मिता में बदल देते हैं—

रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनं
बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम् ।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः
परस्परस्योपरि पर्यचीयत ।। (रघु. ३/२४)

यहाँ ध्यातव्य है कि प्राच्य-भारतीय चतुर्दश विद्याओं का विकास इन्हीं परस्पराश्रयी या अन्तर्विषयी विश्लेषणों का परिणाम है । इस तथ्य का भी परस्पराश्रयी उन्मीलन करते हुए महाकवि कालिदास ने बड़ी मार्मिक और हृदयग्राही वाणी में कहा है—

धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः
क्रमाच्चतस्त्रश्चतुरर्णवोपमाः ।
ततार विद्याः पवनातिपातिभि-
र्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः।। (रघु. ३/३०)

यहाँ महाकवि कालिदास ने विद्याओं की तुलना समुद्र से की है और विद्या-समुद्र की ऊर्मियाँ परस्पराश्रयी, अन्तर्विषयी अध्ययनों की प्रतिफल होती हैं ।

प्रस्तुत **पुनश्चर्या-संवाद** में हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषा में कुल ३४ शोध-निबन्ध संकलित हैं । इन निबन्धों के विषय और उनके अन्तर्विषय निश्चय ही समाज-विज्ञान के तलस्पर्शि अध्ययन को उन्मीलित करेंगे । ऐसे सामाजिक अनुसन्धान से ओतप्रोत इस परिसंवाद-ग्रन्थमाला के आठवें पुष्प की प्रस्तावना लिखते हुए मैं सहर्ष 'पुनश्चर्या-पाठ्यक्रम' के निदेशक एवं इस पुष्प के सम्पादक **डॉ. सोमनाथ त्रिपाठी** को हार्दिक धन्यवाद एवं शुभाशीर्वाद प्रदान करता हूँ । डॉ. त्रिपाठी ने अपने कठोर परिश्रम से चिर-संचित पाण्डुलिपि के माध्यम से इस पुष्प का उन्मीलन कराया है, जिसकी सुगन्धि समाज-विज्ञान के अध्येताओं, विश्लेषकों एवं शोधार्थियों तक निश्चय ही पहुँचेगी । मैं यहाँ उन मनीषी प्रतिभागियों को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिनकी 'पुनश्चर्या-पाठ्यक्रम' में सहभागिता के फलस्वरूप इन ३४ शोध-निबन्धों की प्राप्ति हो सकी है।

विश्वविद्यालय का प्रकाशन-संस्थान निरन्तर गौरवशाली प्रकाशनों से विश्वविद्यालय का यशोवर्द्धन कर रहा है । एतदर्थ प्रकाशन-संस्थान के निदेशक **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी**, ईक्ष्यशोधनप्रवीण **डॉ. हरिवंश कुमार पाण्डेय**, सहायक सम्पादक **डॉ. ददन उपाध्याय**, ईक्ष्य-शोधक **श्री अशोक कुमार शुक्ल**, **श्री अतुल कुमार भाटिया**, प्रकाशन-सहायक **श्री कन्हई सिंह कुशवाहा**, पाण्डुलिपि संग्राहक सहायक **श्री ओमप्रकाश वर्मा** एवं डाटा इन्ट्री आपरेटर **श्री जितेन्द्र कुमार भाटिया** प्रभृति को शुभाशीर्वाद प्रदान करते हुए इस ग्रन्थ के मुद्रक राजेश कम्प्यूटर्स के संचालक **श्री राजेश चन्द्र श्रीवास्तव** को शीघ्र मुद्रण के लिए साधुवाद प्रदान करते हुए आवरण-सज्जा के मुद्रक श्रीजी-कम्प्यूटर प्रिण्टर्स के संचालक **श्री अनूप कुमार नागर** का वर्द्धापन करता हूँ ।

अन्ततः 'पुनश्चर्या-संवाद' के समुच्चयभूत परिसंवाद-ग्रन्थमाला के इस अष्टम पुष्प को सान्नपूर्णा अष्टमूर्त्ति श्रीकाशीविश्वेश्वर के करकमलों में समर्पित करते हुए समाज-विज्ञान के उत्तरोत्तर उत्कर्ष की कामना करता हूँ ।

वाराणसी
श्री गुरु-नानक-जयन्ती,
वि. सं. २०५८

राममूर्ति शर्मा
राममूर्ति शर्मा
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

भूमिका

मानव एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहकर समाज के विभिन्न क्षेत्रों में क्रियाशील रहता है। मानव के जीवन के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक इत्यादि विभिन्न पहलू हैं। चूँकि व्यक्ति के सामाजिक जीवन के ये पहलू एक-दूसरे से परस्पर सम्बद्ध हैं, इसलिए तमाम सामाजिक शास्त्रों के बीच भी किसी न किसी रूप में सम्बद्धता है। इन सामाजिक शास्त्रों को ही सामाजिक विज्ञान कहते हैं।

अन्तःअनुशासनिक पद्धति

कभी-कभी किसी समस्या-विशेष के अध्ययन के लिए एक से अधिक शास्त्रों पर निर्भर होना पड़ता है और इसी को अन्त:अनुशासनात्मक या अन्त:शास्त्रीय पद्धति कहा जाता है। इस पद्धति का हम तब उपयोग करते हैं, जब विभिन्न शास्त्र कुछ सामान्य समस्याओं से सम्बद्ध रहते हैं। अन्त:शास्त्रीय दृष्टिकोण एक व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। इसके अन्तर्गत मुख्यत: तीन बातें उल्लेखनीय हैं—

१. किसी समस्या या घटनाक्रम को समझने में सभी सामाजिक शास्त्रों की तकनीकों, खोजों, सिद्धान्तों एवं प्रतिमानों को प्रयोग में लाना।

२. भिन्न-भिन्न शास्त्रों के विभिन्न आँकड़ों और सिद्धान्तों की सहायता से किसी एक शास्त्र के सिद्धान्तों और खोजों को सत्यापित करना।

३. समस्त सामाजिक शास्त्रों के क्षेत्र में अनुदान करने के उद्देश्य से मानव जीवन के प्रति बृहत्तर तथा व्यापक दृष्टिकोणों का विकास करना।

अन्तःअनुशासनात्मक दृष्टिकोण की उत्पत्ति

अन्त:शास्त्रीय पद्धति सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में एक आधुनिक पद्धति है; परन्तु परम्परागत सामाजिक विज्ञान में भी इसकी जड़ें देखने को मिलती हैं।

प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य के शासकों की खोज के दौरान स्पष्ट रूप से कहा था कि दर्शन का ढाँचा और शिक्षा का स्वरूप शासकों की प्रकृति और क्रिया-कलापों को गम्भीर रूप से प्रभावित करेगा। **अरस्तू** ने भी अपनी पुस्तक **'पालिटिक्स'** में धन के विभाजन और सामाजिक स्थिति तथा शासन के विभिन्न प्रकारों के बीच सम्बन्ध को आवश्यक बताया है। इन परम्परागत अध्ययनों को हम अन्त:शास्त्रीय अध्ययन का गहन एवं सम्यक् विश्लेषण नहीं कह सकते; क्योंकि १८ वीं सदी के पहले विभिन्न सामाजिक विज्ञान नहीं थे। उन दिनों समाज का तमाम अध्ययन दर्शन से जुड़ा हुआ था। १८ वीं शताब्दी में ही विभिन्न सामाजिक विज्ञानों को स्थापित करने का प्रयास किया गया । इस शताब्दी में ही **फिसियोक्रेट्स** तथा **एडम स्मिथ** ने राजनीतिक अर्थशास्त्र को एक स्वतन्त्र समाज विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की[1]। समाजशास्त्र के जन्मदाता कहे जाने वाले ***कॉम्टे*** ने इस बात पर जोर दिया कि तमाम सामाजिक घटनाएँ मूलरूप से परस्पर सम्बद्ध हैं । परिणामस्वरूप किसी एक सामाजिक घटना या समाज के किसी एक पहलू के अध्ययन करने को बेकार बताया गया । १९ वीं शताब्दी के मध्य में सामाजिक शास्त्रों में अन्त:शास्त्रीय अध्ययन का विकास क्रमबद्ध ढंग से प्रारम्भ हुआ। १९वीं शताब्दी में ही **कार्ल मार्क्स** ने जोरदार शब्दों में इस बात की वकालत की कि सामाजिक घटनाओं का अलग-अलग अध्ययन होना चाहिए। मार्क्स के अनुसार सभी समाज विज्ञानों में एकता है। परिणामस्वरूप १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तथा २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में एक समाज-विज्ञान के स्थान पर अनेक समाज-विज्ञानों की स्थापना को आवश्यक बताया गया। समाज की जटिलता को ध्यान में रखते हुए किसी एक समाज-विज्ञान द्वारा तमाम तथ्यों का अध्ययन सम्भव नहीं है । अत: समाज-विज्ञान के विभिन्न भाग किये गये हैं, ताकि सामाजिक अनुसंधान

1. "Economics was established as empirical science by Adam Smith and D. Rieardo; Anthropology was thus established by C. Meiness, G. Klem and T. Waitz; Geography was transformed into a science by. A Humboldt, K. Retter and F. Ratzel; Jurisprudence became a science in the works of J. Austin. A.F.J. Thibant; F.K. Savign; Political science was transfromed into an empirical discipline by the studies of F.E. Dahimann and A. Tocqueville; Psychology was developed into an empirical Science by D. Harley, A. Bain and J.F. Herbert; Sociology itself became a Science under the influence of A. Compte. H. Speneer and K. Marks."

का काम आसानी से हो सके। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद समाज-विज्ञानों के अध्ययन से एक नई दिशा उभरी। इसके अन्तर्गत एक विशेष समाज-सम्बन्धी विषय का अध्ययन करने वाले अध्येता दूसरे अन्य विषयों के अध्ययन करने वालों से तालमेल बना रखते हैं। विभिन्न समाज-विज्ञानों में व्यवहारवाद के उदय की बात अधिक स्पष्ट हो गई है कि तमाम समाज-विज्ञानों का अलग-अलग अध्ययन न कर उनका अन्त:शास्त्रीय अध्ययन होना चाहिए।

मनुष्य के सामाजिक जीवन के विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक आदि पहलू होते हैं। मनुष्य इन विभिन्न पहलुवों का अध्ययन समाज-विज्ञानों के माध्यम से करता है। ये विभिन्न सामाजिक शास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन से सम्बद्ध हैं। जैसे– इतिहास मानव समाज के विकास की कहानी है। यह मानव के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन के विकास का विवरण प्रस्तुत करता है। इसीलिए **राईकर** ने कहा है– "इतिहास विकास का नाटक और प्रक्रिया दोनों है"। **गैटेल** ने भी लिखा है– "इतिहास अतीत की घटनाओं और विकासों, उनके कारणों तथा पारस्परिक सम्बन्धों का लेखा-जोखा है"। इस प्रकार इतिहास मानव जाति की सभ्यताओं और विफलताओं की कहानी है,जहाँ से हमें भूतकालीन समाज की झलक मिलती है। इसी प्रकार अर्थशास्त्र बहुत समय तक राजनीतिशास्त्र का ही अंग माना जाता था और इसे राजनीतिशास्त्र कहा जाता था। **कौटिल्य** का महान् ग्रन्थ, जिसमें राजनीतिक बातों का उल्लेख है, अर्थशास्त्र नाम से विख्यात है। अर्थशास्त्र मानव के आर्थिक जीवन से सम्बद्ध है, इसलिए इसे धन का विज्ञान भी कहा जाता है। **मार्शल** ने कहा है– "अर्थशास्त्र जीवन के साधारण व्यापार में मनुष्य का अध्ययन है"। इसके अन्तर्गत सम्पत्ति के उत्पादन, वितरण, विनिमय तथा उपभोग का अध्ययन किया जाता है। राजनीतिशास्त्र मानव-समाज के राजनीतिक संगठन एवं शासन के नियमों का अध्ययन करता है, अर्थात् वह राज्य के सम्प्रभु के अधीन संगठित सामाजिक समूहों का वर्णन करता है। इसी प्रकार नागरिकशास्त्र का सम्बन्ध नागरिक जीवन की समस्याओं से है। यह मनुष्य के सामाजिक जीवन की उन अवस्थाओं का ज्ञान कराता है, जिनसे वह समाज में सर्वोत्तम, सुखी और समृद्ध जीवन व्यतीत कर सके। इसी प्रकार समाजशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन के सभी मौलिक तथ्यों का अध्ययन करता है । **गिलक्राइस्ट** के शब्दों में– "समाजशास्त्र समाज की आधारभूत घटनाओं का अध्ययन करता है"।

इस प्रकार हम पाते हैं कि समाज-विज्ञानों के प्रत्येक शास्त्र मानव, मानव-समाज एवं उसके विकास से सम्बन्धित प्रत्येक पक्षों का समग्र अध्ययन करने के लिए एक-दूसरे शास्त्रों के अनुशासन का उपयोग करते हैं, तभी उस शास्त्र के अध्ययन में, निष्कर्ष में गहरी समझ पैदा होती है और अनुकूल परिणाम प्राप्त होते हैं।

समाज-विज्ञानों के अन्तर्गत आने वाले सभी शास्त्रों के मूल सिद्धान्तों, विभिन्न मान्यताओं और पहलुवों को भलीभाँति समझने के लिए उनका वैज्ञानिक तथा सुनियोजित अध्ययन जरूरी है। इन सभी शास्त्रों की अपने-अपने अनुशासन की दृष्टि से अध्ययन की समान पद्धतियों के साथ ही कतिपय अलग पद्धति भी होती है। वर्तमान समय में प्रत्येक शास्त्र की जितनी भी पद्धतियाँ विकसित हुई हैं, उन सभी पद्धतियों का आवश्यकतानुसार एवं अपेक्षानुसार उपयोग समाज-विज्ञान के अन्तःशास्त्रीय अध्ययन के लिए होता है। किसी भी प्रयोग विधि को अपनाने की आवश्यकता उस अन्तर्विषयी अध्ययन की दृष्टि और प्रवृत्ति पर निर्भर करती है।

मानवीय सभ्यता तथा ब्रह्माण्ड के साथ मानव के विविध प्रकार के सांस्कृतिक क्रिया-कलापों और आपसी सम्बन्धों का नीति-निर्देशन समाज-विज्ञानों के विभिन्न अङ्गों के शास्त्रीय अध्ययन, चिन्तन एवं स्थापनाओं द्वारा होता है।

इसमें कोई शक नहीं है कि अध्ययन, मनन, चिन्तन आदि के काम, ग्रन्थों की रचना और शास्त्रीय अनुसंधान पहले से कई गुना अधिक हो रहे हैं; परन्तु इनके शास्त्रों से मनुष्य अपनी परिस्थितियों का मुकाबला करने में अपने को सक्षम नहीं पा रहा है। मनुष्य समाज में अपनी समस्याओं को समझने और समझाने के लिए पश्चिम के ज्ञान-केन्द्रों से हटकर अपने देशज सांस्कृतिक वैचारिक ढाँचे को पुनः प्रतिष्ठित करने की चुनौती स्वीकार कर ही हम सक्षम हो सकते हैं।

विचार की उत्पत्ति तब हुई जब एक प्रजाति के तौर पर मनुष्य को लगा कि वह चुनौतियों से घिरा है, जिन्हें समझे और सुलझाए बगैर उसका चल पाना सम्भव नहीं है। जब कई चीजों की समझ पक्की हो जाती है, तो वह शास्त्र बन जाता है। शास्त्र मनुष्य एवं उसके समाज के बेहतर भविष्य को सम्भव बनाने, दिशा-निर्देशन करने और उन्हें अपने कर्तव्यों को पहचान कर उसके पालन करने के लिए प्रेरित करता है। शास्त्र में बहुत सारी बातें विवाद और अनुसंधान की

प्रक्रिया में रहती हैं। शेष जो रहस्य और अन्धकार की तरह जान पड़ता है, उसको भी कल्पना और मिथकों के द्वारा वैचारिक साँचे के अन्दर रखा जाता है। इन तीन परतों के परस्पर सम्बन्ध से मानव-विचार का एक संसार बनता है। हर मनुष्य या मनुष्य-समुदाय का एक विचार-संसार होता है। इस विचार-संसार को हटा दें, तो मनुष्य का ही अस्तित्व नहीं रहेगा।

यह विचार-संसार इन दिनों सूना हो गया है । जिन सफलताओं को प्राप्त करने के लिए मनुष्य युगों से प्रयासरत था, जिन सफलताओं को हम २०वीं सदी के प्रथमार्ध में आसन्न समझते थे, वे अब बहुत दूर और प्राय: असम्भव दिखने लगी हैं। एक प्रजाति के तौर पर मानव की सफलता क्या हो सकती है? इसको दो हिस्सों में कहा जा सकता है – पहला, ब्रह्माण्ड से मनुष्य का एक ऐसा सम्पर्क स्थापित हो कि सम्पूर्ण सृष्टि में उसको अपनी हिस्सेदारी का अनुभव हो । यह सर्वोच्च लक्ष्य है। दूसरा और निम्नतम लक्ष्य यह होगा कि प्रत्येक मनुष्य को स्वाभिमान के साथ एक स्वस्थ जीवन जीने की पर्याप्त सुविधाएँ प्राप्त हों। जहाँ निम्नतम और सर्वोच्च दोनों लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कोशिशें होती रहती हैं, वहाँ सभ्यता होती है।

मानव जाति को सुख,शान्ति प्रदान करने में इस वक्त के ज्ञान-विज्ञान के सारे शास्त्र अपनी असमर्थता जाहिर कर रहे हैं। अर्थात् मनुष्य को सुख-शान्ति और स्वायत्तता देने की दिशा में कोई भी शास्त्र प्रभावी ढंग से कार्यरत नहीं है।

मनुष्य अपने को केवल समाज से जोड़कर नहीं सोचता है, वरन् वह सचेत ढंग से पूरे ब्रह्माण्ड के साथ जोड़कर देखना चाहता है कि उसका हर एक काम ब्रह्माण्ड के लिए प्रासंगिक हो और उसके साथ ताल मिलाकर उसके जीवन की गति हो। अर्थात् मनुष्य सीधे प्रकृति के नियमों से निर्देशित नहीं है, उसके अपने भी नीति नियम होते हैं । इस प्रकार उसकी एक स्वायत्तता होती है और यह स्वायत्तता उसकी संस्कृति है। विना संस्कृति के मनुष्य का कोई काम नहीं होता। संस्कृति में बहुत-सा आडम्बर भी होता है; लेकिन उसका एक बुनियादी अंश है, जिसको हम मूल्य कहते हैं। जीवन को स्वस्थ, सुन्दर और गतिशील बनाने के जो तत्त्व होते हैं, उनको मूल्य माना गया है। मूल्यों के बहुत सारे सामाजिक और व्यावहारिक रूप हो सकते हैं; लेकिन वास्तव में ये तीन मूल्य हैं। बाह्य स्थिति के साथ सम्यक् संयोग स्थापित करने वाला तत्त्व सौन्दर्य है। शरीर और मन के अन्दर

कोई अवरोध न रहना स्वास्थ्य है। स्वास्थ्य के होने से बाह्य के साथ संयोग स्थापित करने में और गतिशीलता को क्रियान्वित करने में अवरोध नहीं रह जाता है। तीसरा मूल्य है गतिशीलता, जो मनुष्य की आगे बढ़ने की इच्छा है, यह शारीरिक, मानसिक, आन्तरिक, बाह्य कई स्तरों पर सक्रिय होती है। अन्ततोगत्वा आगे बढ़ने की इच्छा का सम्बन्ध जीवन के विकास की धारा को गति देने से होता है। इसलिए आधुनिक समाज-विज्ञान मूल्यों को जीवन-विकास (इवोल्यूशन) के साथ जोड़ता है। मनुष्य का जो व्यवहार जीवन-विकास की धारा का मददगार है– वह मूल्य है, वही सुन्दर और नैतिक भी है।

नैतिकता और संस्कृति में फरक होते हुए भी दोनों में एक बहुत बड़ा सामंजस्य है। कारण जो संस्कृति का प्रेरक तत्त्व है, वह नैतिकता की कसौटी भी है। नैतिकता के भी मानदण्ड स्वास्थ्य, सौन्दर्य और गतिशीलता हैं। दोनों के साथ मनुष्य के मन का सम्बन्ध है। बुद्धि से मनुष्य सक्रिय होता है; लेकिन समग्र क्रिया का प्रतिफलन मन पर होता है। मन की जिस बुनियादी अवस्था से मनुष्य की चेतना प्रभावित होती है, वह सुख-दुःख की अवस्था है। सुख-दुःख को कैसे ग्रहण करें, कैसे झेलें, कैसे नियन्त्रित करें या पैदा करें– ये सारी बातें संस्कृति से सम्बन्धित हैं। सुख और दुःख के बारे में दुनिया में दो तरह की मान्यताएँ चलती हैं। उसमें जो सबसे अधिक प्रचलित है, वह सुखान्वेषण की है। एक दूसरी मान्यता है, जो एक विधान के तौर पर गौतम बुद्ध की बतलाई हुई है; अन्य धार्मिक दर्शनों में भी इसका स्रोत विद्यमान है। गौतम बुद्ध का मानना है कि मनुष्य की मूल स्थिति दुःख की है। दुःख का शमन होना चाहिए। दुःख-शमन की विधि ही नैतिकता है। दुःख-शमन का सुख सम्यक् सुख है। वह करुणायुक्त सुख है। इस प्रकार के सुख को मानने वाले मनुष्य बहुत हुए हैं और अभी भी होते हैं; लेकिन इसी को लक्ष्य मानकर एक सामाजिक व्यवस्था का निर्माण हमारे युग के एजेंडा में नहीं है।

इसकी जो सामाजिक व्यवस्था होगी, उसमें विलासिता नहीं रहेगी। कारण विलासिता करुणायुक्त सुख के विपरीत है। विलासिता का सुख मनुष्य को समाज और प्रकृति से अलग कर देता है, इससे मनुष्य तथा प्रकृति विलासी वर्ग के लिए केवल साधन बन जाते हैं।

निष्कर्ष यह है कि सभ्यता और संस्कृति मनुष्य की दुःख-शमन की प्रवृत्ति का परिणाम है; लेकिन जब सुखवृद्धि का अन्वेषण कोई एक समूह अपने लिए

करने लगता है, तब वह प्रकृति और मनुष्य के सम्यक् सम्बन्ध छिन्न-भिन्न करके उनसे सुख के साधन के तौर पर व्यवहार करता है और मनुष्य समाज में आधिपत्य का केन्द्र स्थापित करता है। सुख के सम्बन्ध में अगर बुद्ध के दर्शन को अपनाएँ और उसी के अनुरूप एक सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करें, तब वह एक विलासिताविहीन समाज होगा। सुख की सही अवधारणा संस्कृति के लिए एक मूल तत्त्व है। सुख और दुःख की उत्पत्ति मनुष्य के छः बुनियादी सम्पर्कों से होती है। तीन बुनियादी सम्पर्क हैं– सम्पत्ति, सत्ता और यौन सम्पर्क। अन्य तीन बुनियादी सम्पर्क हैं– मनुष्यों से सम्पर्क, वस्तु जगत् से सम्पर्क और ब्रह्माण्ड से सम्पर्क । प्रथम तीन के सम्पर्कों के बारे में हम नैतिकता के सूत्र बनाते हैं। प्रत्येक मनुष्य के लिए जो अन्य होता है या बाह्य होता है, वह है—वस्तुगत जगत्, मानव समाज और ब्रह्माण्ड। ज्यादातर लोग ब्रह्माण्ड को अपने धर्म के माध्यम से जानते हैं और ईश्वर, परलोक, स्वर्ग, मोक्ष आदि कहकर 'स्व' को ब्रह्माण्ड के साथ जोड़ते हैं। कुछ लोग ब्रह्माण्ड को जानने के लिए अपनी आत्मा की गहराई में जाते हैं। मानव समाज से अर्थात् दूसरे मनुष्यों से कैसा सम्पर्क रखना है, इसका मार्ग-दर्शन कराने के लिए लिखित और अलिखित कानून बने रहते हैं– कुछ धर्म के, कुछ समाज की कई विभिन्न संस्थाओं के । वस्तुगत से सम्पर्क का विधान भी धर्म, राज्य और लोकमत में प्रकट या निहित रूप में रहता है।

इन छः प्रकार के सम्पर्कों के बारे में जो मान्यताएँ और व्यवस्थाएँ बनती हैं, वे ही हमारा सांस्कृतिक ढाँचा हैं। ये मान्यताएँ ऐसी हों, उनकी व्यवस्थाएँ ऐसी हों कि मनुष्य जीवन को सुन्दर, स्वस्थ और गतिशील होने में मदद करें– यह अपेक्षा संस्कृति से रहती है ।

इसीलिए समाज-विज्ञान के विद्वान्, जो मानव समाज की संस्कृति की समीक्षा करते हैं, अपसंस्कृति पर बहस करते हैं या नई संस्कृति का उदय चाहते हैं, उन्हें मानव के उपर्युक्त आचरणों और उन्हीं मूल्यों को मानव समाज के सांस्कृतिक ढाँचे के केन्द्र में रखकर ऐसे शास्त्रों का निर्माण करना होगा, जो मनुष्य एवं मानव समाज को मूल्यबोध करा सकें।

शास्त्र-निर्माण के बारे में दो धाराएँ प्रचलित हैं, एक यह कि विशिष्ट वर्ग की मेधा से शास्त्र उत्पन्न होता है, दूसरी यह कि शोषित, पीड़ित वर्ग का जो उदीयमान समूह होता है, उसके हित के अनुरूप नये विचार उत्पन्न होते हैं। दोनों

व्याख्याएँ आंशिक रूप से सही हैं। आधुनिक युग में १९५० से पूर्व के विचार-निर्माता मुख्यत: यूरोपीय लोग ही हो सकते थे; क्योंकि वे ही राजनैतिक तौर पर स्वायत्त और सार्वभौम थे। उनका ज्ञान यूरोप केन्द्रित था, फिर भी उसमें गम्भीरता और गहराई थी; लेकिन १९४५-५० के बाद से पश्चिम के अन्दर ही विचार का मुख्य केन्द्र यूरोप से हटकर अमरीका में स्थानान्तरित हुआ। शास्त्र और विचार निर्माण का नियामक जब से अमरीका हो गया है, पश्चिम का विचार-संसार यूरोपीय नवजागरण की धुरी से अलग होता गया है। पश्चिम के विचार में पहले का औद्धत्य तो रह गया है; लेकिन उसकी गम्भीरता खत्म हो गई है। यहाँ इस तथ्य की तरफ भी ध्यान देना होगा कि मानवीय विचार का नवीनीकरण विभिन्न युगों में जब भी हुआ है, ज्ञानकेन्द्रों का भौगोलिक स्थानान्तरण हुआ है। भौगोलिक स्थानान्तरण के साथ-साथ भाषा का भी परिवर्तन हुआ है। नई अर्थात् अपेक्षाकृत पिछड़ी भाषाओं के माध्यम से ही ज्ञान का अगला दौर समृद्ध होता है। चीनी, संस्कृत, ग्रीक, रोमन, लैटिन, अंग्रेजी, अमरीकी अंग्रेजी, शास्त्र-निर्माण के अलग-अलग युग के नाम हैं, अलग-अलग स्थान और भाषा के नाम हैं।

१९५० में ज्ञान-केन्द्र का जो महाद्वीपीय स्थानान्तरण हुआ, उसका एक जबरदस्त विकल्प उन दिनों था। १९४५ में अमरीका पश्चिम का चक्रवर्ती घोषित हुआ। उसी कालखण्ड में एशिया, अफ्रीका और लातिन अमरीका के एक सौ देश राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त कर रहे थे। मनुष्य की गरिमा बढ़ाने वाले जिन राष्ट्रीय आन्दोलनों से इतनी बड़ी मानवता का राजनैतिक पुनरुत्थान हुआ, उसमें एक बौद्धिक पुनरुत्थान की संभावना थी। इन सारे राष्ट्रीय आन्दोलनों में मानव कल्याण की आकांक्षाएँ थीं; लेकिन समाज वैज्ञानिकों के दिमाग में यह स्पष्ट नहीं था कि आकांक्षाओं की पूर्ति पश्चिम के शास्त्रों के सहारे नहीं हो सकती है। विकासशील देशों के विशिष्ट वर्ग अर्थात् बौद्धिक वर्ग ने सोचा कि पश्चिम के बने-बनाये शास्त्रों के सहारे सारी मानव जाति का कल्याण हो सकता है, अत: नया ज्ञान पैदा करने की जरूरत नहीं है। पश्चिमी शास्त्रों का यह अमरीकी संस्करण पहले से ज्यादा अनुपयोगी सिद्ध हो रहा है। अब मनुष्य जाति को एक शास्त्रविहीन युग में ढकेला जा रहा है। इक्कीसवीं सदी के प्रारम्भ में हम अज्ञान के युग में प्रवेश कर रहे हैं। अगर हम अभी से इस बात को समझ जाँय, तो बीस-तीस साल में उससे उबर सकते हैं।

किसी भी सभ्यता के दो केन्द्रीय तत्त्व होते हैं– उसकी यन्त्रपद्धति (टेकनोलाजी) और मूल्यव्यवस्था । आधुनिक सभ्यता में यन्त्र, मूल्य और संस्था तीनों परस्पर बहुत ज्यादा जुड़े हुए हैं; परन्तु सबसे ज्यादा निर्णायक यन्त्र हो गया है, जो संस्था तथा मूल्य दोनों को निर्धारित कर रहा है। आधुनिक यन्त्रपद्धति की विशेषता उत्पादन बढ़ाने की दिशा में नहीं है। इसका सम्बन्ध सिर्फ प्रबन्धन और नियन्त्रण से है।

विश्व के पैमाने पर मानव को आपस में जोड़ना मानव जाति का प्राचीन लक्ष्य है। पहले की सभ्यताओं में इसकी कल्पना, इसकी चर्चाएँ जब भी हुईं, उसमें संस्कृति और धर्म को ही इसके माध्यम के रूप में सोचा गया। आज आधुनिक सभ्यता में यह लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता; लेकिन आधुनिक युग के ज्ञान-विज्ञान में यह दावा किया जा सकता है कि व्यापारिक संस्थाओं के द्वारा समस्त मानव जाति को एकीकृत किया जा सकता है।

मनुष्य का विकास व्यापार के द्वारा नहीं, संस्कृति के विकास के द्वारा ही हो सकता है। संस्कृति का तकाजा है कि आर्थिक नीतियाँ और विकास की प्रणाली मनुष्य के सांस्कृतिक लक्ष्यों का उल्लंघन न करें। अत: हमारे युग की ये दो चुनौतियाँ हैं– (क) मनुष्य की संस्कृति और सांस्कृतिक मानदण्डों को हम नये सिरे से परिभाषित करें, (ख) व्यापार और विकास की नीतियों को सांस्कृतिक लक्ष्यों के अनुरूप बनायें। हर स्तर पर विषमता बढ़ाकर हम व्यापार का जगतीकरण कर सकते हैं, मनुष्य का जगतीकरण नहीं। मनुष्य का जगतीकरण एक सांस्कृतिक लक्ष्य है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि एक विकेन्द्रीकृत लोकतांत्रिक सभ्य समाज-संरचना में नयी सांस्कृतिक मूल्य व्यवस्था और यन्त्रपद्धति के सन्दर्भ में नये शास्त्रों की रचना करना समाज-विज्ञान के अन्तर्विषयी अध्ययन के लिए एक कठिन चुनौती है। इसका समाधान करना समाज-वैज्ञानिकों का दायित्व है।

सोमनाथ त्रिपाठी

अध्यक्ष

सामाजिक विज्ञान विभाग

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

सम्पादकीय

समाज-विज्ञान मानव-समूह और मानव के कार्यों का अध्ययन है। मनुष्य के सामाजिक व्यवहार, सांस्कृतिक विकास और उसकी स्थिति के समस्त पक्ष इसके अध्ययन क्षेत्र हैं । प्रश्नों की व्यापकता एवं बहुलता के कारण इसे विविध विशिष्टीकरण के क्षेत्रों में विभाजित करने की एक लम्बी शास्त्रीय परम्परा प्राप्त है। जहाँ समाजशास्त्र मनुष्य और उसके समूह का पारस्परिक अध्ययन करता है, तो इतिहास विशिष्ट घटनाओं को वर्णित कर उनके कार्य-कारण सम्बन्धों की व्याख्या के द्वारा भविष्य के लिए विकास के मार्ग के विश्लेषण में सहायता करता है। वही अर्थशास्त्र जीविका सम्बन्धी मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के संसाधनों, उत्पादन, विवरण तथा उससे सम्बन्धित प्रक्रिया का विवेचन एवं अनुसन्धान करता है। राजनीतिशास्त्र मानव एवं समाज के नियन्त्रण के विभिन्न रूपों एवं विधियों की व्याख्या तथा सत्ता के विभाजन तथा उपयोग का शास्त्र है ।

समाज-विज्ञान अपने व्यापक दायरे में मनुष्य के ज्ञानात्मक, भावनात्मक एवं एषणात्मक पक्षों के विवेचन का उपाय हैं, किन्तु कठिनाई यह है कि पश्चिम में **अरस्तू** के बाद ज्ञान के समग्र विकास के स्थान पर विशेष क्षेत्र के विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता का अनुभव करते हुए इसे विविध क्षेत्रों में विभाजित कर विशिष्टीकरणयुक्त शास्त्र-रचना की एक प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, जो औद्योगिक क्रान्ति के बाद और तेज होती दिखाई देती है, जिसके फलस्वरूप मानव तथा उसके समूह जीवन को सम्पूर्णता में समझने के स्थान पर खण्ड-दृष्टि प्रभावी होने लगी और अध्ययन के एक आयाम का दूसरे आयाम से पार्थक्य दिखाई देने लगा; किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के काल में जब मनुष्य का ज्ञानात्मक विकास मानव कल्याण की अपेक्षा मानवता के संहारक उपकरणों के रूप में परिलक्षित हुआ, तो पुन: मानव कल्याण के लिए बाध्यकारी ज्ञान-विज्ञान के विकास के लिये विविध शास्त्रों में परस्पर निर्भरता के खोज की प्रवृत्ति का विकास हुआ और इसी के साथ दुनिया में अन्तर्विषयी अध्ययन की प्रवृत्ति का भी विकास

हुआ। इस दिशा में किये जा रहे प्रयासों का उद्देश्य एक ऐसी पद्धति का विकास करना है, जो सहकारी एवं सहचारी विज्ञानों में समान रूप से प्रयुक्त हो सके और मनुष्य केन्द्रित ज्ञान के विकास में सहायक हो ।

यह दृष्टि भारत में समाज-विज्ञानों के परम्परागत अध्ययनाध्यापन पद्धति में प्राय: उपेक्षित है; अत: **सामाजिक विज्ञान विभाग** द्वारा **''समाज विज्ञान : अन्तर्विषयी अध्ययन की दृष्टि एवं प्रवृत्ति''** विषय पर आयोजित **पुनश्चर्या-पाठ्यक्रम** के माध्यम से इस प्राय: उपेक्षित क्षेत्र में भी विद्वानों के द्वारा चर्चा प्रवर्तित हो, यही इस आयोजन का मूल उद्देश्य रहा है।

इस पाठ्यक्रम में इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए परम्परागत एवं आधुनिक विचार विश्लेषण तथा शोध पद्धतियों के साथ ही अखण्डतावादी भारतीय समाज-विज्ञान की पद्धति का भी विवेचन किया जाना अपेक्षित समझा गया।

इस दिशा में सार्थक एवं परिणामकारी चर्चा हो सके, इसलिए पाठ्यक्रम का सामान्य विभाजन निम्न प्रकार से किया गया था—

१. समाज-विज्ञान : अध्ययन, परिदृश्य एवं सीमाएँ
२. समाज-विज्ञान की अध्ययन विधि – (क) सैद्धान्तिक
   – (ख) प्रायोगिक
३. सामाजिक विज्ञानों में ज्ञान का स्वरूप – (क) विकासक्रम
   – (ख) तन्त्रयुक्ति
४. समाज-विज्ञान का इतिहास-विकास – (क) भारतीय दृष्टि
   – (ख) पाश्चात्त्य दृष्टि
५. समाज-विज्ञान में अन्तर्विषयी अध्ययन की आवश्यकता – (क) ऐतिहासिक दृष्टिकोण
   – (ख) सैद्धान्तिक दृष्टिकोण
६. मानव समाज (व्यक्ति, परिवार, राज्य, राष्ट्र और विश्व की अवधारणा)
७. समाज-विज्ञान की पारस्परिक निर्भरता
८. समाज-विज्ञान : अन्तर्विषयी अध्ययन की पद्धतियाँ – (क) परम्परागत पद्धति
   – (ख) आधुनिक पद्धति

९. मानव समाज की अस्तित्वात्मक आवश्यकताएँ
(अर्थ, परम्पराबोध, नैतिक व्यवस्था)

१०. समाज-विज्ञान की सैद्धान्तिक अवधारणाओं का पद्धतिगत विमर्श
(सभ्यता, संस्कृति और राजनीतिक व्यवस्था के आलोक में)

११. २१ वीं सदी में सामाजिक विज्ञानों का दिशा सन्दर्भ (उपादेयता)

दिनाँक ७.१.९९ से ३०.१.९९ तक आयोजित ***'समाज विज्ञान : अन्तर्विषयी अध्ययन की दृष्टि एवं प्रवृत्ति विषयक पुनश्चर्या-पाठ्यक्रम'*** *में* ३८ प्रतिभागी अध्यापकों (देखें-परिशिष्ट) ने सहभागिता की। स्थानीय एवं देश के विभिन्न भागों से पधारे भारत सरकार के पूर्व प्रधानमन्त्री माननीय श्री चन्द्रशेखर जी, प्रो० योगेन्द्र यादव एवं डॉ० प्रीतीश आचार्य (दिल्ली), प्रो. विलास बाघ (पूना), श्री संजय म.गो. (ठाणे), प्रो. विजय बहादुर राव, प्रो. रामकृष्ण मणि त्रिपाठी, प्रो. दयानाथ त्रिपाठी एवं प्रो. सी. बी. सिंह (सभी गोरखपुर), प्रो. ओम प्रकाश (इलाहाबाद), प्रो. कृष्णनाथ, प्रो. वंशीधर त्रिपाठी, प्रो. गौरीशंकर, प्रो. शैलेन्द्र पांथरी, प्रो. ईश्वरदत्त सिंह, प्रो. रमाशङ्कर शुक्ल, प्रो. परमानन्द सिंह, प्रो. महेश विक्रम, प्रो. रमेश नन्दन द्विवेदी, डॉ. अर्जुन तिवारी एवं डॉ. आनन्द मिश्र (सभी म.गा. काशी-विद्यापीठ), प्रो. रेवती रमण पाण्डेय, प्रो. ए. एल. श्रीवास्तव, प्रो. पी. एन. पाण्डेय, प्रो. चन्द्रकला पाड़िया, प्रो. वाई. पी. दूबे, डॉ. मारुति नन्दन तिवारी एवं डॉ. इन्दु मोहन अग्रवाल (सभी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), गाँधीवादी विचारक श्री रामचन्द्र राही एवं डॉ. दिवाकर मिश्र (गाँधी विद्या संस्थान, वाराणसी), पं. वायुनन्दन पाण्डेय, डॉ. राजीव रंजन सिंह, प्रो. सुभाष चन्द्र तिवारी, डॉ. सोमनाथ त्रिपाठी एवं डॉ. रजनीश कुमार शुक्ल (सभी सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय) आदि विद्वानों ने समाज-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में अङ्ग-अङ्गी भाव के साथ चिन्तन, इनके बीच पद्धतिगत सभ्यता की तलाश एवं अन्त:शास्त्र अध्ययन के लिए संवाद-पद्धति की आवश्यकता आदि का मूल्यांकन एवं पुनर्बोधन किया। पुनश्चर्या-पाठ्यक्रम का उद्घाटन पूर्वांचल विश्वविद्यालय के पूर्व-कुलपति **प्रो. शरद कुमार सिंह** एवं समापन महर्षि महेश योगी वैदिक विश्वविद्यालय के कुलपति **प्रो. आद्या प्रसाद मिश्र** ने किया। उद्घाटन सत्र की अध्यक्षता वि. वि. के कुलपति **डॉ. मण्डन मिश्र** एवं समापन-सत्र की अध्यक्षता वि. वि. के प्रकाशन-निदेशक **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी** ने की । इन मनीषी विद्वानों का न केवल उक्त कार्यक्रम को पूर्ण आशीर्वाद प्राप्त रहा, अपितु आप सभी की प्रेरणा एवं पूर्व कुलपति जी की स्वीकृति का प्रतिफल है कि यह पुनश्चर्या-संवाद समाज-विज्ञान के अध्येताओं

के समक्ष प्रस्तुत हो सका है । मैं विश्वविद्यालय के उक्त मनीषी विद्वानों एवं अधिकारियों के प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ ।

विश्वविद्यालय के दर्शनशिरोमणि कुलपति **प्रो. राममूर्ति शर्मा,** जिनकी स्नेहिल प्रेरणा से इस **पुनश्चर्या-संवाद** का प्रकाशन होने जा रहा है, को प्रणाम करते हुए इस परिसंवाद में अपनी प्रस्तावना से भास्वरता प्रदान करने वाले कुलपति महोदय को हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ ।

इस परिसंवाद के आद्योपान्त परिष्कारक एवं पुनश्चर्या-पाठ्यक्रम के सह-निदेशक **डॉ. रजनीश कुमार शुक्ल एवं डॉ. आनन्द मिश्र** के सुझावों एवं उनके द्वारा प्रदत्त नवोन्मेषों से इस परिसंवाद में जो नवनवोन्मेष आया है, उसके लिए इन दोनों विद्वानों का हृदय से आभार मानता हूँ और इनके उत्तरोत्तर उत्कर्ष की कामना करता हूँ।

इसी क्रम में मैं प्रकाशन संस्थान के दक्ष ईक्ष्यशोधक **डॉ. हरिवंश कुमार पाण्डेय** एवं सहायक सम्पादक **डॉ. ददन उपाध्याय**, ईक्ष्यशोधक **श्री अशोक कुमार शुक्ल**, **श्री अतुल कुमार भाटिया**, प्रकाशन-सहायक **श्री कन्हई सिंह कुशवाहा** के पदे-पदे सहयोग का स्मरण करते हुए उनके समर्पित भाव का आभार मानते हुए सभी के उत्कर्ष की कामना करता हूँ। मैं यहाँ अपने कनिष्ठ पुत्र चिरञ्जीव **विमल कुमार त्रिपाठी** के औपचारिक/अनौपचारिक सारस्वत सहयोग को स्मरण करके पुलकित तो हो ही रहा हूँ, साथ ही साथ इस 'पुनश्चर्या-संवाद' के सम्पादन में नित्य सहयोगिनी धर्मपत्नी **श्रीमती निर्मला त्रिपाठी** को भी शुभाशीर्वाद एवं धन्यवाद प्रदान करता हूँ ।

यहाँ मैं अपूर्व धैर्यशाली इस ग्रन्थ के आकर्षक मुद्रक 'राजेश कम्प्यूटर्स' के संचालक **श्री राजेश चन्द्र श्रीवास्तव** को स्नेहाशीर्वाद देने से अपने को रोक नहीं पा रहा हूँ; क्योंकि इस परिसंवाद के मुद्रण में वे पुङ्खानुपुङ्ख-भाव से हमारे साथ जुड़े रहे हैं।

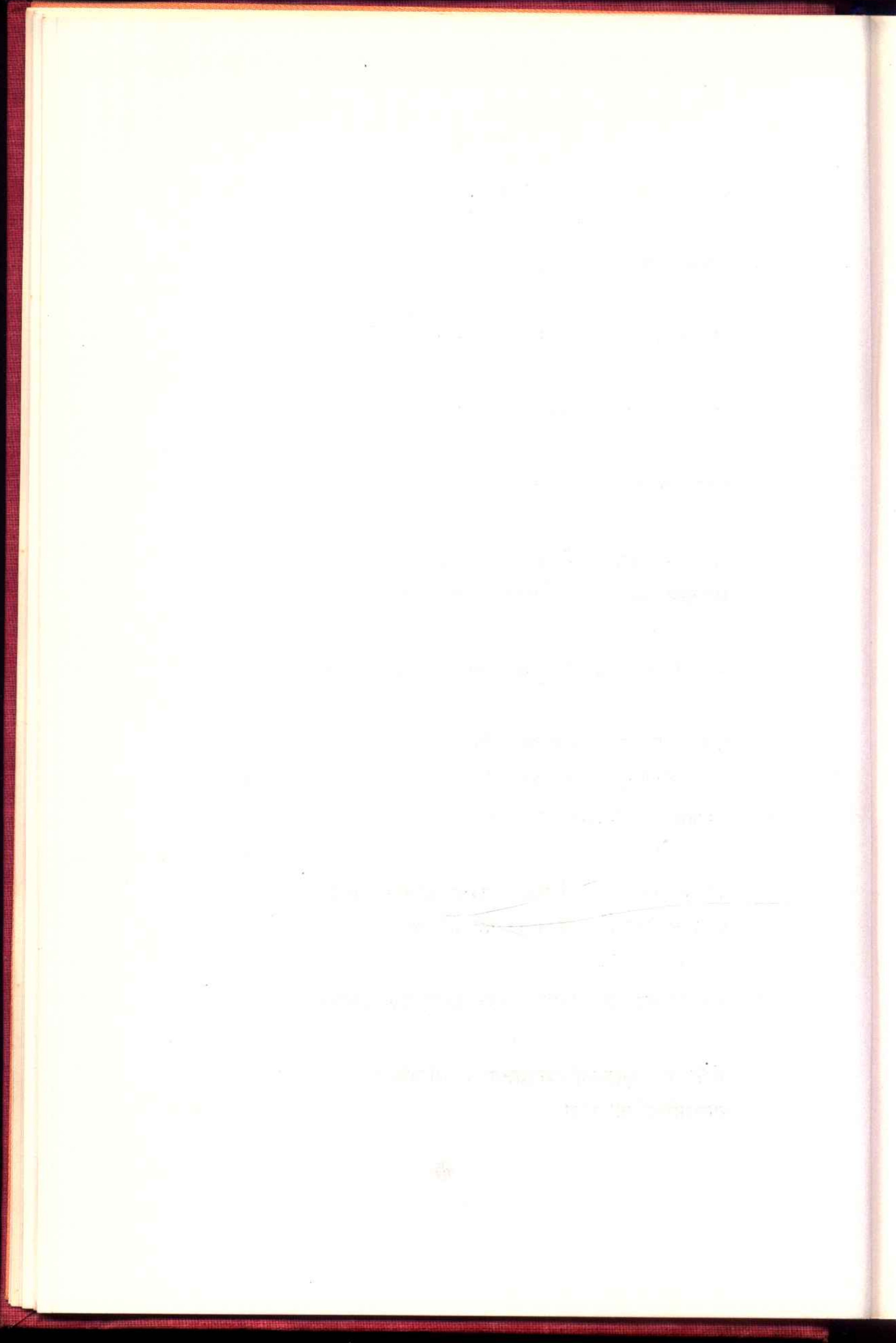
वाराणसी
विजयादशमी,
वि. सं. २०५८

सोमनाथ त्रिपाठी
अध्यक्ष
सामाजिक विज्ञान विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय



विषयसूची





समाज विज्ञानों में अन्तःशास्त्र सम्बन्ध

प्रो० कृष्णनाथ*

समाजविज्ञानों में इन दिनों अन्त:शास्त्रीय अध्ययन पर बल दिया जा रहा है। यह अन्त:शास्त्रीय अध्ययन क्या है ? इसकी आवश्यकता क्या है ?

अन्त:शास्त्रीय पद्धति का आशय समाज विज्ञान के विभिन्न शास्त्रों के बीच संवाद है। 'डायलाग' है विभिन्न शास्त्रों और अनुशासनों के बीच । मात्र समाज विज्ञानों में ही नहीं भौतिक विज्ञानों में और इन दोनों के बीच एक संवाद की जरूरत महसूस की जा रही है। अन्त:शास्त्रीय पद्धति मान ली गयी है। इसका अधिकाधिक प्रयोग होने लगा है। यह अब छोड़ी नहीं जाने वाली है। अब इसको अनदेखा नहीं किया जा सकता है।

इसकी जरूरत इसलिए है कि ज्ञान चाहे प्राकृतिक, चाहे सामाजिक जिस किस्म का हो, सत्य का साक्षात्कार है। सत्य का साक्षात्कार भारी-भरकम लगता है। ब्रह्म सरीखा हो जाता है। इसलिए सीधे-सीधे कहें तो जो सत् है, जो है, उसकी पहचान कराता है; जो नहीं है, उससे इसे अलग करता है। सत्-असत् का विवेक करता है। अनदेखे में देखने की आँख देता है। यह सत् तो जो है, सो है। यह कोटियों में बँटा हुआ नहीं है। कोटियाँ नहीं हैं, फिर भी वह है । ज्ञान के विभिन्न प्रकार और पद्धति इस सच्चाई को जानने की, सीधे-सीधे जतलाने की कोशिश करते हैं। इसलिए ये पद्धतियाँ एक-दूसरे की विरोधक नहीं हैं, पूरक हैं । विभिन्न स्रोतों से और तरीकों से जो ज्ञान छन कर आता है, वह एक-दूसरे का संशोधन करता है; क्योंकि अगर कोई चीज है तो वह एक विज्ञान के लिए एक तरह की,

---

* अवकाशप्राप्त प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा डा० लोहिया पुरस्कार से सम्मानित ।

दूसरे के लिए दूसरे किस्म की, तीसरे के लिए तीसरे चाल की नहीं हो सकती । इसलिए विभिन्न शास्त्रों से जो सच्चाई की परख होती है, वह एक-दूसरे की भी परख करती है। इन साक्ष्यों की एक-दूसरे से परीक्षा हो जाती है। इसके अलावा विभिन्न दृष्टियों से जो खण्ड-खण्ड ज्ञान मिलता है, उसमें इस अन्योन्याश्रय के जरिए समग्रता आ जाती है। वह पूरित होता है।

पश्चिम में आधुनिक काल में, विशेषकर १९ वीं शताब्दी में विशेषीकरण पर विशेष बल दिया गया । भौतिक विज्ञान और सामाजिक विज्ञान पहले दो कोटियों में बाँटे गये । फिर भौतिक विज्ञानों के बीच अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं में विशेषीकरण बढ़ा । भौतिकी, रसायनशास्त्र, जीव-विज्ञान, भू-विज्ञान, खगोल-विज्ञान आदि एक-दूसरे से अलग-थलग स्वतंत्र रूप में विकसित होने लगे । कभी-कभी इनमें एक क्रम ढूँढने की भी कोशिश होती है। कहते हैं, पहले ब्रह्माण्डीय अध्ययन पर जोर था । मनुष्य और उसके पर्यावरण और उनके पार के रहस्य विज्ञान की खोज के विषय थे । फिर पदार्थ-विज्ञान का जोर हुआ । अब जीव-विज्ञान का विशेष महत्त्व है । इस तरह ब्रह्माण्ड से मनुष्य तक की खोज एक सिलसिले से प्राकृतिक विज्ञानों में हो रही है । ऐसा दावा भी किया जाता है। असल में तो कोई सिलसिला नहीं है और खोज चल रही है। इधर तो सबसे ज्यादा खोज अंतरिक्ष की है। लगता है कि ब्रह्माण्ड से मनुष्य की देह तक का एक दौर चला । अब मनुष्य की देह से ब्रह्माण्ड तक का दूसरा दौर चल निकला है । यह एक अति सरल कारण है । प्राकृतिक विज्ञानों के विकास को समझ में आने लायक बना कर कहने की एक चाल है । प्राकृतिक विज्ञानों में जो कुछ हो रहा है, वह इससे कहीं ज्यादा पेचीदा है ।

इसका अन्दाज सामाजिक-सांस्कृतिक विज्ञानों में काम करने वालों को होना अच्छा है । इसी गरज से थोड़ा उधर भी झाँक लिया गया है । सामाजिक विज्ञानों का पदार्थ विज्ञानों से सम्बन्ध है । इनके बीच संवाद की जरूरत है । एक-दूसरे के संशोधन से दोनों परिपूरित होने वाले हैं । अपरिचय से आधे-अधूरे हैं। यह सब सही है; लेकिन यह एक अलग अध्ययन का विषय है । बातचीत कुछ सार्थक हो, इसके लिए इसे फिलहाल सामाजिक विज्ञानों के बीच अन्त:सम्बन्धों के इर्द-गिर्द चलाना अच्छा है।

१९वीं सदी में योरप में सामाजिक विज्ञानों में विशेषीकरण का दौर पुष्ट हुआ। उदाहरण के लिए, १८ वीं शताब्दी में अर्थशास्त्र एक अलग विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित नहीं था । **एडम स्मिथ** जो पाश्चात्य अर्थशास्त्र के पिता माने जाते हैं, वे अर्थशास्त्र के अध्येता या अध्यापक नहीं थे । शुरू में वे एडिनवर्ग और ग्लास्गो में विभिन्न प्रकार के विषयों पर व्याख्यान देते थे । उनके लेक्चर के नोट के आधार पर बाद में प्रकाशन **लेक्चर्स ऑन जस्टिस, पुलिस एंड आर्म्स** शीर्षक से हुआ है। उनके साहित्य पर लेक्चर भी उन दिनों लोकप्रिय हुए थे । **वेल्थ आफ नेशन्स** के पहले उनकी एक महत्त्वपूर्ण रचना **थ्योरी ऑफ मॉरल सेन्टीमेंट्स** (१७५९) है । इनसे आकृष्ट होकर वे एक युवा ड्यूक के शिक्षक नियुक्त किये गये । इस शिक्षण के सिलसिले में उन्होंने ड्यूक के साथ फ्रांस की यात्रा की । स्थितियों, लोगों से टकराए, सत्संग किया । फिर लौट कर १० वर्षों में अपनी पुस्तक **वेल्थ ऑफ नेशन्स** १७७६ ईस्वी में प्रकाशित की । इस किताब के बारे में कहा जाता है कि सारा प्राचीन योरोपीय अर्थशास्त्र इसमें लय होता है और सारा नवीन योरोपीय अर्थशास्त्र इससे निकलता है। इस पुस्तक का अभिनन्दन करते हुए इसके १५० वर्ष बाद एक पुस्तक छापी गयी । १९७६ में इसकी २००वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में इंडियन इकनामिक ऐशोसिएशन ने एडम स्मिथ को चर्चा का एक विषय बनाया; लेकिन एडम स्मिथ तर्कशास्त्र और नैतिक दर्शन के प्रोफेसर थे, अर्थशास्त्र के नहीं। तब तक 'इकॉनॉमिक्स' शब्द भी चलन में नहीं था । उन दिनों इसके लिए कभी 'पॉलिटिकल एरिथमेटिक', प्राय: 'पोलिटिकल इकॉनॉमी' शब्द प्रचलित था। यह स्थिति १९वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध तक बनी रही । 'इकनॉमिक्स' शब्द के ही चलन की शुरुआत **एल्फ्रेड मार्शल** के १८९० में प्रकाशित **प्रिंसिपुल्स ऑफ इकनॉमिक्स** से होती है । वैसे अगर इस शब्द का कोई अप्रचलित प्रयोग इसके पहले का है, तो भी इसे चलाने का श्रेय मार्शल के **प्रिंसिपुल्स** को ही है । यह वर्षों तक इग्लैंड और योरप में अर्थशास्त्र की एक मान्य पाठ्यपुस्तक रही और इसने अर्थशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित किया । फिर तो धीरे-धीरे अर्थशास्त्र के अनेक विशेषीकरण होने लगे । अब कोई पूरे अर्थशास्त्र का जानकार मुश्किल से होता है । इसके किसी एक अंग का कोई विशेषज्ञ हो जाय, तो वही बहुत है। इस वर्ष अर्थशास्त्र का नोबुल पुरस्कार **प्रोफेसर अमर्त्य सेन** को मिला है । इनका

मूल काम कल्याण अर्थशास्त्र के क्षेत्र में है, किन्तु गरीबी, अकाल और विकास के क्षेत्र में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान है । शिक्षा और स्वास्थ्य को मानवीय पूँजी के निवेश मानने पर इनका बल रहा है, साथ ही स्वतंत्रता और जनतंत्र को आर्थिक विकास में साधक मानते हैं । इस प्रकार उनका दृष्टिकोण भी बहुत करके अन्त:शास्त्रीय है । आर्थिक नीतियों के मामले में ये उदारवादी माने जाते हैं । जो भी हो, एक अर्थशास्त्र में ही अनेक विशेषीकरण हो गये हैं । सिद्धान्त, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, जनसंख्या का अर्थशास्त्र, लोकवित्त, अर्थमिति, विकास का अर्थशास्त्र इत्यादि । इनमें भी इन दिनों अर्थशास्त्र में गणित के अधिकाधिक प्रयोग और इसकी प्रतिक्रिया दोनों चल रहे हैं । इधर विकास के अर्थशास्त्र पर भी विशेष रूप से बल दिया जा रहा है।

विशेषीकरण से एक निश्चित, नपे-तुले दायरे में गहराई से खोज करना, परत पर परत उघाड़ते चलना, स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर होते जाना संभव होता है। इसलिए विशेषीकरण का एक माना हुआ रोल है। विशेषीकरण की अति से कई एक खतरे भी आ जाते हैं। पेड़ को पहचानने में जंगल खो जाता है। सच्चाई इतनी साफ-सुथरी नहीं होती । बहुत पेचीदी होती है। इन पेचीदगियों को पहचानना भी जरूरी है। जंगल में भटकना, ढूँढना और पाना भी खोज का एक अंग है। असल में तो अति सब दूर बरजने जैसी है। यह अति जब विशेषीकरण की हो गयी, तो २०वीं शताब्दी के दूसरे हिस्से से, १९५०-६० की दहाई से इस अति को दूर करने की जरूरत महसूस होने लगी । अन्त:शास्त्रीय अध्ययन इसी जरूरत को पूरा करने के लिए सुझाया जाने लगा । इस सुझाव को प्राय: सद्य: सफलता मिली । १९७० की दहाई में यह पद्धति मान्य हो गयी है। इसके प्रयोग भी लगभग सारी दुनिया में चल रहे हैं । पश्चिमी देशों में इनका विशेष जोर है। इन पर ज्यादा पैसा और ध्यान लगाने की उनकी हैसियत है। इसलिए अमेरिका में इस प्रकार का एक केन्द्र ही बन गया है । कैलिफोर्निया में स्थित यह केन्द्र है : **फोई फाउंडेशन सेन्टर फॉर स्टडी ऑव बिहेवियरल सायंसेज** । इस केन्द्र में प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों के सृजनशील लोग बिना किसी निश्चित दिनचर्या, पाठ्यक्रम, प्रयोजन के एक साथ जुटा दिये जाते हैं । यह अपनी रुचि के जिस भी क्षेत्र में चाहें, जैसे चाहें, जब चाहें तो काम करते हैं या नहीं करते । उनके लिए पुस्तकालय, भवन, स्वीमिंग

पूल वगैरह चौबीस घण्टे खुले रहते हैं। वे गप-शप करते हुए भी अपना काम करते रहते हैं। खोज करते रहते हैं। जो नहीं करते वे छूट जाते हैं।

यह कोई आधुनिक काल की अमेरिकी खासियत नहीं है। प्राचीन काल में भारत में यह मानते थे कि बिना अनेक शास्त्रों के ज्ञान के एक शास्त्र का भी ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए यहाँ विद्या चार मानी गयी- आन्वीक्षिकी, त्रयी, दण्डनीति और वार्ता। आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत दर्शन, न्याय का अध्ययन किया जाता था। त्रयी के अन्तर्गत ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद की त्रयी का अध्ययन होता था। दण्डनीति के अन्तर्गत आजकल का राजशास्त्र, विधिशास्त्र, प्रशासन निहित था। वार्ता का विषय कृषि, गो-रक्षा, कुसीद, वाणिज्य व्यवसाय आता था। आज-कल जो अर्थशास्त्र का विषय है, उसके आस-पास का विषय वार्ता का था। प्राचीनकाल में अर्थशास्त्र आज से कहीं ज्यादा व्यापक अर्थ रखता था। उदाहरण के लिए, कौटिल्य का अर्थशास्त्र आधुनिक अर्थविज्ञान तक सीमित नहीं है। इसके प्रारंभ में कौटिल्य लिखते हैं कि भूमि को प्राप्त करने और उसके पालन करने के जो उपाय प्राचीन आचार्यों ने बताये हैं। उसके अनुसार मैं यानी कौटिल्य नृप के अर्थ के लिए इस अर्थशास्त्र का प्रणयन करता हूँ। अर्थ की परिभाषा करते हुए वे लिखते हैं कि मनुष्यों से युक्त भूमि अर्थ है। इसलिए अर्थशास्त्र का विषय मनुष्य और उसके वर्ण-आश्रम, राजधर्म, व्यवहार, विवाद, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य आदि हैं। कौटिल्य का अर्थशास्त्र आज के अर्थविज्ञान की सीमाओं में नहीं समाता। वह इसके पार जाता है। वह सच्चाई का ज्यादा सीधा साक्षात्कार करता है।

विद्याओं के साथ-साथ कलाओं का भी शिक्षण होता था। विद्या और कला में एक भेद भी किया गया है। जो कुछ शब्द से जाना जाता है, वह विद्या का विषय है, जो अशब्द है वह कला का विषय है; लेकिन प्राय: विद्या और कला का यह भेद नहीं चलता। ६४ कलाएँ या विद्याएँ एक व्यक्ति की शिक्षा का अंग थीं। इसमें आयुर्वेद, ज्योतिष, पाक-कला जैसी व्यावहारिक कलाएँ भी थीं। मनुष्य के समग्र शिक्षण की यह एक योजना थी। अब यह लुप्त हो गयी है। १९वीं शताब्दी में योरप में जो विशेषीकरण आया। उसके आधार पर भारत में भी शिक्षा की योजना हुई। भारतीय विश्वविद्यालयों में कैम्ब्रिज और ऑक्सफोर्ड के

आधार पर पाठ्यक्रम बने । चले वह भी असली मोती की तरह नहीं, नकली मोती की तरह पाले-पोसे गये । उनमें वह अब कभी नहीं रही । इधर इन पाठ्यक्रमों पर हार्वर्ड और मस्कवा का असर पड़ रहा है । इसके चलते पहले तो खण्ड-खण्ड बाँटकर विशेषीकरण पर जोर दिया जाता है और फिर इधर उन्हें जोड़-जोड़ कर अन्त:शास्त्रीय अन्त:सम्बन्धों में पिरोने की कोशिश होती है; लेकिन अभी हाल-हाल तक जहाँ प्राचीन विद्या की अटूट परम्परा रही है, जैसे तिब्बत में, वहाँ शिक्षा ऐसी खण्डित नहीं है । वहाँ परम्परागत बौद्ध पंच महाविद्या की शिक्षा दी जाती है । पंच महाविद्या हैं : (१) शब्द-विद्या, (२) हेतु-विद्या, (३) शिल्प-विद्या, (४) चिकित्सा-विद्या और (५) अध्यात्म-विद्या । इनके साथ पाँच लघु विद्याएँ जुड़ी हुई हैं । इनमें प्रथम चार तो सामान्य हैं, पाँचवीं अध्यात्म विद्या बौद्धों की विशेष है । इनका अध्ययन सिर्फ सूत्रों से नहीं, साधना से भी कराया जाता है। तिब्बत में बौद्ध साधना और तन्त्र का जो अपूर्व विकास हुआ है, उसका एक कारण या परिणाम या लक्षण लामाओं की यह शिक्षा योजना है । यह योजना भी धीरे-धीरे नाश के क्रम में है । तिब्बत में चीन के आ जाने से उनकी पुरानी दुनिया नष्ट हो गयी । भारत में उन्हें एक नयी दुनिया मिली । इस दुनिया में तिब्बत की इस विद्या के प्रवाहपतित होने का बड़ा खतरा है । केन्द्रीय तिब्बती संस्थान, सारनाथ अपनी परम्परागत पंच महाविद्या को कायम रखने की चेष्टा कर रहा है; किन्तु प्रवाह विपरीत है । जो भी हो, भारत की प्राचीन विद्या की परम्परा अन्त:शास्त्रीय सम्बन्धों वाली है ।

प्राचीन परम्परा का नवीन से समन्वय जरूरी है; क्योंकि अतीत तो आज है नहीं ; आगत, अनागत की ही चिन्ता की जा सकती है । समाजविज्ञानों में अन्त:शास्त्रीय सम्बन्ध भी जिस रूप में आज है या भविष्य में हो सकता है, वही हमारे वश में है । अतीत वर्तमान में विद्यमान हो तो ही भविष्य का निर्माण करता है, अन्यथा नहीं । समन्वय का आधार शक्ति है । आज शास्त्र-शिल्प में पाश्चात्त्य दृष्टि प्रबल है । उसके समन्वय का अर्थ उसमें लय हो जाना है, अपनी स्वतन्त्रता और अस्मिता को खोना है और वह पाश्चात्त्य आधुनिक दृष्टि स्वयं लज्जित है और समग्रता की तलाश में है, प्राय: अंधी गली में पहुँच गयी है ।

अन्त:शास्त्रीय पद्धति का दार्शनिक आधार प्राचीन जैनदर्शन में मिलता है। अनेकान्तवाद इसका एक पुष्ट आधार बन सकता है । वह मानते हैं कि वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं : 'अनन्तधर्मकं वस्तु' । केवली इन अनन्त धर्मों को देख सकता है। केवल वही सर्वज्ञ होता है । साधारण मनुष्य इन अनन्त धर्मों में से कुछ एक को ही देख सकता है, अज्ञ होता है । समाजवैज्ञानिक सर्वज्ञ नहीं है । इसलिए वह किसी भी वस्तु के अनन्त धर्मों में से कुछ को ही देख सकता है । इसलिए वह दूसरे की मदद से उसी वस्तु के अन्य धर्मों के बारे में जान सकता है । इस जानकारी से वह अपनी अज्ञता को जहाँ तक बन पड़ता है, पूरता है । द्रष्टा की स्थिति मात्र से जो दृश्य में भेद आता है, जो सापेक्षिक ज्ञान होता है, उससे निरपेक्ष ज्ञान तक पहुँचने के लिए उसे अनेक सापेक्षिकताओं का सहारा लेना पड़ता है । फिर भी वह अखंड अभेद, निरपेक्ष ज्ञान को प्राप्त कर सका है, यह दावा नहीं किया जा सकता और जो कुछ उसने देखा है, उसे भी वह ठीक-ठीक दूसरे को बता सका है, यह भी दावा कोई वैज्ञानिक नहीं कर सकता । उस चरम साक्षात् की भाषा मौन होती है । शब्दों में वह बँधती नहीं । इसलिए एक किस्म की अनिर्वचनीयता हर खोजने वाले की जैसे नियति है । फिर भी एक-दूसरे की साझेदारी से इस कमी को दूर करने की चेष्टा होती है । इसमें ज्ञान-विज्ञान आगे बढ़ता है ।

इसमें मूल बाधा यह है कि वस्तु के अनन्त धर्मों के योग का ज्ञान एक चीज है और उसके अनन्त धर्मों के ज्ञान का योग अन्य । अखण्ड, निरंतर को खण्डित कर उसका खण्ड-खण्ड ज्ञान प्राप्त कर, फिर उस ज्ञान को जोड़कर समग्र ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता; किन्तु उस अखण्ड, निरंतर सत्य का साक्षात्कार कैसे हो? यह सर्व सर्वत्र सर्वदा का प्रश्न है ।

अन्त:शास्त्रीय सम्बन्ध का यह मतलब नहीं है कि समाजवैज्ञानिक सभी शास्त्रों के बारे में सर्वज्ञ हो जाय । यह तो संभव नहीं । प्रत्येक शास्त्र की अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं में इतना ज्यादा काम संसार में हो रहा है, इतना साहित्य छप रहा है, रिपोर्ट, शोध-निबन्ध, किताबें, परिसंवाद आ रहे हैं कि किसी एक शास्त्र की एक शाखा के बारे में भी ताजा जानकारी इकट्ठा करना कठिन है। ऐसी स्थिति में समाजविज्ञान के सभी क्षेत्रों में क्या काम हो रहा है और उनका अन्त:सम्बन्ध क्या है, इसकी जानकारी किसी एक व्यक्ति के लिए प्राय: असंभव है। अन्त:शास्त्रीय

पद्धति का यह प्रयोजन भी नहीं है । इस पद्धति का तो मतलब इतना ही है कि किसी एक प्रश्न पर काम करते हुए समाजवैज्ञानिक को इसका अन्दाज होना चाहिए कि इस प्रश्न पर उससे सम्बन्धित क्षेत्रों में क्या चल रहा है। उसके बारे में प्रामाणिक जानकारी कहाँ-कहाँ से मिल सकती है ? और इन सबका अपने काम के लिए वह क्या प्रयोग कर सकता है। इतना अंदाज अगर उसे है तो वह उस विषय के अधिकारी से यह सहज ही पूछ सकता है कि इस बारे में उनके यहाँ क्या स्थिति है? इससे उसकी खुद की खोज का या तो खंडन हो सकता है या मण्डन या उसमें गहराई आ सकती है। इस तरह वह सचाई को ज्यादा गहराई में जाकर पकड़ सकता है और दूसरे तक पहुँचा सकता है । यह उसका अब सिर्फ निज का ही अनुभव नहीं रह जाता है । यह एक साझे का अनुभव बन जाता है । इस साझेदारी से समझदारी भी बढ़ती है और भागीदारी भी; किन्तु अन्त में वह अपनी समझदारी या नासमझी के लिए खुद जिम्मेदार होता है। इसलिए जब खोज करके वह इसका ब्यौरा छपाता है और प्रारम्भ में ही जिन-जिन से विचार-विमर्श उसने किया है, जिनसे वह परिपूरित हुआ है, उन सबका वह आभार मानता है। यह मात्र शिष्टाचार नहीं; लेकिन फिर वह तुरन्त जोड़ता है कि मैं इस व्याख्या के लिए और इसकी भूलों के लिए खुद जिम्मेदार हूँ, कोई अन्य नहीं । यह उसका अहंकार नहीं ।

अन्त:शास्त्रीय सम्बन्धों की यात्रा निर्विघ्न नहीं है । संस्कृत में एक कहावत है कि कोई भी श्रेय का काम बिना बहुत से विघ्नों के नहीं पूरा होता । तो यह अन्तर्विद्या ही कैसे बिना विघ्न सिद्ध होगी ।

शास्त्रों का अहंकार पहला विघ्न है । कालक्रम में शास्त्रों के अपने साम्राज्य बन जाते हैं। इनकी सीमा के अन्दर शास्त्र विकसित होते हैं या नहीं होते । फिर भी उन्हें अपनी सीमा के बाहर जाने की बहुत छूट नहीं होती । यह रोक सिर्फ बाह्य नहीं होती। शास्त्रों की जितनी ज्यादा गहराई में जो उतरता जाता है, वह उतना ही ज्यादा उसके बंधन में फँसता जाता है। प्रामाण्य का एक दबदबा होता है । उसको एक शास्त्रीय व्यक्ति सहसा नहीं तोड़ सकता । अगर वह ऐसा करे तो शास्त्रवादी उसे जो दण्ड देंगे वह तो चाहे वह भुगत भी ले, हालाँकि हर किसी में यह साहस नहीं होता; लेकिन इससे भी ज्यादा उसके सामने एक आंतरिक अटक होती है। उसके सामने उसके शास्त्र का सारा विस्तार, सारा वैभव रहता है। उसे

प्राप्त करने में उसका वर्षों का अभ्यास लगा रहता है। आचार्यों के प्रति उसकी सारी श्रद्धा का निवेश रहता है। इन सबको छोड़कर वह एक अपरिचित भूमि में सहसा नहीं उतरना चाहता । उसे ऐसा करने में भय मालूम होता है। वर्जना मालूम होती है। यह वर्जना अन्त:, बाह्य दोनों ही होती है।

फिर, विशेषीकरण के जो माने हुए लाभ हैं, उन्हें भी इस अन्त:शास्त्रीय सम्बन्ध के चक्कर में खोने का खतरा रहता है। विशेषीकरण से अध्ययन में जो सहूलियत आती है, उससे इनकार नहीं किया जा सकता । इससे एक तो समय की बचत होती है, दूसरे कुशलता आती है, तीसरे आविष्कार की प्रेरणा होती है, चौथे खोज में गहराई आती है, पाँचवें ज्ञान का संशोधन-परिवर्धन चलता रहता है। एक निश्चित क्षेत्र के बारे में ज्यादा सटीक ढंग से कहा जा सकता है। अनिश्चित, अपरिचित जंगल में भटकते हुए खो जाने का भय रहता है। अन्त:शास्त्रीय पद्धति पर बल देने से विशेषीकरण के यह लाभ जरूर कुछ मद्धिम पड़ सकते हैं । हालाँकि अन्तर्विद्या सम्बन्ध का मतलब विशेषीकरण का निषेध नहीं है, परिपूरण है। जो सच्चाई अलग-अलग खानों में बाँटकर नहीं देखी जा सकती, जहाँ कोटियाँ नहीं हैं और सत्य है, जो प्रवाह है, स्पन्दन है, उसे साझेदारी से समझने से अन्तत: विशेषीकरण का भी लाभ होगा, हानि नहीं । विशेषीकरण से अगर सच्चाई पकड़ के बाहर निकल गयी, तो वह दूर से ही जैसे चिढ़ाती रहेगी, इशारे करती रहेगी, ललकारती रहेगी और ये विशेषज्ञ अपने-अपने सीमित साधनों से सच्चाई की उस ललकार को स्वीकार करने में असफल होते रहेंगे । इससे कहीं ज्यादा श्रेयष्कर तो यह है कि ये एक साथ अलग-अलग और मिलकर इस सच्चाई को समझने की और जतलाने की कोशिश करें ।

अन्त:शास्त्रीय खोज के रास्ते में तीसरी बाधा प्रशासनिक है । खोज के लिए समाज और सरकार जो धन, ध्यान लगाते हैं, वह विभिन्न विभागों के और विशेषीकरणों के बँधे हुए रास्तों से लगाना सहज होता है। जैसे शान्ति के लिए शोध करना हो, तो विश्वविद्यालय अनुदान आयोग या इंडियन कौंसिल आफ सोशल साइंस रिसर्च या भारत सरकार के सामने यह प्रश्न आएगा कि इस खोज के लिए पैसा किस विभाग को दें, क्योंकि इस खोज में समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, सामाजिक कार्य, संचार तथा अन्य विशेषीकरणों के लोग मिलजुल कर काम करते

हैं । विशेषज्ञों के अलावा अहिंसावादी और किसिम-किसिम के मानवतावादी भी शान्ति के लिए शोध के इन प्रयत्नों में शरीक होते हैं । इनके अलावा प्रबुद्ध वैज्ञानिक और तकनीकी विशेषज्ञ भी इस शोध में रुचि लेते हैं योग देते हैं । अब इनमें से किसको, किस विशेषीकरण को शान्ति के लिए शोध के लिए अनुदान दिया जाय ? या फिर अगर इस शोध का एक संस्थान बना दिया जाय तो धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति जोर पकड़ती है कि इसे भी अन्य की तरह एक शास्त्र मान लिया जाय । यह भी एक विशेषीकरण बन जाय । इसमें भी डिग्री दी जाय । इसकी भी मान्यता हो । इस तरह यह शोध जो विभिन्न शास्त्रों की सीमाओं को तोड़कर बना था, वह खुद एक शास्त्र बन जाता है और कालक्रम में उसमें वही सब रूढ़ियाँ आ जाती हैं, जो एक शास्त्र में होती हैं ।

यह सब विघ्न तो हैं; लेकिन अगर यह अन्त:शास्त्रीय सम्बन्ध श्रेयष्कर है, और इसके श्रेयष्कर होने में तनिक भी सन्देह नहीं, तो फिर इन विघ्नों को दूर करने की शक्ति और युक्ति भी निकाली जा सकती है।

अन्तत: यह भी ध्यान रहे कि आखिरी अर्थ में कोई शास्त्र, गुरु या विधि सत्य का साक्षात्कार नहीं करा सकती । न एक विधि, न अन्तर्विधि । शास्त्र, गुरु, विधि तो सिर्फ संकेत है; उपाय है । उस संकेत पर चलकर उसे पाना या खोना है । विधि नहीं है, और वह है ।



गुलामी का नया दौर और प्रतिकार विधि

श्री किशन पटनायक*

गुलामी में एक सुरक्षा है । अनुकरण और निर्भरता में एक सुरक्षा है– खासकर बौद्धिक निर्भरता में । इसलिए इसकी लत लग जाती है । जो लोग, व्यक्ति या समूह लम्बे समय तक गुलाम बने रहते हैं, उनके स्वभाव में कुछ परिवर्तन आ जाता है । ज्यादा समय तक गुलाम रहने वाले देशों और कम समय तक या न के बराबर गुलाम रहने वाले देशों के चरित्र में एक भिन्नता होती है । पहली किस्म के लोग अपने निर्णय से कठिन काम नहीं कर सकते । गुलाम व्यक्ति आदेश मिलने पर कठिन काम करता है, अनिच्छा से करता है, उसमें उसे रस नहीं मिलता । इस तरह कठिन काम के प्रति अनिच्छा उसका स्वभाव बन जाती है । बाद में जब वह आजाद होता है, तब भी वह कठिन काम, कठोर निर्णय से भागता है । कठिन काम करने में जो रस है, जो तृप्ति है, उसे समझ नहीं पाता । जो कठिन है वह सम्भव है; दीर्घकालीन हित के लिए कठिन कार्य प्रत्येक के लिए आवश्यक है—यह भाव उसके आचरण से गायब हो जाता है ।

भारत का लगभग प्रत्येक बुद्धिजीवी अपने जीवन में कई बार विभिन्न प्रसंगों में यह बात कहता पाया जाता है – 'बात तो सही है, लेकिन इस पर अमल कठिन है।' 'लेकिन' और 'कठिन' शब्दों का उच्चारण वह इस तरह करता है, मानों 'कठिन' 'असम्भव' का पर्यायवाची हो ।

मूल योजना मालिक बनाता है । कार्यान्वयन के स्तर पर भी बहुत सारे परिवर्तन और निर्णय करने का अधिकार ले लेता है । सामूहिक गुलामी की आदत से भी कुछ ऐसा ही स्वभाव पैदा होता है कि योजना की दिशा या मूल सिद्धान्त के बारे में वह सोचना नहीं चाहता, उसकी कोशिश भी नहीं करता ।

---

* संपादक–सामयिकवार्ता, सी- २८, गली नं. ८ ए. पश्चिम विनोद नगर, दिल्ली - ११००९२

महिलाओं पर यह बात लागू होते हुए बहुत साफ दिखाई देती है। जिन समाजों में लम्बे समय से महिलाओं को कानूनी आजादी मिली हुई है, वहाँ भी महिलाएँ मौलिक निर्णयों के स्तर पर दखल नहीं देतीं, दर्शन और मूल सिद्धान्त के क्षेत्र में उनकी ज्यादा दिलचस्पी नहीं होती, जबकि ब्योरों के क्षेत्र में वे माहिर हो जाती हैं।

इस तरह का स्वभाव पैदा होने के अन्य कारण भी हो सकते हैं; लेकिन लम्बे समय तक गुलाम रहने वालों में यह प्रवृत्ति अक्सर पाई जाती है। सारे गुलाम देशों का यह लक्षण है। अल्पकालीन गुलामी में सिर्फ राजनैतिक गुलामी होती है, जबकि दीर्घकालीन गुलामी में मानसिक गुलामी आ जाती है। इसलिए गुलामी के अभ्यस्त समूहों में गुलामी के प्रति आक्रोश शिथिल होता है। गुलामी के खिलाफ तीव्र प्रतिक्रिया नहीं होती। वे समझ नहीं पाते कि गुलामी एक घृणित बुराई है।

हमारे जितने राष्ट्रीय बुद्धिजीवी हैं, (जिस तरह कुछ अंग्रेजी अखबारों को राष्ट्रीय अखबार कहा जाता है, उसी तरह कुछ अंग्रेजी वाले बुद्धिजीवियों को राष्ट्रीय बुद्धिजीवी कहा जा सकता है) उनमें कुछ अपवादों को छोड़कर किसी ने यह नहीं माना है कि १७५७ के प्लासी-युद्ध में पराजय के कारण भारत बरबाद हो गया, उसकी अपूरणीय क्षति हुई। 'आजादी खोना बुरी बात तो है ही, लेकिन.....'। 'लेकिन' के लहजे में हमारा बुद्धिजीवी ऐसी बातें कहने लगेगा, मानो आजादी खोना कोई पछतावे की बात नहीं है,उसकी कीमत पर हमने इतना सारा फायदा हासिल किया है कि हमें तो अंग्रेजों के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने हमें दास बनाया।

भारत के कितने अंग्रेजी लिखने-बोलने वाले बुद्धिजीवी हैं, जो भारत के आधुनिकीकरण के लिए अंग्रेजी हुकूमत को श्रेय नहीं देते ? जो यह नहीं मानते कि अगर भारत पर ब्रिटिश हुकूमत नहीं होती तो भारत आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और अंग्रेजी भाषा का उतना फायदा नहीं उठा पाता, जितना वह आज उठा रहा है ? अपवाद के तौर पर ही ऐसे लोग मिलेंगे। १८५७ की असफल क्रान्ति के बारे में हमारे कुछ प्रसिद्ध इतिहासकारों ने लिख दिया है कि जो हुआ, वह अच्छा ही हुआ। अगर १८५७ की क्रान्ति सफल हो जाती, तो भारत अज्ञान के अन्धकार

और अन्धविश्वास के गर्त में डूबा रह जाता। ऐसा मानने वालों के मस्तिष्क के बारे में सोचना पड़ेगा। प्रश्न यह है कि कहीं उनके मस्तिष्क में कोई छेद तो नहीं हो गया है, अन्यथा सामने पड़े हुए तथ्यों को वे कैसे नजरअन्दाज कर देते हैं। उनके सामने यह तथ्य है कि जापान और चीन यूरोपीय हुकूमत के अधीन नहीं रहे। क्या चीन और जापान का आधुनिकीकरण भारत से कम हुआ है? हो सकता है कि भारत का बुद्धिजीवी जापान को अपने से कम आधुनिक समझता हो; क्योंकि पढ़ा-लिखा जापानी अभी भी फर्श पर बैठकर अतिथियों को चाय पिलाता है।

दिमाग में छेद वाली बात अनुसन्धान के लायक है (जीवविज्ञान के तहत नहीं, मनोविज्ञान के तहत), क्योंकि भारत का बुद्धिजीवी कई बार जिस तरह तर्क करता है, वह आश्चर्यजनक है। अच्छे-से-अच्छे आदमी भी इसका शिकार हो जाते हैं। ए.जी.नूरानी अंग्रेजी अखबारों के लेखकों में एक सौम्य व्यक्ति हैं। उनके लेख नपे-तुले, संयत और सज्जनतापूर्ण होते हैं। श्री नूरानी ने एक बार चीन यात्रा से लौटकर उसके संस्मरण लिखे। इन संस्मरणों में यह सूचना थी कि चीन के रेडियों पर अंग्रेजी की शिक्षा दी जा रही है और चीनी लोग बड़े आग्रह से रेडियो खोलकर अंग्रेजी की पढ़ाई कर रहे हैं। इसका हवाला देकर श्री नूरानी ने अपने देश की 'उस मूर्ख' जमात पर, जो अंग्रेजी हटाना चाहती है, तीखी टिप्पणी लिख डाली– 'हमारे अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन के नेताओं को इससे सबक लेना पड़ेगा।' यह सचमुच अजीब बात है। श्री नूरानी अच्छी तरह जानते हैं कि 'अंग्रेजी हटाओ' वाले भारत में अंग्रेजी को शिक्षा और राजकाज के माध्यम से हटाना चाहते हैं, उसे एक विदेशी भाषा का दरजा देना चाहते हैं। श्री नूरानी यह भी अच्छी तरह जानते हैं कि चीन कभी भी अंग्रेजी को अपने देश की शिक्षा और राज-काज का माध्यम नहीं बनाएगा। सिर्फ एक विदेशी भाषा के तौर पर वह चीन में लोकप्रिय हो रही है। तर्क की इस गलती का तर्कशास्त्र में एक खास नाम है— आंशिक सामंजस्यवाली वस्तुओं को एक समझने की गलती करना (फैलेसी)। उदाहरण के लिए राम का रंग गोरा है, रहीम का रंग गोरा है; अत: राम और रहीम दोनों का रूप एक जैसा है। तर्क की गलती तो दुनिया के आधे लोग करते रहते हैं, लेकिन श्री नूरानी वाले तर्क का सारे के सारे भारतीय बुद्धिजीवी इस्तेमाल करते हैं, इसलिए दिमाग में छेद वाली बात की पुष्टि होती है।

वैसे तो आज का सारा गैर यूरोपीय समूह सांस्कृतिक स्तर पर पश्चिम का अनुयायी है; लेकिन भारत उन देशों में है, जिसने लम्बी दासता के कारण राजनैतिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक स्तर पर हर प्रकार से परावलम्बी होकर अपनी सोच को सड़ाया है । चीन और भारत, जापान और भारत के बीच जो चारित्रिक फरक इस वक्त है, उसका एक बड़ा कारण शायद यह है कि चीन और जापान लम्बे समय तक पराधीन नहीं रहे । चीन में माओ के प्रति जितनी श्रद्धा थी, भारत में गाँधी जी के प्रति उतनी ही श्रद्धा थी; लेकिन चीन के बुद्धिजीवियों का बड़ा हिस्सा माओ की बात मानकर इसके लिए तैयार हो गया कि एक लम्बी मुद्दत तक वह आधुनिक उपभोक्तावाद से दूर रहेगा । निजी मोटरगाड़ी, पाँचसितारा जीवन-शैली आदि को बहिष्कृत कर चीन ने आर्थिक विकास की बुनियाद डाली । भारतीय बुद्धिजीवी समूह का कोई महत्त्वपूर्ण हिस्सा इसके लिए तैयार नहीं था । उसे लगा कि अगर निजी मोटरगाड़ी और अत्याधुनिक भोग की वस्तुएँ उपलब्ध नहीं होंगी, तो वह गँवार और अवैज्ञानिक समझ लिया जाएगा । सिर्फ तानाशाही का कारण बताकर चीनी दिमाग और भारतीय दिमाग के इस फरक को नहीं समझा जा सकता ।

इन दिनों भारत का औसत बुद्धिजीवी यह कहता हुआ सुनाई देता है, 'चीन ने उदारीकरण मान लिया । हम कैसे नहीं मानेंगे ।' यानी हम चीन से ज्यादा साहसिक और समझदार नहीं हो सकते । इस तर्क का दूसरा पहलू भी है । चीन का तर्क देने वाला इस बात को बिल्कुल भूल जाता है कि चीन की आर्थिक स्थिति भारत से भिन्न है । चीन ने अपने ऊपर विदेशी कर्ज का पहाड़ नहीं खड़ा कर रखा है । इसलिए विदेशी पूँजी आते ही विदेशी दबाव के सामने चीन झुकेगा नहीं ।

तर्क और निर्णय, दोनों स्तरों पर गुलाम का दिमाग कमजोर होता है । वह कुशाग्र बुद्धि का हो सकता है; लेकिन जहाँ विचार से निर्णय निकालना पड़ता है, वहाँ वह आश्चर्यजनक ढंग से तर्क की गलती करता है । आखिरकार गुलामी एक अस्वाभाविक स्थिति है । स्वभाव से आदमी आजाद है । एक लम्बे समय तक अगर कोई समूह (या व्यक्ति) गुलाम रह जाएगा तो उसका व्यक्तित्व बीमार हो जाएगा । कुछ चीजों में वह अपंग हो जाएगा । जानबूझकर, कोशिश करके ही

कोई समूह इस प्रकार के प्रभाव से उबर सकता है । उबरने के लिए पहला कदम यह होगा कि वह इसके बारे में सचेत हो कि उसके विचार, बुद्धि और इच्छाएँ गुलामी से प्रभावित हैं; मुक्त नहीं हो पाई हैं।

आजादी-आन्दोलन का प्रत्येक नेता और कार्यकर्ता राजनैतिक दासता के बारे में सचेत था; लेकिन बौद्धिक तथा आर्थिक दासता के बारे में उसकी समझ गहरी नहीं थी । वह सोचता था कि जो भी बौद्धिक या आर्थिक दासता है, वह राजनीतिक दासता का ही प्रतिफलन है । अत: राजनीतिक दासता से मुक्त होना ही पर्याप्त है— प्रतिफल अपने आप मिट जाएगा । यह एक लापरवाहीभरी और गलत सोच थी, जो जवाहरलाल नेहरू से लेकर सरदार वल्लभ भाई पटेल तक व्याप्त थी । सिर्फ मोहनदास करमचन्द गाँधी इसके विपरीत सोचता था । वह मानता था कि आर्थिक और मानसिक गुलामी के विरुद्ध कार्यक्रमों को प्राथमिकता न देने पर आजादी मिल तो जाएगी, लेकिन काम की न रह जाएगी । वह विलम्ब के लिए तैयार था । गाँधी ने जो कार्यक्रम बताए, उनकी 'रूढ़िवादिता' या 'अव्यावहारिकता' के बारे में बहस हो सकती है; लेकिन बात व्यावहारिकता या अव्यावहारिकता की नहीं थी । जो गाँधी के कार्यक्रम से सहमत नहीं थे, उनके लिए आर्थिक और मानसिक दासता का सवाल गम्भीर और बुनियादी नहीं था । इस मामले में गाँधी और विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का कोई असर आजादी के आन्दोलन पर नहीं रहा ।

१९६०-७० के दशक से बुद्धिजीवियों का एक हिस्सा यह समझने लगा कि बौद्धिक गुलामी एक सत्य है । औपनिवेशिक मानसिकता की लम्बी चर्चाएँ भी होने लगीं । आर्थिक गुलामी को इस तबके ने फिर भी नहीं समझा, इसलिए बात अधूरी रह गई । औपनिवेशिक मानस के विरुद्ध एक आलोचनात्मक भावना बनी; परन्तु उससे निजात पाने का उपाय दिखाई नहीं दिया । औपनिवेशिक मानसिकता के विरुद्ध संघर्ष का कोई कार्य-रूप नहीं बना, इसलिए कि आर्थिक उपनिवेश के साथ-साथ मानसिक औपनिवेशिकता जुड़ी हुई है । उपनिवेश मूल रूप में एक आर्थिक घटना है।

इससे ज्यादा विडम्बना की बात क्या हो सकती है कि जिस विकास पद्धति

ने एशिया-अफ्रीका का इतना विनाश किया है, उसके विकल्प ढूँढ़ने की बातचीत भारत के बुद्धिजीवियों ने तब तक शुरू नहीं की, जब तक यूरोप में उस विचार का उद्भव और प्रसार नहीं हो गया । आधुनिक विकास के ध्वंसकारी परिणामों के बारे में चिन्ता व्यक्त करना और वैकल्पिक उपायों के अनुसन्धान के लिए उपदेश देना, इस वक्त बुद्धिजीवियों के एक बड़े समूह का काम हो गया है; लेकिन इस जागृति का प्रेरणा-स्रोत भारतीय अनुभव नहीं है, बल्कि यूरोप का पर्यावरण आन्दोलन है । इसके प्रेरणा-स्रोत गाँधी नहीं हैं, जरमन शुमाखर या पेट्रा केली हैं। पर्यावरण आन्दोलन और गाँधी-आन्दोलन में बड़ा फरक है- दो अलग-अलग अनुभवों का फरक । पर्यावरण आन्दोलन तब शुरू हुआ जब यूरोप को यह अनुभव हुआ कि पर्यावरण के विनाश का असर यूरोप पर भी पड़ सकता है । गाँधी-विचार तब शुरू हुआ जब आधुनिक विकास नीति का मानव पर कुप्रभाव दिखाई दिया । मानव पर कुप्रभाव का मतलब यह नहीं कि भौतिक आचरण बिगड़ने लगा, बल्कि यह कि मनुष्य का शोषण अभूतपूर्व ढंग से होने लगा । दुनिया में मनुष्य समूहों का इतने बड़े पैमाने पर शोषण कभी नहीं हुआ था, जो उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में हुआ तथा इक्कीसवीं सदी में होने वाला है । खासकर भुखमरी की यन्त्रणा दुनिया में कभी इतने बड़े पैमाने पर नहीं थी । यूरोप में इस तरह की भुखमरी नहीं है, इसलिए वहाँ पर्यावरण आन्दोलन है । भारत का पर्यावरण आन्दोलन यूरोप की नकल है । इसलिए इसमें भी भुखमरी का सवाल केन्द्रीय नहीं है । भारत में पर्यावरण के ध्वंस का अधिकांश कार्य मानवीय शोषण के लिए और एक विशिष्ट वर्ग की वासनाओं की पूर्ति के लिए होता है । यहाँ (भारत में या अफ्रीका में) विकास का विकल्प इसलिए जरूरी नहीं कि पर्यावरण का ध्वंस हो रहा है, बल्कि यहाँ पर्यावरण ध्वंसकारी विकास का विकल्प इसलिए चाहिए कि मानव समूहों का विनाश न हो । यहाँ का पर्यावरण आन्दोलन तब तक सफल होने वाला नहीं है, जब तक गरीब समूहों को यह न मालूम पड़े कि यह गरीबी और गैरबराबरी मिटाने का भी कार्यक्रम है ।

मुश्किल से दस प्रतिशत संगठनों को छोड़कर धनी मुल्कों से सहायता प्राप्त करने वाले भारत के सारे गैर-सरकारी संगठन (एन.जी.ओ.) मुख्यतः पर्यावरण आन्दोलन के वाहक हैं । वे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और डंकेल की नीतियों

को निर्विरोध आने देना चाहते हैं । वे गरीब देशों के अत्याधुनिकीकरण और उपभोक्तावाद को बढ़ाने वाले कार्यक्रमों का प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थन करने के साथ-साथ पर्यावरण की रक्षा का श्रेय भी लेना चाहते हैं । विश्व बैंक, यूनिसेफ और विदेशी मदद की संयुक्त योजनाओं का (जैसे 'सबके लिए स्वास्थ्य' या 'सबके लिए शिक्षा') कार्यान्वयन विश्व बैंक उन्हीं के माध्यम से कराना चाहता है । फिर भी इन्हीं में से बहुत सारे लोग 'विकास का विकल्प' ढूँढ़ने की बात कर रहे हैं । यह हास्यास्पद है, एक क्रूर मजाक है ।

आधुनिक विकास के विकल्प के बारे में कुछ यूरोपीय व्यक्ति भी सोच रहे हैं; लेकिन यह कोई धारा या आन्दोलन नहीं है । पर्यावरण आन्दोलन के साथ उनके अनुभव में उपभोक्तावाद का टकराव नहीं है; क्योंकि पर्यावरण आन्दोलन उनके उपभोक्ता को अधिक पुष्ट या परिष्कृत करता है और स्वास्थ्यवर्धक बनाता है।

आधुनिक विकास पद्धति का विकल्प और आधुनिक ही होगा । गैर आधुनिक का मतलब है पीछे चलना । गुलामी से अभ्यस्त दिमाग को गैर आधुनिक होने की बात से डर लगता है । इससे घबराहट होती है कि कोई कह देगा कि तुम देश को पीछे ले जाना चाहते हो । यह आरोप सुनकर बड़े से बड़े गाँधीवादी और भारतीयतावादी अपनी बात कहते-कहते कुछ देर रुक जाते हैं ।

गाँधी के 'हिन्द स्वराज्य' की खूबी ही यह थी कि उसमें झिझक या हिचक नहीं थी । 'हिन्द-स्वराज्य' भारत को अट्ठारहवीं सदी में ले जाने का एक आह्वान था, ताकि गुलामी से पहले वाली स्थिति में खड़े होकर हम अपनी नयी यात्रा शुरू करें । पीछे ले जाने का आरोप लगाने वाले वाकई महामूर्ख होते हैं; क्योंकि समय के बारे में उनका जो अपना दर्शन है (सरल रैखिक समय), उसमें पीछे जाना कभी होता ही नहीं है । सच यह है कि युद्ध को छोड़कर और कहीं पीछे हटना अपमानजनक नहीं होता और युद्ध में भी सम्मानपूर्वक पीछे हटने की अनुमति रहती है ।

लोग पीछे न हटें, आगे बढ़ते जाँय, इसे पक्का और कानूनी बनाने के लिए डंकेल का दस्तावेज आया है । तीसरी दुनिया के देशों की सारी विकास योजनाएँ अब इसी के द्वारा नियन्त्रित होंगी । आधुनिक विकास पद्धति के ढाँचे के

बाहर किसी को रहने नहीं दिया जाएगा । विकास से तंग आकर पीछे लौटने की कोशिश करने वालों के लिए हर दरवाजा बन्द हो जाएगा । इससे यूरोपीय समूहों को क्या लाभ होने वाला है, यह बात तब तक साफ नहीं होगी, जब तक इक्कीसवीं सदी की एक सच्चाई के बारे में हम अध्ययन नहीं कर लेते । इक्कीसवीं सदी की सबसे बड़ी वास्तविकता यह होगी कि जनसंख्या के मुकाबले विश्व के कुल प्राकृतिक संसाधनों के अनुपात में एकाएक घोर कमी दिखाई देगी । आने वाले ४०-५०वर्षों में जनसंख्या में कितनी-वृद्धि होगी, प्राकृतिक संसाधनों का परिमाण क्या रहेगा और आधुनिक विकास को शानदार ढंग से बनाए रखने के लिए प्राकृतिक संसाधनों का प्रतिव्यक्ति उपयोग कितना होना चाहिए, इस तरह की कुछ बातों को इकट्ठा कर उसका एक गणित बताया जा सकता है और उस गणित से कुछ सामाजिक - आर्थिक निष्कर्ष भी निकल सकते हैं। एक निष्कर्ष तो यह निकलता है कि जब प्रतिव्यक्ति प्राकृतिक संसाधन के अनुपात में घोर कमी आ जाएगी तो विकास और जीवन स्तर में बढ़ोत्तरी की दर बनाए रखने के लिए करोड़ों-करोड़ों लोगों का बलिदान करना होगा । बहुत सारी स्थानीय आबादियों का सफाया करना पड़ सकता है, जिस तरह उत्तरी अमरीका में एक बार हुआ था (उससे छोटे पैमाने पर सोवियत रूस में भी एक बार हुआ था, जरमनी में भी एक बार ऐसा हुआ था.....यानी यूरोपीय लोग इस तरह की कार्यवाहियों से अपरिचित नहीं हैं)। महाहत्याओं और नरसंहार (जेनोसाइड) के बजाय आर्थिक योजनाएँ ही ऐसी बनाई जायेंगी कि सफाया अपने आप होने लगेगा । कोई प्रतिकार न होने पर लगातार भुखमरी, महामारी या प्यास से झुंड के झुंड लोग तड़पकर स्पष्ट लेकिन धीमी गति या मात्रा में मरने लगेंगे, तब इक्कीसवीं सदी में इसको दैवी विनाश या विकास की कीमत कहकर चर्चा से ओझल कर दिया जाएगा ।

दो तरह की परिणतियाँ दिमाग में आती हैं– पहली वह है जिसकी चेतावनी पर्यावरणवादी देते हैं– धरती ही नष्ट हो जाएगी, यानी पूरे मानव समाज के निश्चिह्न होने का एक डर है । दूसरी परिणति ज्यादा व्यावहारिक लगती है; क्योंकि मनुष्य एक आशावादी जन्तु है । इस परिणति का यह खुलासा बनता है कि मानव समाज का कोई एक चौथाई हिस्सा अभी से ऐसा इन्तजाम करे (जो योग्यतम है, वही कर सकता है) कि विकास को बनाए रखने के महान् उद्देश्य से

('प्रेरित' होकर) बाकी दुनिया के संसाधनों का इस्तेमाल वह अपने लिए करे। इसके फलस्वरूप स्थानीय आबादियाँ अपने ही संसाधनों के उपयोग से वंचित होकर विनष्ट हो जायेंगी; लेकिन मानवों का सर्वाधिक 'योग्य' और 'सभ्य' हिस्सा जीवित रह जाएगा और मनुष्य के विकास का एक नया अध्याय शुरू करेगा।

यह योजना सम्भवत: डंकेल प्रस्ताव में निहित है। इसका औचित्य पश्चिम के दो प्रसिद्ध समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के द्वारा सिद्ध होता है। एक है मालथुसियन सिद्धान्त और दूसरा है योग्यतम समूहों के जीवित रहने का प्राकृतिक नियम ('सरवाइवल आफ द फिटेस्ट' का सिद्धान्त)।

कोई तीसरा उपाय है या नहीं, इसकी चर्चा वे लोग करेंगे, जिनको दोनों परिणतियाँ अनुचित या अनैतिक प्रतीत होती हैं।



विज्ञान : स्वरूप एवं पद्धति

श्री आनन्द मिश्र*

किसी विषय के क्रमबद्ध, सुव्यवस्थित व त्रुटिरहित विशेष ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। ज्ञान की अन्य विधाओं से 'विज्ञान' के रूप में जानी जाने वाली विधा इस अर्थ में भिन्न होती है कि वैज्ञानिक ज्ञान अनिवार्य, सार्वभौम और सुनिश्चित होता है। हालाँकि इस बात को लेकर दार्शनिकों में मतभेद है कि वैज्ञानिक ज्ञान की उपरोक्त विशेषता उसके विषय के कारण है अथवा पद्धति के कारण, फिर भी अधिकांश विचारक ऐसा मानते हैं कि वैज्ञानिक ज्ञान की विशिष्टता उसकी विशेष पद्धति के कारण है। यह विशेष पद्धति ज्ञान के त्रिविध उपकरणों— इन्द्रियानुभव, बुद्धि और प्रातिभज्ञान के सामञ्जस्यपूर्ण समायोजन में निहित है। इस पद्धति के निम्नलिखित तीन प्रमुख पहलू हैं – प्राक्कल्पना (हाईपॉथीसिस) की रचना, अनुभव द्वारा प्राक्कल्पना की प्रायोगिक जाँच एवं सिद्धान्त (थ्योरी) या सिद्ध प्राक्कल्पना (प्रूव्ड हाईपॉथीसिस) की रचना। जब हम विज्ञान की पद्धति पर विचार करते हैं, तो पाते हैं कि चिन्तकों में इसको लेकर मतभेद ही मतभेद है। अतिवादी 'बहुलवादी' मत के अनुसार जितने विषय हैं उतने ढंग की वैज्ञानिक पद्धतियाँ हैं, अर्थात् हर क्षेत्र के विज्ञान की अपनी विशिष्ट पद्धति है। कोई एक निश्चित वैज्ञानिक पद्धति नहीं है; बल्कि विज्ञान की अनेक पद्धतियाँ हैं। दूसरी ओर 'एकत्ववादी' चिन्तकों के अनुसार विज्ञान नाम से व्यवहरित सभी विचारतन्त्रों में पद्धति को लेकर कुछ मौलिक समानता होती है, जिसके कारण विषय-वैविध्य के बावजूद ये पृथक्–पृथक् तन्त्र विज्ञान कहलाते हैं। विषय वैविध्य के कारण इनकी पद्धतियों में भिन्नता होती है, पर यह भिन्नता तकनीकी, गौण एवं द्वैतियिक होती है तथा इसका कारण विषय-वैविध्य रहता है, न कि मौलिक पद्धतिगत विभिन्नता।

---

* प्राध्यापक – दर्शन विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

मौलिक पद्धति एक होती है। 'एकत्ववादी' दार्शनिकों के अनुसार भौतिकी, रसायन प्रभृति प्रकृति विज्ञान आदर्श प्रतिरूप विज्ञान हैं। विज्ञान की पद्धति से तात्पर्य इसी प्राकृतिक विज्ञान की पद्धति से है और राजनीति, समाज या ऐतिहासिक घटनाओं का विज्ञानपरक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले सामाजिक विज्ञानों की भी यही पद्धति है। अर्थात् समूचे विज्ञान की मौलिक पद्धति एक है और इस पद्धतिगत विशेषता के कारण ही वैज्ञानिक ज्ञान का महत्त्व है । यहाँ सहज ही प्रश्न उठता है कि सामाजिकी, राजनीति या इतिहास प्रभृति का भौतिकी, रसायन प्रभृति प्राकृतिक विज्ञानों से भला क्या साम्य हो सकता है? यदि घटनाओं, तथ्यों व उनकी एकरूपताओं की 'व्याख्या' प्रस्तुत करना विज्ञान का काम माना भी जाय, तो भी सामाजिक विज्ञानों को प्राकृतिक विज्ञानों से अलग करना ही होगा। वस्तुत: इन दोनों की व्याख्यायें एक ढंग की नहीं हो सकतीं । सामाजिक विज्ञानों द्वारा प्रदत्त 'व्याख्यायें' मूलत: भिन्न प्रकार की होती हैं, अत: उनके लिए एक भिन्न और विलक्षण पद्धति अपेक्षित होती है। उपर्युक्त मत विज्ञान की पद्धति को लेकर प्रस्तुत होने वाले 'द्वैतवादी मत' को मानने वालों का है, जो कि सामाजिक विज्ञान के स्वरूप एवं पद्धति को समझने के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

यद्यपि वैज्ञानिक ज्ञान का वैशिष्ट्य मूलत: उसकी पद्धति के कारण ही है, फिर भी सारे वैज्ञानिक ज्ञानों में 'विषय' को लेकर भी एक तरह का वैशिष्ट्य होता है, जो उसे अन्य ज्ञानविधाओं से भिन्न करता है। विज्ञान के विषय किसी न किसी रूप में अनुभवगम्य होते हैं । अर्थात् विज्ञान अनुभवगम्य पदार्थों का विवरण प्रस्तुत करता है। यह अनुभवगम्य पदार्थों के आपसी सम्बन्धों की नियमितता (नियतता–Law) को— उनके अन्त:सम्बन्धों के स्वरूप (Form) को—उपलब्ध कराने का प्रयास करता है।

विज्ञान के विकास की दृष्टि से पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दी का काल विशेष महत्त्वपूर्ण और निर्णायक माना जाता है। इसी अवधि में तथ्यों के निरीक्षण और प्रयोग पर आधारित नई ज्ञान प्रविधि का सर्वप्रथम सुव्यवस्थित विनियोग देखने को मिलता है, जो आगे चलकर वैज्ञानिक पद्धति के रूप में प्रतिष्ठित हुयी। गैलीलियो, कैप्लर और विलियम हार्वे ने इस नूतन पद्धति का उपयोग करते हुए

ऐसे महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान किये, जिससे मानवीय ज्ञान को नया आयाम और विस्तार मिला। देखा जाय तो इन वैज्ञानिकों का महत्त्व उनके शोध निष्कर्षों से अधिक इस कारण है कि इन्होंने विज्ञान को उस महत्त्वपूर्ण प्रायोगिक प्रणाली से परिचित कराया, जो आगे चलकर उसके विकास का मूलाधार साबित हुई। इस प्रणाली की खासियत इस बात में निहित थी कि किसी भी परिकल्पना को तभी स्वीकृति के योग्य समझा जाय, जब तथ्यों के अनुभव या प्रायोगिक मापन से उसकी पुष्टि हो जाय। गैलीलियो, कैप्लर और हार्वे की अनुसन्धान-पद्धति को तार्किक एवं दार्शनिक आधार प्रदान करने का कार्य फ्रांसिस बेकन ने किया। बेकन यद्यपि अपने समकालीन उपर्युक्त वैज्ञानिकों के समान स्वयं तो वैज्ञानिक नहीं था, पर उसने विज्ञान को वह मजबूत आधार और तार्किक प्रणाली प्रदान की, जिसके कारण उसे उस काल के विज्ञान का पैगम्बर कहा जाता है। यह बेकन था, जिसने सर्वप्रथम विज्ञान की पद्धति को सुव्यवस्थित करने का प्रयास किया और जिसने उस महत्त्वपूर्ण आगमनात्मक पद्धति को जन्म दिया, जो आगे के सैकड़ों वर्षों तक वैज्ञानिक प्रणाली का पर्याय मानी गयी। बेकन ने यह महसूस किया कि मानवीय ज्ञान का आदर्श प्रतिरूप प्राकृतिक विज्ञान है। प्रकृति के रहस्यों या नियमों को खोजना ही विज्ञान का प्रमुख कार्य है। विज्ञान की सारभूत विशेषता वस्तुत: उसकी नित नई नई गवेषणाओं और खोजों में है। वैज्ञानिक ज्ञान नवीन होता है, प्रकृति के रहस्यों को उद्‌घाटित करने में सक्षम होता है। अब इस तरह का ज्ञान अरस्तू प्रणीत निगमनात्मक तर्कशास्त्र की प्रविधि नहीं दे सकती है। ऐसी स्थिति में बेकन एक सर्वथा नये तर्कशास्त्र (Novum Organum) के साथ प्रस्तुत होता है, जो उसके अनुसार वैज्ञानिक खोज के लिए आदर्श प्रविधि देने में सक्षम होगी। बेकन की मान्यता थी कि प्रचलित निगमनात्मक तर्कपद्धति विज्ञान के लिए अपर्याप्त है, आगमनात्मक तर्कपद्धति के प्रयोग से ही विज्ञान को विकसित किया जा सकता है। विज्ञान का कार्य प्रकृति के रहस्यों को उद्‌घाटित करना है। अब प्रकृति के रहस्यों को बुद्धि के विश्लेषण द्वारा नहीं समझा जा सकता है। इसके लिए हमें आँखें खोलनी होंगी, तथ्यों को जुटाना होगा, उनकी व्याख्या करनी होगी । तथ्यों के व्यवस्थित प्रेक्षण व प्रयोग द्वारा ही हम प्रकृति के नियमों तक पहुँच सकते हैं, उन्हें खोज सकते हैं। इस सम्बन्ध में बेकन ने तीन खोज की सारिणियों (टेबल्स

ऑफ इन्वेस्टिगेशन) के अनुप्रयोग की अनुशंसा की। इनमें प्रथम को 'अन्वय-सारिणी' (टेबल ऑफ एफर्मेशन) का नाम दिया, जिसके अन्तर्गत जिस भी विषय या वस्तु का अध्ययन किया जाना हो, उससे सम्बन्धित सभी विधायी तथ्यों को एकत्रित करना होता है; लेकिन चूँकि विधायी या भावात्मक तथ्यों को ही पर्याप्त नहीं माना जा सकता, अत: विपरीत तथ्यों के लिए 'व्यतिरेक-सारिणी' बनाने को कहा। बेकन ने तीसरी सारिणी को 'तुलना की सारिणी' कहा, जिसके अन्तर्गत भिन्न–भिन्न तथ्यों में उपलब्ध परिवर्तनों की तुलना करके यह देखने को कहा कि इनमें कोई आपसी नियत सम्बन्ध तो नहीं है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि बेकन ने आगमनात्मक पद्धति को उपयोग में लाने से पहले मन को उन तमाम अन्धविश्वासों से मुक्त कर लेने को कहा जिसके कारण वस्तुओं का वास्तविक स्वरूप हमारे सामने प्रकट नहीं हो पाता। वैज्ञानिक ज्ञान की उपलब्धि में बाधक स्वरूप इन अन्धविश्वासों को वह व्यामोह (Idols) कहता है । ऐसे व्यामोह बेकन के अनुसार चार प्रकार के हैं, जिनसे हमें हर हालत में बचना चाहिए । ये व्यामोह हैं— जातिगत व्यामोह (Idols of the tribe), प्राकृत व्यामोह (Idols of the cave), लोकगत व्यामोह (Idols of the market place) तथा वैचारिक व्यामोह (Idols of the theater)।

वैज्ञानिक प्रणाली के रूप में आगमन को एक सुव्यवस्थित तर्कशास्त्र का रूप देने का श्रेय जे०एस० मिल को जाता है । मिल का प्रवेश ऐसे समय होता है, जब न्यूटनीय भौतिकी अपने पूर्ण यौवन पर थी, साथ ही दूसरी ओर जीवविज्ञान, समाजविज्ञान, मनोविज्ञान प्रभृति अस्तित्व में आ चुके थे और भौतिकी की पद्धति के अनुरूप इनमें भी जीव, समाज, मानव मन आदि के रहस्यों को जानने की होड़ शुरू हो चुकी थी । मिल ने अपनी सुप्रसिद्ध रचना 'सिस्टम ऑफ लॉजिक' में विभिन्न विज्ञानों के तार्किक संस्थान को एक व्यापक आधार देने की कोशिश की। इस क्रम में वह प्राकृतिक विज्ञानों के साथ ही जीवविज्ञान, समाजविज्ञान, मनोविज्ञान जैसे नव-विकासशील विज्ञानों की पद्धति को भी विश्लेषित और व्यवस्थित करने का प्रयत्न करता है। बेकन ने जिन आगमनात्मक कार्यविधियों की सिफारिश की थी तथा जाँच-पड़ताल की जिन सारिणियों का सुझाव दिया था, उनको और व्यवस्थित करते हुए मिल ने अन्वय विधि, व्यतिरेक विधि, अन्वय-व्यतिरेक संयुक्त विधि, सहचार विधि और अवशेष विधि नामक

आगमनात्मक अनुमान की पाँच प्रमुख विधियों का निर्देश किया। इन विधियों द्वारा मिल के अनुसार किन्हीं वस्तुओं एवं घटनाओं के बीच कारण सम्बन्धों का पता लगाया जा सकता है, जो कि वैज्ञानिक उद्यम का प्रमुख लक्ष्य है । मिल ने अपनी उपुर्यक्त विधियों के बारे में यह भी दावा किया कि ये विधियाँ न केवल कारण सम्बन्धों के खोज की ही विधियाँ हैं; अपितु उनके प्रामाण्य की भी हैं । अर्थात् उपुर्यक्त विधियाँ वैज्ञानिक खोज की तो विधियाँ हैं ही, उनके प्रामाण्य की भी विधियाँ हैं। बाद के वर्षो में आगमन तर्कशास्त्र के विद्वानों ने अनेक वैज्ञानिक खोजों को इन विधियों के माध्यम से व्यक्त किया, जिससे इन विधियों का और महत्त्व बढ़ा।

बेकन, मिल प्रभृति द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त आगमनात्मक प्रणाली की सारभूत विशेषता पर जब हम नजर डालते हैं, तो पाते हैं कि इसमें विशेष तथ्यों के निरीक्षण से सामान्य नियमों की स्थापना की जाती है। अब आगमन की यही विशेषता इसके आलोचकों के लिए सबसे बड़ा दोष है। प्रश्न है कि एक, दो या कुछ सीमित उदाहरणों के साक्ष्य से सामान्य निष्कर्ष निकालना कहाँ तक तार्किक कहला सकता है? ह्यूम ने पूर्व में इस समस्या को बेहतर ढंग से उठाया था। इसीलिए आगमनिक ज्ञान पर उठने वाली इस समस्या को ह्यूम की समस्या के नाम से जाना जाता है। 'क', 'ख', 'ग' आदि कुछ विशेषों के निरीक्षण के आधार पर जिस सामान्य नियम की स्थापना की जाती है, उसमें किसी तरह की अनिवार्यता जैसी बात नहीं होती । सच तो यह है कि हमारा कोई भी आनुभविक ज्ञान अनिवार्य नहीं होता । प्रत्ययों के सम्बन्ध में होने वाला विशुद्ध तार्किक या गणितीय ज्ञान ही अनिवार्य हो सकता है। आनुभविक ज्ञान चूँकि विशेष का ही ज्ञान होता है, अत: उससे सार्वभौम और अनिवार्य नियमों की प्राप्ति नहीं हो सकती । समस्या सिर्फ इतनी ही नहीं है बल्कि और भी गहरी है। वस्तुत: जिस निरीक्षण या प्रेक्षण के आधार पर सामान्य नियमों की स्थापना की जाती है, वह सिर्फ आनुभविक न हो । बहुत कुछ ऐसा होता है जो किसी न किसी रूप में अनुभवेतर है। प्रेक्षण की सम्पूर्ण प्रक्रिया सिर्फ चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों से ही संचालित नहीं होती बल्कि इसमें हमारे 'मन' की महती भूमिका होती है। इस भूमिका का विस्तार यहाँ तक होता है कि हम कह सकते हैं कि हर निरीक्षण एक विशेष

सन्दर्भ, सैद्धान्तिक योजना या सिद्धान्त को पूर्वकल्पित किए होता है। पॉपर आगमनवादियों के इस मत का कि वैज्ञानिक सिद्धान्तों की स्थापना प्रेक्षण और प्रयोग के रास्ते होती है खण्डन करते हुए कहते हैं कि प्रेक्षण और सिद्धान्त में सिद्धान्त पूर्ववर्ती है, न कि प्रेक्षण। वस्तुत: सारे निरीक्षणों के पूर्व निरीक्षणकर्ता का कुछ निश्चित लक्ष्य होता है, उसकी कुछ योजना होती है, विशेष समस्या होती है, कुछ विशेष दृष्टि होती है, जिसके परिप्रेक्ष्य में वह तथ्यों का निरीक्षण करता है[१]।

विशेष तथ्यों के निरीक्षण के आधार पर सामान्य नियमों की स्थापना करने वाली आगमनिक प्रक्रिया के तार्किक आधार के रूप में मिल प्रकृति की एकरूपता तथा कार्यकारण नियम का उल्लेख करता है। प्रकृति की एकरूपता व कार्यकारण नियम के आधार पर हम सीमित विशेष तथ्यों के निरीक्षण से सामान्य कारणिक नियमों की स्थापना करते हैं। प्रश्न है कि आगमन के तार्किक आधार के रूप में जिस प्रकृति की एकरूपता व कार्यकारण नियम की बात की जाती है, स्वयं उसकी प्राप्ति कैसे होती है? मिल यहाँ नम्रतापूर्वक स्वीकार करता है कि इन नियमों की प्राप्ति भी विशेष तथ्यों के निरीक्षण की आगमनिक प्रक्रिया द्वारा ही होती है। यहाँ हम स्पष्ट देख सकते हैं कि किस तरह सम्पूर्ण आगमनिक प्रक्रिया एक विकट विरोधाभास में फँस जाती है, जिसमें जहाँ एक ओर आगमन का आधार प्रकृति की एकरूपता व कार्यकारण नियम को बताया जाता है, वहीं दूसरी ओर इन नियमों का आधार स्वयं आगमन को बतलाया जाता है। सम्पूर्ण प्रक्रिया आत्माश्रय और चक्रक दोष से दूषित हो जाती है, हालाँकि मिल इस बात को नकारते हैं कि इसमें किसी प्रकार का आत्माश्रय या चक्रक दोष है। वास्तव में आगमन पर उठायी जाने वाली ह्यूम की समस्या निराधार नहीं है। हमारे आनुभविक ज्ञान की अनिवार्यता का कोई तार्किक आधार नहीं बनता। ह्यूम स्वयं इस अनिवार्यता की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करता है और वैज्ञानिक ज्ञान के सम्बन्ध में होने वाली अनिवार्यता की भावना को हमारी आदतों और प्रत्याशाओं से जोड़कर देखता है। दूसरी ओर काण्ट इस अनिवार्यता का आधार हमारी बुद्धि के प्रागनुभविक विकल्पों में ढूँढ़ने की चेष्टा करता है।

आगमनात्मक प्रणाली और उस पर उठने वाली आपत्तियों की उपर्युक्त संक्षिप्त चर्चा यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि क्यों आगमनात्मक प्रविधि

समुचित वैज्ञानिक प्रणाली के रूप में मान्य नहीं हो सकी। अधिकतर विज्ञान दार्शनिकों के मत में विज्ञान की वास्तविक प्रणाली का निदर्शन हाइपोथेटिको डिडक्टिव मेथड में होता है। वैज्ञानिक पद्धति का अर्थ ही हाइपोथेटिको डिडक्टिव मेथड से है। वैज्ञानिक किसी प्रश्न के उत्तर के लिए अथवा किसी समस्या के समाधान के लिए संभावित हल के रूप में ऐसी प्राक्कल्पना प्रस्तुत करता है, जिसके द्वारा निगमनात्मक पद्धति से ऐसे निष्कर्ष वाक्यों को आपादित किया जाता है, जिनको हम प्रेक्षण में आये तथ्यों से मिलान कर यह देखते हैं कि वे सत्य हैं अथवा असत्य। यदि प्राक्कल्पना द्वारा निगमित निष्कर्ष सत्य होता है, तो हम दी हुई प्राक्कल्पना को सत्य मान लेते हैं और यदि वे असत्य होते हैं, तो फिर संभावित हल के रूप में नयी प्राक्कल्पना प्रस्तुत करते हैं और फिर से उनके द्वारा आपादित निष्कर्ष की अनुभव में परीक्षा कर उनका सत्यापन करते हैं । इस प्रकार विज्ञान का काम प्राक्कल्पनायें प्रस्तुत करना तथा उन्हें अनुभव में (निरीक्षण तथा प्रयोग द्वारा) सत्य सिद्ध करना है। वैज्ञानिक विधि का उपर्युक्त निरूपण भी दोषमुक्त नहीं कहा जा सकता है। इसका दोष इस बात में निहित है कि हम प्राक्कल्पना को कभी सत्य सिद्ध नहीं कर सकते हैं। वास्तव में वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत सर्वव्यापी तर्कवाक्यों, सिद्धान्तों या नियमों का पूर्ण सत्यापन संभव ही नहीं है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त ढंग से वैज्ञानिक विधि के निरूपण में इसकी आवश्यकता भी नहीं होती है; क्योंकि प्राक्कल्पना द्वारा निगमनात्मक पद्धति से आपादित निष्कर्ष की अनुभव में संपुष्टि उस प्राक्कल्पना को सत्य सिद्ध कर देती है। पर हम सहज ही समझ सकते हैं कि ऐसा सोचना इस तरह से तर्क करना होगा—

यदि यह सत्य है तो वह भी सत्य होगा।
वह सत्य है।
इसलिये, यह भी सत्य है।

पर इस तरह का तर्क निगमनात्मक युक्ति (मोडस पोनेन्स) का अवैध प्रयोग है, जिसमें हेतुमद्विधान दोष है। हम प्रस्थापित तो करते हैं सामान्य तर्कवाक्य और सिद्ध करते हैं उससे आपादित विशेष तर्कवाक्य को। यह सही निगमन की पद्धति नहीं है। उपर्युक्त कठिनाई को ध्यान में रखते हुए पॉपर कहते

हैं कि विज्ञान का कार्य प्राक्कल्पनाओं को सत्य सिद्ध करना नहीं, उनको असत्य सिद्ध करना है। पॉपर के इस संशोधन को हम यदि ध्यान में रखें तो उपर्युक्त दोष दूर हो जाता है और वैज्ञानिक विधि का तार्किक रूप कुछ ढंग के अनुमान (मोडस टोलेन्स) का बनता है—

यदि यह सत्य है, तो वह भी सत्य होगा।
वह सत्य नहीं है।
अत: यह भी सत्य नहीं है।

पॉपर के अनुसार यह सही है कि वैज्ञानिक नियमों को पूर्णत: सत्य सिद्ध नहीं कर सकते, उनका पूर्ण प्रमाणीकरण संभव नहीं है, पर उसका मिथ्यापन तो हो ही सकता है । सभी कौवे काले होते हैं, सूर्य पूरब में उगता है आदि वाक्यों का भले ही पूर्ण सत्यापन न हो, पर यदि विपरीत एक भी उदाहरण प्राप्त हो तो सिद्धान्त मिथ्या हो जाएगा । अत: मिथ्यापनीयता ही विज्ञान का व्यावर्तक गुण है और अन्य ज्ञान निकायों से विज्ञान का ज्ञानतन्त्र इस अर्थ में भिन्न होता है कि उसका मिथ्यापन संभव है । वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं, प्रकथनों या सिद्धान्तों का भले ही पूर्ण प्रमाणीकरण संभव न हो, उनका मिथ्यापन तो सम्भव है ही और यह मिथ्यापन निर्णायक और पूर्ण होता है ।

पॉपर के उपरोक्त संशोधन को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक पद्धति प्राक्कल्पना और असत्यापन की विधि है। पॉपर वैज्ञानिक पद्धति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि समस्त ज्ञान की एक ही विधि है और वह विधि है प्रयत्न तथा भूल की, प्राक्कल्पना की प्रस्तुति और उसके खंडन के चेष्टा की। वैज्ञानिक का कार्य तथ्यों या घटनाओं की व्याख्या के लिए बढ़-चढ़ कर अटकल प्रस्तुत करना है– प्राक्कल्पना देना है– और फिर इस प्राक्कल्पना को अनुभव में असिद्ध या मिथ्यापित करने का प्रयास करना है। हम तथ्यों या घटनाओं की व्याख्या के लिए सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। ये सिद्धान्त प्राक्कल्पनारूप होते हैं। हम इनको मिथ्यापित करने वाले उदाहरण ढूँढ़ते हैं। यदि इनका मिथ्यापन–उदाहरण प्राप्त हो जाता है, तो वह सिद्धान्त गलत मान लिया जाता है (और फिर से हम नये संभावित हल या प्राक्कल्पना को प्रस्तुत करते हैं) और जब तक उसका खंडन

सम्भव नहीं होता है, तब तक उसे सत्य मान लिया जाता है। हम कह सकते हैं कि प्रत्येक वैज्ञानिक सिद्धान्त इसलिये नहीं सत्य होता है कि वह अखंडनीय है, प्रत्युत इसलिये सत्य है कि अभी तक उसका खंडन सम्भव नहीं हुआ है। टॉलमी का सिद्धान्त तब तक सत्य था, जब तक कॉपरनिकस के सिद्धान्त ने उसका खंडन नहीं किया था और न्यूटन का सिद्धान्त तब तक सही था, जब तक आइन्स्टीन ने उसका खण्डन नहीं किया। अब वैज्ञानिक पद्धति के उपरोक्त निरूपण से विज्ञान के बारे में कुछ आश्चर्यजनक पहलू सामने आते हैं। विज्ञान के सिद्धान्त कोई आत्यन्तिक, निरपेक्ष और पूर्ण सत्य नहीं होते हैं। सभी वैज्ञानिक सिद्धान्त दरअसल प्राक्कल्पना मात्र होते हैं। उनकी वैज्ञानिकता मात्र इसी बात में है कि अभी तक लाख कोशिशों के बावजूद उनको असत्य सिद्ध नहीं किया जा सका है।

पॉपर ने अपनी पुस्तक 'लॉजिक ऑफ साइन्टिफिक डिस्कवरी' और 'कन्जेक्चर्स एण्ड रेफ्युटेशन्स' में विज्ञान की उपरोक्त पद्धति को विस्तार से विश्लेषित किया है। पॉपर का महत्त्व इस बात में है कि उसने इस महत्त्वपूर्ण भेद को प्रदर्शित किया कि वैज्ञानिक सिद्धान्तों, प्राक्कल्पनाओं या प्रकथनों को प्रमाणीकृत करने और मिथ्यापित करने में अन्तर है। पॉपर आगमन पर उठने वाली ह्यूम की समस्या को निराधार नहीं पाता है। वस्तुत: यही समस्या तर्कीय प्रत्यक्षवादियों के सत्यापन सिद्धान्त में भी सामने आती है। वास्तव में वैज्ञानिक द्वारा प्रस्तुत सर्वव्यापी तर्कवाक्यों, सिद्धान्तों या नियमों का स्वरूप ही इस तरह का होता है कि उनका पूर्ण सत्यापन सम्भव नहीं है। सम्पूर्ण आगमनात्मक तर्कशास्त्र की यह गलत सोच है कि हम वैज्ञानिक नियमों को पूर्णतया सिद्ध कर सकते हैं और ह्यूम की आपत्ति का जहाँ तक प्रश्न है, तो उसने इसकी इस महत्त्वपूर्ण कमी को उजागर किया ही। पर वैज्ञानिक नियमों या सिद्धान्तों के प्रमाणीकरण की बात न तो उनकी स्वरूपसिद्धि के लिए और न वैज्ञानिकता का दर्जा पाने के लिए ही आवश्यक है। यह सही है कि वैज्ञानिक नियमों का पूर्ण सत्यापन सम्भव नहीं है, पर उनका मिथ्यापन तो हो ही सकता है। सभी कौवे काले होते हैं, सूर्य पूरब में उगता है आदि वाक्यों का भले ही पूर्ण सत्यापन न हो; पर यदि विपरीत एक भी उदाहरण प्राप्त हो जाय, तो सिद्धान्त मिथ्या हो जाएगा। अत: मिथ्यापनीयता ही विज्ञान (वैज्ञानिक नियमों या सिद्धान्तों) का व्यावर्तक गुण है और अन्य ज्ञान

निकायों से विज्ञान का ज्ञानतन्त्र इस अर्थ में भिन्न है कि उसका मिथ्यापन सम्भव है। विज्ञान और छद्म विज्ञानों में अन्तर का हेतु यही है कि जहाँ विज्ञान के द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त प्रभृति अनुभव में मिथ्याप्य होते हैं, छद्म विज्ञानों में ऐसा नहीं होता है। इसी मिथ्यापनीयता के मानदण्ड पर पॉपर कथित छद्म विज्ञानों मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद, ज्योतिष आदि को रखता है और पाता है कि चूँकि इनके द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों में मिथ्यापनीयता नहीं है, अतः वे विज्ञान का दर्जा पाने लायक नहीं हैं[२]। पॉपर की खासियत इस बात में है कि उसने इस बात को महसूस किया कि सार्वभौम वैज्ञानिक वाक्यों का प्रमाणीकरण या सत्यापन असंख्य समर्थक उदाहरण भी नहीं कर सकते (आगमन की समस्या के कारण), जबकि एक भी विपरीत उदाहरण उस सिद्धान्त वाक्य को मिथ्यापित कर देगा। अतः सिद्धान्तों को सिद्ध करने का प्रयास असफलता को गर्भित किये हुए है। जो सम्भव है, वह यह कि उन सिद्धान्तों को किसी एक असमर्थक अर्थात् विपरीत उदाहरण से असत्य सिद्ध कर दें।

ऐसा क्यों है कि वैज्ञानिक सिद्धान्तों का पूर्ण प्रमाणीकरण सम्भव नहीं होता? अनुभव की सीमा की जो बात कही जाती है वह तो है ही; पर वास्तविक तथ्य यह है कि इन सिद्धान्तों का स्वरूप ही ऐसा होता है कि वे पूर्णतः निश्चित और अनिवार्यतः सत्य नहीं होते; बल्कि वे अटकल रूप में होते हैं। विज्ञान के इतिहास के विश्लेषण द्वारा पॉपर इस बात का खण्डन करते हैं कि वैज्ञानिक ज्ञान पूर्णतः सत्य, निश्चित और अखण्डनीय होता है। वास्तव में हमारा सारा ज्ञान जाहिर है वैज्ञानिक ज्ञान अस्थायी किस्म का होता है, कामचलाऊ होता है। विज्ञान कोई अन्तिम रूप से सत्य, अखण्डनीय और पूर्णतः सिद्ध सिद्धान्तों का तन्त्र नहीं है, बल्कि वैज्ञानिक सिद्धान्त या नियम एक तरह का अस्थायित्व लिये रहता है, अनन्तिम होता है और उसमें निरन्तर सुधार या विस्तार होता रहता है। विज्ञान में कुछ भी अन्तिम नहीं है। यह सही है कि वैज्ञानिक का ध्येय सत्य की प्राप्ति है, पर यह सत्य हमेशा एक कदम आगे रहता है । हम इस स्थिति में कभी भी नहीं होते कि अन्तिम सत्य यही है। इस बात की सतत सम्भावना रहती है कि आज जो सत्य है, वह कल मिथ्या हो जाय। अतः सिद्धान्तों या नियमों की सत्यता के प्रमाणीकरण की बात सोचना वस्तुतः अतार्किक प्रयास है। पॉपर कहता है "हम

विज्ञान और सत्य को एक नहीं कह सकते क्योंकि न्यूटन और आइन्स्टीन दोनों के ही सिद्धान्त वैज्ञानिक सिद्धान्त हैं। अब ये दोनों सिद्धान्त एक साथ सही नहीं हो सकते । हाँ, ऐसा हो सकता है कि दोनों गलत हों"[३]। विज्ञान का इतिहास इस बात का गवाह है कि वैज्ञानिक सिद्धान्त अन्तिम किस्म के नहीं होते। विज्ञान की पद्धति प्राक्कल्पना और असत्यापन की है, अटकल और खण्डन की है। न्यूटन का सिद्धान्त दो शताब्दियों तक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित रहा और आनुभविक जगत् के समस्त तथ्य इस सिद्धान्त की संपुष्टि करते दिखे। न केवल प्रेक्षण और प्रयोगों ने; अपितु वैज्ञानिक तकनीक, प्रौद्योगिकी और सभ्यता के विकास ने भी इस सिद्धान्त को संपुष्ट किया। ऐसा लगा मानो पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान को उस सुनिश्चित और अन्तिम सत्य ज्ञान की उपलब्धि हो गयी, जिससे न केवल इस पृथ्वी अपितु समूचे ब्रह्माण्ड की एक-एक गतिविधियाँ सुव्याख्येय हो जाती हैं। पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान की यह मानो अन्तिम निकष थी और ऐसा लगा जैसे पश्चिम को सुनिश्चित और असन्दिग्ध अन्तिम सत्य ज्ञान की प्राप्ति हो गयी । पर तभी हम देखते हैं कि इस सदी के आरम्भ में आइन्स्टीन एक नए सिद्धान्त के साथ आता है। इस सिद्धान्त में हम पुनः देखते हैं कि उन सभी निरीक्ष्य तथ्यों की जिनकी कि न्यूटनीय भौतिकी व्याख्या प्रदान करती है व्याख्या हो जाती है, साथ ही न्यूटन की कमियाँ भी इसमें नहीं हैं। फिर क्या आइन्स्टीन का सिद्धान्त अन्तिम है? नहीं, स्वयं आइन्स्टीन अपने सिद्धान्त की कमियों से परिचित था और जीवन के अन्तिम समय में इससे और अच्छे सिद्धान्त की तलाश में जुटा रहा। ऐसा सम्भव है कि कल कोई और ऐसा सुधरा हुआ सर्वसमावेशी सिद्धान्त प्रस्तुत हो जो और अधिक व्यापक हो तथा आइन्स्टीन के सिद्धान्त को उसी तरह सही करे, जिस तरह आइन्स्टीन ने न्यूटन के सिद्धान्त को किया था। इस उदाहरण से पूर्व हम यूक्लिड के रेखागणित और अरस्तू के तर्कशास्त्र के साथ भी ऐसा ही देख सकते हैं। दो हजार वर्ष तक वे अपने विषय में अंतिम प्रमाण के रूप में स्वीकृत होते थे और अन्तिम माने जाते थे। फिर इनकी कमी सामने आयी और नये सिद्धान्त दिये गये। वस्तुतः विज्ञान का स्वरूप ही ऐसा है कि उसके सत्य अन्तिम नहीं होते । वैज्ञानिक ज्ञान की पद्धति अटकल और उसके खण्डन की, त्रुटि और भूल सुधार की, प्राक्कल्पना और उसके असत्यापन की है, कन्जेक्चर और रेफ्युटेशन की है।

यहाँ यह ध्यान रहे कि वैज्ञानिकों द्वारा प्रत्युपस्थापित प्राक्कल्पनाओं या सिद्धान्तों का आधार विशेष तथ्यों के निरीक्षण, प्रयोग व सामान्यीकरण की आगमनिक प्रणाली नहीं होती। वस्तुत: कोई एक निर्धारित या निश्चित तार्किक पद्धति नहीं होती है, जिसके आधार पर हम प्राक्कल्पनाओं को उपस्थापित करते हैं। जहाँ तक निरीक्षण और प्रयोग की बात है, तो हम इसके आधार पर सिद्धान्त तक पहुँचते हैं, ऐसी बात नहीं हैं; बल्कि सम्पूर्ण प्रक्रिया में सिद्धान्त ही पूर्ववर्ती होते हैं। वास्तव में जहाँ प्राक्कल्पना की संरचना या सिद्धान्त उपस्थापन का प्रश्न है, इसके लिये कोई निश्चित राजमार्ग नहीं है, कोई निश्चित तार्किक प्रविधि नहीं है। एक उचित प्राक्कल्पना अतीत की घटनाओं के निरीक्षण, स्वयं वैज्ञानिक की कल्पनाशक्ति या अन्त:सूझ, उसकी प्रतिभा अथवा संयोग इन सबमें किसी पर या सभी पर आश्रित हो सकती है। प्राक्कल्पनाओं के निर्माण के लिए कोई विशेष नियम, उपाय या सूत्र चिह्नित नहीं किया जा सकता । प्राक्कल्पनाओं का निर्माण वैज्ञानिक उपक्रम का रचनात्मक पहलू है और हर रचना के समान यह भी हमारी कल्पनाशक्ति और मेधा की अपेक्षा रखती है। न्यूटन या आइन्स्टीन की प्राक्कल्पनाओं की व्याख्या शक्ति जैसी शक्ति वाली वैज्ञानिक प्राक्कल्पनायें उतनी ही मेधा की उत्पत्ति हैं, जितनी महान् कलाकृतियाँ । वैज्ञानिक गवेषणा इस अर्थ में सृजन की अन्य गतिविधियों से भिन्न नहीं है। वैज्ञानिक गवेषणा वस्तुत: एक तरह की सर्जना है और जिस तरह सर्जना का कोई निश्चित नियम नहीं होता, उसी तरह जगत् या जागतिक तथ्यों को व्याख्यायित करने वाली प्राक्कल्पनाओं या सिद्धान्तों के लिये कोई निश्चित तार्किक प्रविधि नहीं होती । वैज्ञानिक आविष्कारों के पीछे अन्त:सूझ जैसा अबौद्धिक तत्त्व साफ दिखायी देता है। पॉपर को एक पत्र में आइन्स्टीन उससे सहमति व्यक्त करते हुए कहते हैं-"प्रेक्षण के परिणामों के आधार पर सिद्धान्तों का विनिर्माण नहीं होता; बल्कि इनका तो अभिनव आविष्कार होता है।"[४] आइन्स्टीन के जीवनीकार फिलिफ फ्रैंक बतलाते हैं कि आइन्स्टीन के अनुसार आधारभूत सैद्धान्तिक नियम वैज्ञानिक कल्पना की स्वच्छन्द सृष्टियाँ होते हैं। अन्यत्र आइन्स्टीन इस मान्यता का खण्डन करता है कि विज्ञान के नियम आगमन विधि द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं। वास्तव में ये चिन्तन की स्वच्छन्द सृष्टियाँ प्रतीत होते हैं, इन्हें इन्द्रियों के अनुभव से प्राप्त नहीं किया जा सकता[५]।

जैसा कि हमने देखा कि वैज्ञानिक द्वारा प्रस्तुत प्राक्कल्पनाओं के निर्माण की कोई निश्चित प्रविधि नहीं दी जा सकती । वस्तुत: किन परिस्थितियों में प्राक्कल्पना का निर्माण होता है, इसे कोई दार्शनिक महत्त्व प्रदान करने की जरूरत भी नहीं है। वस्तुत: हम जो कर सकते हैं वह यह कि इन प्राक्कल्पनाओं के प्रामाण्य या साक्ष्य के तर्क को स्पष्ट करें। वैज्ञानिक प्रविधि के तर्कशास्त्र का काम यह नहीं है कि वह प्राक्कल्पनाओं की रचना के लिये या खोज के लिये नियम प्रस्तावित करे; बल्कि उसका कार्य यह है कि वह इनके प्रामाण्य के लिये प्रस्तावित विधियों के तर्क को स्पष्ट करे। ऊपर वर्णित हाइपोथेटिको डिडक्टिव मॉडल की यह विलक्षणता रही कि इसने वैज्ञानिक प्रविधि के विश्लेषण की प्रक्रिया में खोज की पद्धति (लॉजिक ऑफ डिस्कवरी) और संपुष्टि की पद्धति (लॉजिक ऑफ जस्टीफिकेशन) के भेद को विविक्त किया। वैज्ञानिक सिद्धान्तों (प्राक्कल्पनाओं) की खोज मनस् में कैसे होती है, यह प्रश्न उन सिद्धान्तों (प्राक्कल्पनाओं) की सत्यासत्यता की समस्या से भिन्न है। खोज की क्रिया के दौरान मनस् में कौन –कौन क्रियाकलाप होते हैं, उसमें कल्पना और अन्त:सूझ की प्रमुख भूमिका होती है या विचार की या अनुभव की तथा वह किन्हीं नियमों से बँधी होती है या नहीं, ये प्रश्न मनोवैज्ञानिक अध्ययन के विषय हो सकते हैं । ये समाजशास्त्रियों, मानवविज्ञानियों या दूसरों के लिये भी महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं। पर जहाँ तक विज्ञान की प्रविधि का दार्शनिक अध्ययन करने वालों का प्रश्न है, उनके लिये महत्त्वपूर्ण समस्या इस बात को लेकर है कि सिद्धान्तों की सत्यासत्यता के मानदण्ड क्या हैं? प्राक्कल्पनाओं की निर्मिति नहीं, अपितु उनकी विशेष ढंग से होने वाली संपुष्टि (जस्टीफिकेशन) ही वैज्ञानिक गतिविधि का प्राण कही जा सकती है। संपुष्टि के स्तर पर ही विज्ञान का अन्य सर्जनात्मक गतिविधियों से भेद दिखता है। वस्तुत: यही हिस्सा उसे वैज्ञानिकता का दर्जा प्रदान करता है।

पर क्या 'संपुष्टि' के सम्बन्ध में एक तर्कसम्मत प्रविधि प्रस्तुत करने का वैज्ञानिक ज्ञान दावा कर सकता है? वास्तव में इस सम्पूर्ण प्रविधि का सारतत्त्व इन्द्रियानुभव को सत्यता का आखिरी निकष मानने में है। इस 'निकष' को लेकर उठने वाली आपत्तियों पर पीछे हमने विचार किया है। फिर जिस 'अनुभव' के साक्ष्य की बात की जाती है, वह विशेष देश-काल में स्थित और विशिष्ट

सामाजिक संस्कृति में पोषित मानव मन के अनुभव का साक्ष्य है। अतः इस साक्ष्य को विश्लेषित करने के लिये पूरी सामाजिकी, इतिहास और संस्कृति को समझना होगा। १९६० के बाद के विज्ञान दार्शनिकों ने इस जटिलता को भलीभाँति समझा। वस्तुतः विज्ञान की पद्धति को उसके इतिहास से अलग करके नहीं समझा जा सकता है; लेकिन उसका इतिहास क्या सचमुच किसी एक सुनिश्चित पद्धति को दर्शाता है, जिसके आधार पर विज्ञान का विकास हुआ है और वैज्ञानिक उद्यम सफल हुए हैं? टामस कुह्न ने अपनी पुस्तक 'स्ट्रक्चर ऑफ साइन्टिफिक रेवोल्यूशन' में वैज्ञानिक विकास के ऐतिहासिक विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकाला कि विज्ञान की कोई एक सुनिश्चित तार्किक पद्धति नहीं है और न ही विज्ञान के विकास की कोई ऊर्ध्वगामी रेखीय दिशा है। कुह्न के निष्कर्षों को पॉल फयराबेन्ड उसके अतिवादी तार्किक उपागमों तक पहुँचाता है। अपनी पुस्तक (Against Method[6]) में फयराबेन्ड विज्ञान का अबुद्धिपरक चित्र प्रस्तुत करता है । वह इस बात की आलोचना करता है कि विज्ञान की कोई एक निश्चित वस्तुनिष्ठ प्रणाली है अथवा कभी रही है। जब हम विज्ञान की उपलब्धियों पर नजर डालते हैं, तो पाते हैं कि ये उपलब्धियाँ ऐसा नहीं है कि वैज्ञानिक पद्धतियों के नियमबद्ध विप्रयोग से हासिल हुई हैं; बल्कि फयराबेन्ड कहता है कि सच तो यह है कि अधिकतर वैज्ञानिक उपलब्धियाँ तब हासिल हुई हैं, जब हम मान्य वैज्ञानिक पद्धतियों या सिद्धान्तों से अलग होकर सोचते हैं । अर्थात् वैज्ञानिक स्वयं अपने नियमों को ढील देकर, उनका उल्लंघन करके नितान्त नये-नये तरीकों से नई चीजों पर पहुँचता है । हम कह सकते हैं कि स्वयं विज्ञान अपने निष्कर्षों एवं उपलब्धियों के लिये बहुधा अवैज्ञानिक तरीकों का उपयोग करता है । फयराबेन्ड इस सम्बन्ध में कॉपरनिकस की महत्त्वपूर्ण खोजों का उल्लेख करते हुए कहता है कि स्वयं उसकी ये खोज उन तमाम चीजों पर आश्रित है, जो कहीं से वैज्ञानिक नहीं कही जा सकतीं[७] । अब यदि विज्ञान की कोई एक सुनिश्चित पद्धति नहीं है, तो फिर ज्ञान के अन्य तन्त्रों से उसकी स्वाभाविक श्रेष्ठता का दावा दावा ही रह जाता है । फयराबेन्ड का कहना है कि ज्ञान के अन्य वैकल्पिक तन्त्रों से आधुनिक विज्ञान की श्रेष्ठता के दावे के दो ही आधार हो सकते हैं । एक यह कि ज्ञान की अन्य शाखाओं से वह उपलब्धि

हासिल नहीं हो सकती जो कि विज्ञान से होती है और दूसरा इस आधार पर कि ये तमाम उपलब्धियाँ वैज्ञानिक सिद्धान्तों और पद्धतियों द्वारा ही हासिल हुई हैं, किसी अवैज्ञानिक ढंग से आगन्तुक रूप में नहीं । पर जैसा कि हमने अभी देखा कि विज्ञान की उपलब्धियाँ किसी मान्य सिद्धान्त पर चलने से नहीं, अपितु बहुधा उनका अतिक्रमण करने से तथा अन्य कई दूसरे तरीकों से हासिल हुई हैं, जिन्हें विज्ञानविद् वैज्ञानिक नहीं कह सकते। जहाँ तक प्रथम आधार का प्रश्न है और यह कहा जाता है कि मानवीय जीवन, सभ्यता और संस्कृति पर जितना विज्ञान की उपलब्धियों का प्रभाव हुआ है उतना अन्य का नहीं, तो यह कहना भी उचित नहीं है । पुरा मानवों और उनके ज्ञान–प्रज्ञान के वैकल्पिक माध्यमों द्वारा जहाँ मानव संस्कृति का आविर्भाव हुआ, आग की खोज हुई, उसे सुरक्षित करने के उपाय ढूँढ़े गये, पशुओं को पालतू बनाया गया, नये–नये पौधों की खोज हुई, उन्हें पोषित और संवर्धित किया गया, समुद्र को पार किया गया । अब ये सब उपलब्धियाँ देखा जाय, तो आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियों से कई गुना अधिक हैं । वस्तुत: उन लोगों ने संस्कृति और सभ्यता का आविर्भाव किया, वैज्ञानिकों और बुद्धिवादियों ने तो महज इसे बदला, एक नया रूप दिया[८] ।

ज्ञान–प्रज्ञान के प्रतिस्पर्धी विधाओं पर विज्ञान के जिस प्रभुत्व की बात की जाती है उसके पीछे न तो युक्ति ही है और न गंभीर शोध, बल्कि 'यह राजनीतिक, संस्थागत या यहाँ तक कि सैनिक प्रभुत्व के कारण है'[९] । वस्तुत: आधुनिक विज्ञान अपनी श्रेष्ठता का कोई यौक्तिक आधार नहीं प्रस्तुत करता है, यही फयराबेन्ड की शिकायत है। विज्ञान के इस प्रभुत्व को अयौक्तिक ढंग से थोपने का काम सत्रहवीं सदी में Royal Society और Academe des Sciences की स्थापना से और भी पुख्ता हो जाता है । Royal Society ने मानो चर्च का रूप ले लिया और क्या वैज्ञानिक है, बौद्धिक है, इसको निर्धारित करने का निरंकुश अधिकारपत्र । इन संस्थाओं ने वैकल्पिक ज्ञान-तन्त्रों एवं पद्धतियों की जबर्दस्त अवहेलना की, जबकि इस अवहेलना का कोई तार्किक आधार नहीं बनता। फयराबेन्ड कहता है कि अणुवाद अरस्तू द्वारा अस्वीकृत होने के बाद लगभग दो हजार वर्षों तक उपेक्षित रहा, सत्रहवीं शताब्दी में जाकर इसके महत्त्व का पुन:प्रतिपादन हुआ। यही स्थिति आखिर ज्योतिष आदि अन्य वैकल्पिक ज्ञानतन्त्रों के साथ क्यों नहीं संभव

हो सकती है? फयराबेन्ड का तर्क पूरी तरह से आधारहीन नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि यह सही है कि Occult sciences से स्वयं को अलग करते हुए जब आधुनिक विज्ञान के पुरोधाओं ने रायल सोसाइटी की स्थापना की, तब उन्होंने इन प्रतिस्पर्धी विज्ञानों के पक्ष को सुना तक नहीं । जब कुछ ज्योतिषियों ने ज्योतिष सम्बन्धी निर्णयों की वैज्ञानिकता को सिद्ध करने के लिये रायल सोसाइटी के समक्ष प्रत्यावेदन किया, तो सोसाइटी के तत्कालीन सचिव ने इस विधा को व्यर्थ कहते हुए उनके प्रत्यावेदन को वहीं अस्वीकार कर दिया[१०]। फयराबेन्ड न केवल आधुनिक विज्ञान के उस रूढ़िवादी रूप की आलोचना करता है, जिसमें यह बिना कोई यौक्तिक आधार के अन्य प्रतिस्पर्धी विधाओं को अयौक्तिक और अवैज्ञानिक सिद्ध करते हुए स्वयं को उन पर श्रेष्ठ बताता है, बल्कि उसका यहाँ तक कहना है कि वैकल्पिक ज्ञान-विधायें विज्ञान के समान ही और कई स्थिति में उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण, उपयोगी और श्रेयस्कर हो सकती हैं। यह बात चीन की परम्परागत चिकित्सा प्रणाली की आधुनिक पश्चिमी चिकित्सा प्रणाली से तुलना द्वारा समझी जा सकती है, जो कि द्वितीय की अपेक्षा रोग की पहचान और उसके रोकथाम में अधिक उपयोगी और प्रभावी सिद्ध हुई है ।

प्रश्न है कि एक सुनिश्चित पद्धति के अभाव में फयराबेन्ड प्रभृति विज्ञान को आखिर किस रूप में लेते हैं ? वस्तुत: ये दार्शनिक विज्ञान को पद्धतिरहित, नियम-रहित, सर्जनात्मक अभ्यास के रूप में देखते हैं और इसकी उपलब्धियों और सफलता का मूलमन्त्र इसे ही मानते हैं । इनके अनुसार विज्ञान का स्वरूप उसके अनेकानेक सिद्धान्तों में परिलक्षित होता है, जिनमें न कोई पूर्णतया सत्य है और न ही पूर्णतया असत्य, जिनमें न कोई सिद्धान्त सभी तथ्यों की संतोषप्रद व्याख्या देता है और न ही कोई सिद्धान्त ऐसा है, जिसके समक्ष कोई न कोई असंगत तथ्य व्याख्यायित होना बाकी न हो। विज्ञान विभिन्न और अनेकानेक सिद्धान्तों का एक समूह है, जिनकी सत्यता–असत्यता के मानदण्ड मात्र विचार या अनुभव ही नहीं होते; अपितु प्रचार (प्रोपेगेन्डा), लोकप्रियता या फैशन आदि भी हो सकते हैं।[११] सिद्धान्तों की एकता के बजाए बहुलता, विभिन्नता और अनेकता वरेण्य है; क्योंकि इससे विज्ञान के विकास का रास्ता खुलता है, जबकि एकता स्वयं इसके विकास को अवरुद्ध करती है। वस्तुत: सिद्धान्तों और पद्धतियों में एकता की तलाश उस

वैचारिक षडयन्त्र के कारण है, जो विज्ञान के संस्थानीकरण के कारण हुआ। वस्तुतः आज विज्ञान का व्यवहार वैसा ही हो गया है, जैसा चर्च का अतीत में रहा है, चर्च की तरह विज्ञान ने मानों इस बात का ठेका ले लिया है कि क्या वैज्ञानिक है और क्या अवैज्ञानिक । सही स्थिति यह है कि वैज्ञानिकता या बौद्धिकता का कोई निश्चित मानदण्ड नहीं है और न तो कोई एक निश्चित और वास्तविक वैज्ञानिक पद्धति है। जिस तरह विज्ञान की कोई एक निश्चित और सर्वोपरि प्रविधि नहीं है, उसी प्रकार सत्य या ज्ञान की एकमात्र विधा विज्ञान नहीं है, जो कि सर्वाधिक श्रेष्ठतम, सुव्यवस्थित, संगत और त्रुटिरहित हो। झाड़फूँक, घरेलू चिकित्सा, ज्योतिष आदि से विज्ञान की श्रेष्ठता के लिये वस्तुतः कोई तर्क नहीं है। ये सभी ज्ञान–विज्ञान के अलग–अलग तन्त्र हैं और सही स्थिति यह होनी चाहिए कि लोगों को इनमें से किसी को अपनी स्वतन्त्रता से चुनने का अधिकार होना चाहिए। जो विज्ञान के उपयुक्त होंगे वे विज्ञान को चुनेंगे और इस तरह विज्ञान का विकास होगा। इस तरह विज्ञान के अभ्युदय और उन्नति के लिये आदर्शपूर्ण स्थिति वह ज्ञानमीमांसीय अराजकता है, जिसमें किसी पद्धति या तन्त्र विशेष को श्रेष्ठता नहीं हासिल है और जिसमें हर एक को अपनी वरेण्यता स्वयं सिद्ध करनी है और इस स्थिति में विज्ञान जादू-टोना, ज्योतिष, रहस्यवाद या दूसरे वैकल्पिक विज्ञानों के साथ समान धरातल पर खड़ा है।

विज्ञान की पद्धति के उपुर्यक्त ऐतिहासिक सिंहावलोकन और दार्शनिक विश्लेषण से हम ठीक उन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं, जो हमारी आरम्भ की प्रस्थापनाओं के एकदम विपरीत हैं । विज्ञान कोई क्रमबद्ध, सुव्यवस्थित, अनिवार्य और सार्वभौम ज्ञान का निकाय नहीं रह जाता, न ही इसकी किसी एक सुनिश्चित पद्धति का ही निदर्शन मिलता है। ऐसी स्थिति में सर्वश्रेष्ठ और एकमात्र यौक्तिक ज्ञान निकाय होने का विज्ञान का दावा खारिज हो जाता है। यह स्थिति सामाजिक विज्ञानों के लिये विशेष महत्त्व रखती है; क्योंकि वे प्राकृतिक विज्ञानों की प्रेतछाया से स्वयं को मुक्त कर सकते हैं । साथ ही, ज्ञान–प्रज्ञान के अन्य वैकल्पिक प्रविधियों एवं तन्त्रों और देशज विद्याओं की, जिनकी आधुनिक सभ्यता ने अवहेलना की, पुनरुद्धार की सम्भावना जगती है । यह स्थिति पूर्व के लिये और अधिक महत्त्व रखती है; क्योंकि आर्ष ज्ञान के उन तत्त्वों में, जिनका कि आनुभविक परीक्षण नहीं हो पाता था, 'सत्य' को पहचानने की नये सिरे से

कोशिश होगी और सबसे अधिक प्राकृतिक विज्ञान से परे तत्त्वविज्ञान, आत्मविज्ञान और ब्रह्मविज्ञान के अनुसन्धान और अनुशीलन की नई प्रवृत्ति जगेगी, जिससे हो सकता है कि सत्य का वास्तविक रूप सामने आये ।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

१. देखें, Karl Popper, Conjectures and Refutations : The Growth of Scientific Knowledge, Routledge and Kegan paul, London, 1972, p. 46.

२. देखिए इसी पुस्तक का अध्याय Science: Conjectures and Refutations.

३. ब्रायन मैगी द्वारा संपादित Modern British philosophy के पृष्ठ ७८ पर पॉपर। यहाँ मैगी की रचना Popper (London : 1988), पृ० २८ से उद्धरित।

४. देखें पॉपर कृत The Logic of Scientific Discovery (Hutchinson, 1980) का परिशिष्ट जिसमें आइन्स्टीन का पॉपर को लिखा पत्र छपा है।

५. डॉ० नन्द किशोर देवराज, संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, हिन्दी समिति, लखनऊ, १९७२, पृ० ६९।

६. Feyerabend, P.K., Against Method : Outline of an Anarchist Theory of Knowledge, London: New Left Books, 1975.

७. देखें फयराबेन्ड की पुस्तक Science in a Free Society (London, 1978) पृ० १०५

८. देखें, वहीं, पृ० १०४-१०५ ।

९. देखें,वहीं, पृ०, १०२।

१०. Derek Gjertsen, Science and Philosophy: Past and Present, London: Penguin Books, 1989, p. 159.

११.वीरेन्द्र शेखावत, विज्ञान और विज्ञान-दर्शन, प्रिन्टवैल पब्लिशर्स, जयपुर, १९८५, पृ० ३१।



समाज विज्ञान में परिप्रेक्ष्य की समस्या और उसका ऐतिहासिक सन्दर्भ

Problem of Perspective in Social Sciences and its historical context

डॉ० महेश विक्रम सिंह*

पिछले कुछ दशकों से समाज-विज्ञान के क्षेत्र में परिप्रेक्ष्यों का प्रश्न एक बड़ी चुनौती बनकर उभरा है। समाजवैज्ञानिकों की समस्या मानवसमाज की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं और उनके सम्बन्धों को समझने में उत्पन्न होने वाली अवधारणात्मक भ्रान्तियों या अनिश्चितताओं से जुड़ी है। इसके फलस्वरूप किसी अध्येता की भूमिका या उपादेयता के समक्ष ही एक प्रश्नचिह्न लग जाता है। यदि समाजवैज्ञानिक का कार्य समाज में समूहों के स्वरूप, चरित्र और सामाजिक घटनाओं को सूचीबद्ध करना मात्र है और सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करने वाली बाह्य या अंत:स्थितियों और उनके कार्य-कारण सम्बन्धों की व्याख्या के आधार पर मानव समाज की भविष्य की दिशा का कोई सार्वभौम सिद्धान्त प्रस्तुत करना नहीं है, तो कम से कम संस्थागत रूप से समाजविज्ञानों के अध्ययन का औचित्य तो नहीं रह जाता है और समाज-वैज्ञानिक एक रिकार्डर या रिपोर्टर और अधिक से अधिक एक टिप्पणीकर्त्ता बनकर रह जाता है । हाल के दशकों में यह बात बड़े जोर से कही जा रही है कि मानव-समाज के व्यवहार की किसी सार्वभौम दृष्टि अथवा उसके नियामक तत्त्वों की कोई सर्वमान्य अवधारणा का कोई अर्थ नहीं है। प्रत्येक समूह को उसके अपने स्थानीय, क्षेत्रीय और सीमित सांस्कृतिक सन्दर्भों में ही समझने की जरूरत है; क्योंकि प्रत्येक समूह स्वयं में स्वतंत्र सावयीय (Organic) संरचना होती है और उसमें चलने वाली क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ

---

* आचार्य- इतिहास विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

उसकी अपनी विशिष्ट अन्तर्भूत स्थितियाँ होती हैं। इसने स्वभावत: समाज-विज्ञान के क्षेत्र में परिप्रेक्ष्यों की अराजकता (anarchy of perspectives) जैसी स्थिति उत्पन्न कर दी है और समाजवैज्ञानिक की किसी सकारात्मक भूमिका को बेमानी बना दिया है।

इस अराजकता का एक ऐतिहासिक सन्दर्भ बनता है, जिसे ध्यान में लिए बिना समाज विज्ञान और समाज वैज्ञानिकों द्वारा किन्हीं मानव उपयोगी सूत्रों का निर्धारण कदाचित् असम्भव ही होगा । **बी० ग्रोसे** की बात कि 'सभी इतिहास समकालीन इतिहास होते हैं; क्योंकि हम बीते हुए कल को वर्तमान की निगाहों से देखते हैं' (All history is contemporary history because we see the past through the eyes of the present)' इस पक्ष की ओर भी संकेत करती है कि समाज वैज्ञानिक अपनी समकालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप ही अपनी अवधारणाओं को विकसित करता है। इस दृष्टि से यह मानना गलत नहीं होगा कि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रकट या प्रभावी होने वाली वैश्विक और राष्ट्रीय परिस्थितियों की अनिश्चितताओं और अनेक संकल्पों को व्यावहारिक धरातल पर मिली असफलताओं ने ही उस नये मानस का निर्माण किया है, जो या तो सिद्धान्तों या विचारों के ही स्खलन की दलील देता है अथवा उन्मुक्त या स्वच्छन्द सामाजिक-आर्थिक व्यवहारों और अनुत्तरदायी पूँजीवादी संस्थाओं को यथारूप स्वीकार कर लेने की वकालत करता है। इसी मानसिकता के एक-दूसरे आयाम का दर्शन कुछ दशकों से अधिक जोर से प्रचारित किये गये **डेरिडा** और **ल्योटार्ड**[१] के उत्तर आधुनिकतावाद (Post modernism) में मिलता है, जिसके औचित्य पर **हेबरमास**[२] द्वारा उठायी गई आपत्तियों के बावजूद जहाँ एक ओर स्थानीय एवं वर्गीय प्रवृत्तियों की स्वायत्तता को प्रतिपादित करते हुए किसी व्यापक संरचनागत (Structural) परिवर्तन की दिशा में बनी प्रगतिवादी सोच को नकारने की प्रवृत्ति बढ़ी है, वहीं दूसरी ओर परम्परागत रूढ़िवादी एवं प्रभावशाली स्वार्थी तत्त्वों को अतीत के सौन्दर्य के गुणगान के माध्यम से अपने प्रभुत्व को पुन:स्थापित करने का एक नया अवसर प्राप्त हो गया है।

---

१. जीन फ्रैकायस ल्योटार्ड, द पोस्ट मॉडर्न कंडीशन्स, १९७९।

२. फिलॉसाफिकल डिसकोर्स ऑफ मॉडर्निटी, १९८५।

इस दृष्टि से **फ्रांसिस फुकुयामा** की 'इष्ड आफ हिस्ट्री'— (End of History) और 'इण्ड आफ आइडियोलॉजी' जैसी अवधारणाओं को चुनौती किसी प्रगतिवादी दर्शन के बजाय उन पुनरुत्थानवादी (Revivalist) और कट्टरपंथी (Fundamentalist) आन्दोलनों से अधिक प्राप्त हुई है, जो स्वयं में नये भौतिकतावाद से उपजी रुग्ण मानसिकता का परिणाम है। शायद इसीलिए अभी हाल में प्रकाशित फुकुयामा की नई कृति **ट्रस्ट** में उन नैतिक तत्त्वों की आवश्यकता पर बल दिया गया है, जो पूँजीवादी भौतिकतावाद को बनाये रखने की पूर्वशर्त (Pre-Condition) समझे जा सकते हैं। दूसरी ओर **सैमुएल पी० हंटिंग्टन** जैसे पश्चिमी समाज वैज्ञानिक 'द क्लैश आफ सिवलिजेशन एण्ड द रीमेकिंग आफ द न्यू वर्ल्ड आर्डर' जैसी रचना के माध्यम से पश्चिमी पूँजीवादी प्रजातन्त्रों को उनके जगत् की नई सभ्यता और संस्कृति के अधिक अनुरूप मानते हुए उसे ही विश्व की नियति घोषित करने से भी नहीं चूकते हैं और इसके निर्माण के लिए उन संस्कृतियों से संघर्ष को अपरिहार्य मानते हैं, जिनमें इसके अनुकूलन की क्षमता विकसित नहीं हुई है। कुल मिलाकर वर्तमान सदी के अन्तिम दशकों और आगामी सदी के बारे में पश्चिमी समाज वैज्ञानिकों की दृष्टि से यह बात छिपी नहीं रह गई है कि पश्चिमी जगत् के प्रभुत्व में निहित पूँजीवादी साम्राज्यवाद ने, जिसे अब वैश्वीकरण (Globalization) के बजाय अभी हाल के डावेस (स्विटजरलैंड) सम्मलेन में ग्लोबिलिटी (वैश्वीकरण की पूर्णाहुति) जैसे शब्द से अभिहित किया गया है, विश्व के समक्ष एक बड़े संकट को जन्म दे दिया है। **जार्ज सोरोस** ने इसे अपनी नई कृति 'क्राइसिस आफ ग्लोबल कैपिटलिज्म' के रूप में अभिव्यक्त किया है, तो **अमर्त्य सेन** जैसे अर्थशास्त्री उसके समाधान के लिए 'जनकल्याणकारी व्यवस्थाओं' को सक्रिय और प्रभावी बनाने का सुझाव देने में लगे हैं, जिसका अभिप्राय अंततः पूँजीवादी आर्थिकी और उसकी सहायक आधुनिक तकनीकी (Technology) की सफलता के लिए इसके लाभों से वंचित समूहों/तबकों को सुनियोजित रूप से उसके अनुकूल बनाना ही लगता है, न कि कोई आधारभूत संरचनागत परिवर्तन या संशोधन।

उपुर्यक्त सभी व्याख्याएँ या प्रतिपादन कुल मिलाकर आज के समाज वैज्ञानिक और विशेष रूप से कमजोर देशों के समाजचितन्कों के लिए केवल दो ही विकल्प छोड़ते हैं- या तो व्यवस्थाओं के आधरभूत दोषों के निवारण से जुड़े सार्वभौम सिद्धान्तों या वैचारिकी को ठंडे बस्ते में डालकर वैश्विक पूँजीवाद और उसके तकनीकी अभिकरण के अन्तर्गत सामाजिक समस्याओं का ऊपरी उपचार ढूँढ़ते रहना, जिसमें जनसंख्या विस्फोट या दबाव पर नियन्त्रण, पर्यावरण सुधार, पूँजीवादी तकनीकी अभिकरणों, संस्थाओं और संगठनों का अधिकाधिक प्रसार, कतिपय सतही जनकल्याणकारी कार्यक्रम और तकनीकी योग्यताओं को बढ़ाने के उपदेश देना सम्मिलित है, या प्रगतिवादी विचारों से पलायन और अतीत की नई मोहग्रस्तता से उत्पन्न पुनरुत्थानवादी प्रतिपादनों के प्रत्यक्ष या मौन अनुमोदन की विवशता है। मानव सभ्यता और संस्कृति की किसी स्पष्ट दिशा को समझ पाने के अभाव में आज की मानवता उस समाज-वैज्ञानिक से क्या उम्मीद रख सकती है, जो स्वयं एक भटकाव में उलझा हो, जिसके लिए मानव समाज की प्रगति का कोई स्पष्ट मॉडल न रह गया हो, जो समाज के विकास की दिशा में किसी सकारात्मक संरचनागत परिवर्तन, संशोधन या सर्वकल्याणकारी व्यवस्था के निर्माण के प्रति अनिश्चित हो चुका हो, जो या तो पूँजीवादी तूफान के सामने हथियार डाल चुका हो अथवा स्वयं अपनी अस्मिता की तलाश में पुनरुत्थानवादी प्रतिपादनों का प्रवक्ता बन गया हो और दुनिया के अधिकांश बेबश, तिरस्कृत और शोषित समूहों या तबकों के उत्थान से युक्त एक विसंगतिविहीन समाज की रचना की बात जिसे खोखली लगने लगी हो।

निस्सन्देह, आज के समाजवैज्ञानिक के लिए यह प्रश्न तब तक पेचीदा ही रहेगा, जब तक वह इन प्रतिपादनों और स्वयं अपनी स्थिति को अपने काल विशेष के संपूर्ण संदर्भ में नहीं जानेगा और अपनी भूमिका के ऐतिहासिक संदर्भ को समझने की चेष्टा नहीं करेगा। ऐतिहासिक संदर्भ से तात्पर्य निश्चितत: किसी काल (Time) और क्षेत्र (Space) में निहित प्राकृतिक, पर्यावरणीय, भौगोलिक, जनसंख्यागत, तकनीकी और उन सभी भौतिक परिस्थितियों के साथ ही सम्बन्धित जन समूहों की सांस्कृतिक परम्परा और मूल्यबोध से है, जो उसमें उपस्थित व्यक्ति की मानसिकता और सामूहिक संस्थाओं को अभिव्यक्ति और आकार देती हैं।

अपनी स्थिति में जड़वत् फँसा हुआ व्यक्ति उन अंतर्धाराओं को समझने में असफल होता है, जो भूत से उसके वर्तमान और वर्तमान से उसके भविष्य की दिशा का निर्धारण करती हैं, पानी के बहाव की तरह ढलान खोजती रहती हैं, जहाँ अधिक से अधिक पानी समा सके, सागर बन सके ।

मानव सभ्यता के इतिहास को देखें तो शायद ही कोई काल और क्षेत्र ऐसा रहा हो, जब अनेक प्रकार की चिंतनधाराएँ और परस्पर विरोधी समाज–दर्शन साथ ही साथ अस्तित्व में न रहे हों । यह बात अलग है कि उनमें से प्रधानता या अभिव्यक्ति उन्हें ही प्राप्त हुई है, जिन्हें भौतिक सत्ताधारी वर्ग या समूह का संरक्षण प्राप्त हुआ है अथवा जिन्हें व्यवहृत कराने के लिये यथानुरूप संस्थाओं और ऐसी व्यवस्थाओं का निर्माण किया गया हो, जो सत्ताधारी या प्रभुतासंपन्न वर्ग के अनुकूल रहीं । स्वभावत: भिन्न या विरोधी दृष्टियों को गौण भी बनाये रखा गया। फिर भी विचारों की स्वायत्तता को नकारा नहीं जा सका है और किसी भी स्थापित व्यवस्था को ऐसे पुराने या नये विचारों की चुनौती हमेशा झेलनी पड़ी है, जो अपेक्षाकृत अधिक संगतिपूर्ण रहे हैं। यहाँ हमारा उद्देश्य विभिन्न दर्शनों की चर्चा न करके उन ऐतिहासिक संदर्भों को समझना है, जिनमें समाजवैज्ञानिकों और दार्शनिकों को वर्तमान और दृष्टिगत भविष्य में अपनी स्थिति को स्पष्ट करना या पुन:परिभाषित करना है ।

प्रारम्भ से देखें, तो आदिम या प्रारम्भिक समाजों की समाज-व्यवस्था निश्चित ही किसी विचार या दर्शन से उत्प्रेरित न होकर सहज संवेगों और संवेदनाओं की ही देन रही, जिसका स्वाभाविक मन्त्र था सहकार और समता । क्रमश: विभिन्न सभ्यताओं के विस्तार, व्यावसायिक वर्गीकरण, स्तरीकरण के साथ ऐसे समाजों का निर्माण हुआ, जिसका निर्देशक सत्ताधारियों के अपने हित में संरक्षित वह अल्पसंख्यक शिक्षित अथवा भाषाज्ञानी वर्ग बनता गया, जिसने समाज को संचालित करने के लिए धर्म का सहारा लिया और अपनी व्यवस्थाओं को शास्त्रीय रूप प्रदान किया। निर्दिष्ट संस्कृति समूहों से इतर समूहों को असंस्कृत समूह माना गया और उन पर नियंत्रण या उनके शोषण को अपना दैवी अधिकार समझा गया। आधुनिक काल के पूर्व तक चलती रहीं सभी समाज व्यवस्थाओं में इस धार्मिक तत्त्व की प्रधानता रही जो, व्यावहारिक स्तर पर कुछ समूहों और

प्रभुतासंपन्न लोगों की शक्ति को बनाये रखने और अधिसंख्य मानव समूहों को अबोध और परमुखापेक्षी बनाए रखने में सहायक रहा। अगर इसका विरोध हुआ भी तो अधिकांशत: पलायनवादी या स्वतन्त्र धार्मिक आन्दोलनों के रूप में ही; परन्तु उन भौतिक सत्ताओं पर चोट कर किसी नई सामाजिक संरचना के निर्माण का प्रयास लगभग नगण्य ही रहा ।

यदि आधुनिक काल को उसकी किसी सर्वाधिक विशिष्ट प्रवृत्ति से परिभाषित किया जा सकता था, तो वह उसी भौतिक सत्ता के लोकतन्त्रीकरण और ज्ञान के सर्वसाधारणीकरण की सकारात्मक विचार दृष्टि ही है, जिसने सामाजिक समस्याओं और संकटों का समाधान ईश्वरीय या दैवी विधानों में देखने के बजाय भौतिक धरातल पर ही खोजने का आग्रह पैदा किया। योरोपीय पुनर्जागरण हो, चाहे राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण, जनक्रांतियाँ और विभिन्न राष्ट्रवादी स्वतन्त्रता आन्दोलन सभी ने इस बात की ही पुष्टि की कि मानव स्वयं अपनी नियति का निर्माता है, समूह और सामूहिकता उसकी शक्ति है और सभी की भागीदारी या प्रतिनिधित्व से युक्त राजनीतिक प्रणालियाँ और सामाजिक संस्थाएँ उसके वर्तमान और भविष्य का सर्वापेक्षित रूप बनाने में सक्षम हैं। **विको, काण्ट, हर्डर, हिगेल, ऑगस्ट कॉम्टे, हर्बर्ट स्पेंसर** आदि अनेक पश्चिमी दार्शनिकों और समाज-द्रष्टाओं ने अपनी-अपनी तरह से मानव सभ्यता की नियति को मानव के ही हाथों में होने के तर्क दिये और ऐसी अनेक व्याख्याओं और दार्शनिक प्रतिपादनों के बीच से एक बात जो सर्वमान्य रूप से उभरी, वह थी मानवीय व्यवहारों की कार्य–कारण आधारित निश्चितता (Determinism), अप्रासंगिक सामाजिक संरचनाओं की समझ और वांछित सामाजिक संरचना का दिशाबोध, जिसने अध्ययन के संस्थागत और व्यावसायिक (Professional) कार्यक्रम की शुरुआत की । १८८८ में जब अमेरिका में **एडवर्ड बेलामी** ने 'लुकिंग बैकवर्ड' नाम से प्रकाशित अपनी पुस्तक में सन् २००० ई० की ऐसी मानव सभ्यता का चित्र खींचा । जब अपराध और असमानता अतीत की बात हो चुकी, तो उसकी इस आदर्शवादी समाजवादी (Utopian socialism) कल्पना से उत्प्रेरित होकर अमेरिका में १६० ऐसे क्लब भी स्थापित हो गये, जो इस कल्पना को साकार करने का स्वप्न पाल रहे थे ।

भावी मानव समाज का सुखद स्वप्न देखने वाले सभी समाजचिन्तक और नेता समकालीन व्यवस्थाओं और पूँजीवादी/साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों से संतुष्ट रहे हों अथवा भविष्य में किसी सकारात्मक दिशा में उसके अग्रसर होने के प्रति आश्वस्त रहे हों, ऐसी बात नहीं थी। उसी काल में **कार्ल मार्क्स** ने अपने वैज्ञानिक समाजवाद के तहत उत्पादन के स्रोतों, साधनों और वितरण को सामूहिक नियंत्रण या सर्वहारा के नियंत्रण में सौंपने की वकालत की, तो अनेक संसदीय लोकतन्त्रवादी भौतिक साधनों के आम लोगों के हित में नियमन के सुझावों तक सीमित रहे । १८९४ में अमेरिका में **हेनरी डेमरेस्ट लॉयड** ने 'वेल्थ अगेंस्ट कॉमन वेल्थ' की रचना कर स्वच्छन्द पूँजीवाद और एकाधिपत्यों के दोषों को उद्घाटित किया । इस दृष्टि से भारत में स्वामी **विवेकानन्द** जैसे समाजद्रष्टा द्वारा भारतीय अध्यात्म और पश्चिमी भौतिकतावाद के बीच संतुलन का आह्वान और **महात्मा गाँधी** का मानवतावादी दर्शन भी आधुनिक समाज-वैज्ञानिकों के लिए सकारात्मक सामाजिक अध्ययन की दिशा में एक युगधर्म जैसा सिद्ध हुआ । नवसाम्राज्यवाद के प्रत्यक्ष परिणामों के रूप में घटित प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्धों के बावजूद क्रमश: राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना, १९१७ की बोलशेविक क्रांति और चीन में साम्यवाद के उदय के साथ ही साथ अनेक राष्ट्रों को प्राप्त होने वाली स्वतन्त्रता की घटनाओं ने इस विश्वास को लगातार बल प्रदान किया कि मनुष्यता किसी न किसी मार्ग से अपने पुरुषार्थों के आधार पर अपना रास्ता खोज लेगी । ऐसा लगने लगा कि बीसवीं शताब्दी समाप्त होत-होते मानव सभ्यता अपने उस वास्तविक लक्ष्य की ओर अग्रसर हो चुकी होगी, जब प्रेम, सद्भाव, परस्पर सम्मान, समरसता और समता का बोल-बाला होगा और आधुनिक समाजवैज्ञानिक सही अर्थों में उसके मार्ग के निर्माता और निर्देशक के रूप में उसके इंजीनियरों की भूमिका निभा रहे होंगे ।

संभवत: बीसवीं सदी के मध्यकाल तक अधिक प्रभावी रूप से बनी रही इस अतिशय आशावादिता का ही परिणाम था कि उसके बाद के दशकों में प्रकट होने वाली नई चुनौतियों को देखते ही आधुनिक समाज-वैज्ञानिकों को जैसे साँप सूँघ गया लगता है। १९६० के दशक में जब **एलविन टॉफलर** ने 'फ्युचर शॉक' की रचना की, तभी इस बात का संकेत मिल गया था कि जल्दी ही मनुष्य का पुरुषार्थ पश्चिमी जगत् की पूँजीवादी व्यवस्था और उसके अनुरूप विकसित की गई

तकनीकी के सामने घुटने टेकने वाला है और वह उसे नियंत्रित, संयमित और जनकल्याणकारी बनाने के बजाय स्वयं उससे निर्देशित होने वाला है । अन्ततः सोवियत संघ के पतन और विघटन तथा अन्य साम्यवादी राष्ट्रों द्वारा प्रदर्शित दुर्बलताओं के साथ ही नवस्वतन्त्र और नवनिर्मित राष्ट्रों की राजनीति और आर्थिक तन्त्र के भटकाव ने एक व्यापक हताशा और बौखलाहट पैदा कर दी है । अतिशय भौतिकतावाद, उपभोक्तावाद, आर्थिक असमानता, हिंसात्मक और भ्रष्ट प्रतिद्वन्द्विता, अपराध, भ्रष्टाचार और मानसिक असन्तुलन के साथ बढ़ती हुई अराजकता और आतंकवाद जैसी स्थितियों ने भय और आशंकाओं का ऐसा वातावरण निर्मित किया है कि आम आदमी से लेकर बड़े से बड़े समाज वैज्ञानिक तक जैसे सन्निपात में बड़बड़ाते दिखाई दे रहे हैं। एक ओर प्रतिष्ठित और संपन्न देशों द्वारा चलाये जा रहे जगतीकरण (Globalization) अर्थात् उनके आर्थिक एवं तकनीकी वर्चस्व के दबाव में कमजोर देशों को अपनी राष्ट्रीय सीमाओं और प्रतिरोधों को शिथिल करने और उनकी संस्कृति को भी स्वीकार कर लेने की विवशता दिखाई दे रही है, तो दूसरी ओर हर छोटा–बड़ा समूह किसी सर्वकल्याणकारी वैश्विक मानवता और यहाँ तक कि अपनी स्वस्थ राष्ट्रीय संकल्पना के प्रति भी उदासीन होता हुआ अत्यन्त संकीर्ण अर्थों में अपनी अस्मिता की तलाश में पुनरुत्थानवादी धाराओं में बहता दिखाई दे रहा है। हाल में पूँजीवादी जगत और उसकी व्यवस्थाओं के चमत्कारों का भेद का कुछ और खुलासा होने तथा एशियन टाइगर्स के अर्थतन्त्रों के पतन के साथ ही साथ नई भौतिक संरचनाओं में सम्पन्न देशों से होड़ न कर पाने वाले कमजोर देशों में पुनरुत्थानवादी मानसिकता कुछ और उन्मादित रूप लेती ।दखाई पड़ रहीं है और प्रत्येक क्षेत्र में सामूहिकता, सहअस्तित्व, सहिष्णुता, समता और समरसता के आदर्श की बलि दी जा रही है । कहना न होगा कि इस झंझावात में स्वयं उलझे हुए आज के समाज वैज्ञानिक के लिए मानवसमाज की समस्याओं के समाधान की बात कालातीत लगती हो और वह मानवसमूहों के व्यवहारों को उनके तात्कालिक, संकीर्ण, स्थानीय और संकुचित सन्दर्भों में ही विवेचित कर अपनी भूमिका की इतिश्री मान लेता हो, अथवा किसी अल्पसंख्यक प्रभावी समूह के व्यवहारों को सामान्य प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार कर लेता हो ।

इस ऐतिहासिक सन्दर्भ में समाजवैज्ञानिक की परिप्रेक्ष्यगत समस्या का समाधान सम्भवतः उस मूल दृष्टि में ही खोजा जा सकता है, जो मानवतावादी

पुरुषार्थों को प्रधान मानती है और नई या पुरानी विषमताओं और विसंगतियों को कार्य–कारण के आधार पर व्याख्यायित करने और उसके अनुसार संशोधन या परिमार्जन की क्षमता प्रदान करती हो । अतः आज के समाज-वैज्ञानिक के लिए इस आधार पर एक दृढ़ और स्पष्ट राय बनाने और वस्तुस्थितियों को उनके समग्ररूप में देखते हुए मानवता के हित में उचित सुझाव देने का साहस जुटाना एक बड़ी शर्त है। परिप्रेक्ष्यों की दृष्टि से आज के समाज-वैज्ञानिक को राष्ट्रीय और वैश्विक दोनों ही सन्दर्भों में अपने अध्ययन में सूक्ष्म, संकुचित और सीमित को विस्तृत और व्यापक से जोड़कर देखने का प्रयास करना होगा और यही मानवता के लिए उसकी सार्थक भूमिका की कसौटी बनेगा ।



दर्शन, समाजशास्त्र एवं समाज-विज्ञान में अन्तर्विषयी अध्ययन की आवश्यकता : एक पद्धतिगत विमर्श

डॉ० रजनीश कुमार शुक्ल*

दर्शन और समाजशास्त्र, ये दोनों ही ज्ञान के ऐसे शास्त्रीय विभाजक हैं, जो मनुष्य और मनुष्य के समूचे परिवेश को अपनी अध्ययन सीमा में व्याप्त करते हैं। ये दोनों विधाएँ मानव और समाज की क्रिया, रचना, उसकी ऐतिहासिक परम्परा, नैतिकता, प्राकृतिक एवं अतिप्राकृतिक विश्वास, तथ्य, आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक संक्रियाओं, विश्वासों को अपना विषय बनाती हैं। इतना ही नहीं है कि दोनों विधायें विषय-सामग्री को लेकर परस्पर एक-दूसरे को अतिच्छादित करती हैं। समाजशास्त्र, जो प्रत्यक्षानुभव का विज्ञान है और प्रेक्षण विधि पर आधारित है, वह अनानुभविक दार्शनिक विधि से पूरी तरह से प्रभावित दिखायी देता है। जबकि दर्शन, जो समीक्षा का शास्त्र है, जिसका कार्य विविध विज्ञानों में प्रेक्षण-विधि से प्राप्त तथ्यों का विश्लेषण एवं समीक्षा करना है, आनुभविक निरीक्षण से परिपूर्ण दिखाई देता है ।

सामान्यत: दोनों मानव-विज्ञान की सर्वाधिक व्यापक शाखाएँ हैं तथा पद्धतिगत तथ्य की दृष्टि से एक ही प्रकार की विद्या को विभाजित कर, पद्धति को महत्त्वपूर्ण तथा विद्या में प्रतिपादित सिद्धान्तों, दृष्टियों को गौण बनाने के इतिहास में सर्वाधिक प्रखर उदाहरण हैं । यद्यपि यह तो सभी जानते हैं कि समाजशास्त्र शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आगस्ट काम्टे ने किया था; किन्तु वह दुर्खीम है, जिसने

---

* प्राध्यापक, तुलनात्मक धर्म-दर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

दर्शन से पृथक् समाजशास्त्र को एक अलग विज्ञान के रूप में स्थापित किया । परिणामत: आज समाजशास्त्र का इतिहास आगस्ट काम्टे से शुरू होता है और इसे स्वतन्त्र विद्या-स्थान के रूप में दुर्खीम ने मान्यता दिलवायी तथा मैक्स वेबर ने इसको अलग विद्यास्थान के रूप में परिपूर्ण एवं परिनिष्ठित आधार प्रदान किया । आज न तो दर्शन का कोई विद्यार्थी यह मानने को तैयार है कि समाजशास्त्र के अन्तर्गत आनेवाली विषय-सामग्री उसी प्रकार दर्शन नामक विद्यास्थान का आयाम है, जिस प्रकार ज्ञानमीमांसा तथा यह भी स्वीकार करने को तैयार नहीं है कि, यह भी अनानुभविक विधि से ओत-प्रोत विद्या है, इसी प्रकार समाजशास्त्र के भी अध्ययनकर्ता यह मानने को तैयार नहीं हैं कि समाजशास्त्र, दार्शनिक विचारणा का ही एक भाग है । समाजशास्त्र की अध्ययन-विधि उसी प्रकार से अनुभवनिरपेक्ष या अनानुभविक-विधि से परिपूर्ण है, जिस प्रकार कि दार्शनिक चिन्तन, जिसके सम्बन्ध में उसकी आपत्तियाँ हैं । यद्यपि कुछ जर्मन विचारक हैबरमास जिनमें से प्रमुख हैं, यह मानते हैं कि समाजशास्त्र तथा दर्शन इन दोनों के बीच की विभाजक रेखा अत्यन्त अस्पष्ट है और दोनों को नितान्त विविक्त रूप में नहीं समझा जा सकता ।

समाजशास्त्री, जिस प्रकार दार्शनिक विचारणा और दर्शन की प्रविधि की अवहेलना करते हैं । उसी प्रकार आधुनिक दार्शनिक भी, समाजशास्त्र की अपेक्षा करते दिखाई देते हैं, इसके लिए आधुनिक पाश्चात्य विचारकों तथा उससे प्रभावित भारतीय दार्शनिकों के भी कुछ तर्क हैं । प्रथम तो ये मानते हैं कि समाजशास्त्र विज्ञान नहीं है, अत: उसके निष्कर्ष सर्वदा सन्देह से परे नहीं हो सकते हैं, द्वितीय यह कि यदि किसी सीमा तक समाजशास्त्र को मानवीय विज्ञान की सीमा में ले भी आया जाय, तो भी इसके निष्कर्ष दार्शनिक विश्लेषण की दृष्टि से उपयोगी नहीं हैं; किन्तु सर्वदा ऐसा नहीं रहा है, जिस प्रकार समाजशास्त्र का अलगाव दुर्खीम के बाद स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होता है। उसी प्रकार दर्शन में भी हाइडेगर के बाद के चिन्तन में, अर्थात् हाइडेगर के बाद प्रस्तुत विधि के प्रभावी होने के बाद दार्शनिक क्षेत्र में विषयगत निश्चितता का आधान हुआ और यह माना जाने लगा कि दर्शन प्रतीयमान सत्ता का व्यवस्थित विवेचन है; किन्तु समाजशास्त्री भी यह दावा तो करते ही हैं कि, वे उसी का विवेचन करते हैं जो अस्तित्व में है, या इससे

बढ़कर सत्तात्मक अस्तित्व वाला है । किन्तु समस्त विवाद इसके पद्धतिगत विमर्श में ही केन्द्रित है । विवेचन की सामग्री की दृष्टि से तो जैसा मैं पूर्व में ही कह चुका हूँ, दोनों ही में अत्यन्त समानता है । किन्तु दर्शन के क्षेत्र में संवृति विज्ञान के पद्धतिगत उभार के बाद इसके क्षेत्र-विस्तार में एक प्रकार का संकोच आया । बाद में प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों के द्वारा इसकी सीमाओं को और संकुचित किया गया और दर्शन शुद्ध रूप से समीक्षाशास्त्र बन करके रह गया ।

समाजशास्त्र की दशा इस दृष्टि से और भी गंभीर दिखाई देती है । विद्यास्थान के रूप में अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की रक्षा के प्रयास में समाजशास्त्रियों ने अपने इतिहास को अत्यन्त सीमित कर लिया और किसी भी प्रकार से वे अपने शास्त्र को १९वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों से पीछे ले जाने को तैयार नहीं दिखते हैं । विशेषत: उन स्थितियों से ही अपना प्रारम्भ स्वीकार करते हैं, जब पश्चिम में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप एक नये किस्म की समाज-रचना आरम्भ हुई और उस नवीन समाज ने अपने को सम्पूर्ण ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यों एवं ऐतिहासिक उत्तरदायित्वों से मुक्त कर नये ढ़ग से अपनी संरचना को आकार देना प्रारम्भ किया। यह समाज प्राकृतिक संसाधनों के तकनीकी नियन्त्रण पर अपने को आधारित करके विकसित होता है । किन्तु यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि, इस प्रकार की समाज-रचना में चेतना को, विषयी को भी प्राकृत पदार्थों के संगठनात्मक नियन्त्रण से मुक्ति प्राप्त हो जाती है, और वह सामाजिकता के नियन्त्रण से मुक्त हो विषयीगत स्वातन्त्र्य को प्राप्त करने की दिशा में और अधिक आगे बढ़ जाता है । शायद समाजशास्त्री इस खतरे के प्रति सावधान नहीं थे । परिणामत: समाज की समस्त संक्रियाओं को उन्होंने अत्यन्त आनुभविक आधार पर ही समझने का प्रयास या कि परिणामत: उत्पादकता सम्बन्ध एवं उत्पाद वितरण पर आधारित होकर ज्ञान को रूपायित करने के बजाय मनस् और सामाजिक पर्यावरण के आलोक में व्याख्यायित करने का प्रयास प्रारम्भ किया ।

किन्तु ज्ञान में किसी भी प्रकार के अनुभवातीत या प्राक् आनुभविक तत्त्व की संभावना के निषेध के पीछे समाजशास्त्रियों की यह सोच है कि समाजशास्त्र को भी प्राकृतिक विज्ञान के समक्ष खड़ा किया जा सके । इस हेतु उन लोगों ने इस प्रकार से समाजशास्त्र का स्वरूपावधारण प्रस्तुत किया कि, औद्योगिक क्रान्ति के

पश्चात् की समाज-रचना के अध्ययन से ही इसकी शुरुआत मानने की आत्यन्तिक बाध्यता भी हो तो उसे समाजदर्शन के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है । समाजशास्त्र सहित किसी भी सामाजिक विज्ञान की शास्त्रीय संरचना के अस्तित्व की स्वीकृति नहीं हो पाती।

इसके पीछे प्रस्तुत किये गये तर्क अत्यन्त मजेदार हैं और इनका विश्लेषण आवश्यक है । प्रथमत: तो समाजशास्त्री यह मानते हैं कि सामाजिक संरचना जिस प्रकार की प्रविधि की अपेक्षा करती है, वह आनुभविक प्रविधि है; किन्तु दार्शनिक विचारणा के क्षेत्र में किसी भी प्रकार से आनुभविक निर्देशों एवं उद्धरणों से तथ्यों का ग्रहण नहीं हो सकता । अत: दर्शन एवं समाजशास्त्र दोनों में प्रविधिगत भेद होने के कारण विषयगत भेद भी हैं ।

इस समूची मान्यता का परिणाम यह हुआ कि, समाजशास्त्र अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों के बाह्य अध्ययन तथा उनमें आने वाले परिवर्तनों के बाह्य कारणों के विश्लेषण का शास्त्र बन बैठा । परिणामत: एक ही विश्व के सम्बन्ध में तीन प्रकार की दृष्टि बनने लगी और त्रिविध जगत् का अस्तित्व स्वीकार करने की बाध्यता हुई। जगत् तथा उसके सम्बन्ध में होने वाले ज्ञान के अत्यन्त विविक्त रूप में प्रस्तुत करने से विविध प्रकार की समस्यायें खड़ी हुई । उन सभी पर सम्यक् विवेचन करते हुए कहा जा सकता है कि दर्शन एवं समाजशास्त्र के विभाजन तथा इनकी नितान्त असम्पृक्त स्थापना के प्रयास ने अन्तर्विषयी अध्ययन की प्रवृत्ति को हतोत्साहित किया है । परिणामत: जगत् के प्रति अखण्ड, समग्र या पूर्णतावादी दृष्टि का अभाव दृष्टिगोचर होता है, जिसके कारण मूल्यों का संकट खड़ा हुआ है । क्योंकि समाजविज्ञान विशेषत: समाजशास्त्र के अध्येताओं का यह अत्यन्त गंभीर प्रयास रहा है कि ऐसे सामाजिक विज्ञान की स्थापना की जाय, जो प्राकृतिक विज्ञानों के समान तटस्थ या निरपेक्ष स्वभाववाला हो । इस निरपेक्षता की प्राप्ति के प्रयास ने समाजविज्ञान को निर्गुण स्वभाववाला बना दिया ।

यहाँ समाजशास्त्रियों एवं अन्य समाजवैज्ञानिकों को यह ध्यान नहीं रहा कि प्राकृतिक विज्ञान विशुद्ध सैद्धान्तिक ज्ञान हैं तथा इनके प्रयोग का क्षेत्र तकनीक या विशेष प्रकार की अभियान्त्रिकी है । निर्गुण एवं निरपेक्ष विज्ञान तकनीकी प्रयोग

के स्तर पर निर्गुण एवं निराकार नहीं रहते हैं । उनमें मूल्याधान और उनका मूल्यांकन सहज रूप से होता है; किन्तु समाजशास्त्र एवं समाज-विज्ञान के क्षेत्र में ऐसा नहीं है ।

यद्यपि मूल्यांकन एवं मूल्याधान, मानव-व्यवहार नामक अत्यन्त व्यापक वर्ग का एक अंग है, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि मूल्यांकन एक प्रकार का मानवीय व्यवहार है । सम्बन्धों की भाषा में विचार किया जाय, तो इन दोनों के बीच बराबरी का सम्बन्ध है तथा दोनों ही समान विस्तार रखते हैं । मूल्यांकन या मूल्य सृजन का शास्त्र दर्शन है, तथा मानवीय व्यवहारों के अध्ययन का शास्त्र समाजशास्त्र या अन्य समाजविज्ञान है ।

इस प्रकार ये सभी मिलकर के मानवीय विद्याओं के विशाल शास्त्र या तन्त्र का निर्माण करते हैं । मानवीय विद्याओं में समाजशास्त्र सहित समस्त विज्ञानों, कला, अध्ययनों एवं कलाओं, नियामकविज्ञान और अध्यात्मविद्या को समाविष्ट किया जाता है।

मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन अत्यन्त जटिलता से युक्त है । यह जटिलता भौतिक रचनात्मकता की जटिलता नहीं है; अपितु भौतिक, नैतिक, आवेगात्मक तथा ज्ञानात्मक प्रवृत्तियों के परस्पर संश्लेषण के कारण ही यह जटिलता है । अत: निश्चित रूप से मानव व्यवहार के अध्ययन का ठीका किसी भी एक विज्ञान या विद्यास्थान को नहीं दिया जा सकता । चाहे वह समाजशास्त्र या दर्शन ही क्यों न हो, जो कि अपनी विषय-सामग्री के रूप में समस्त मानव व्यापार को ग्रहण करते हैं । इसके पीछे दोनों का पद्धतिगत विभेद ही मूल कारण है । स्पष्ट है कि आनुभविक विधि तथा प्राक् आनुभविक अथवा अनुभवनिरपेक्ष विधि एकांगी रूप से मानव तथा उसके द्वारा निर्मित जगत् का अध्ययन नहीं कर सकते हैं; किन्तु समाजशास्त्र तथा उसके अनुसरण में अन्य एकदेशीय समाजविज्ञानों ने अनुभव के आधार पर मानव व्यापार की व्याख्या का प्रयास किया और औद्योगिक युग के समापन के साथ-साथ मानवसमाज और एकाकी मनुष्य का व्यवहार दोनों ही जीवनोद्देश्य तथा जीवनमूल्य के संकट से ग्रसित हो गये ।

इसी संकट को केन्द्र में रखकर मैंने यह प्राक्कल्पना स्वीकार की है कि समाजशास्त्र तथा दर्शन ये दोनों विद्यायें समस्त प्रकार के अन्तर्विषयी अध्ययन के विरुद्ध खड़ी हैं । वस्तुत: प्रत्येक मानवीय व्यापार एवं व्यवहार के दो पक्ष हैं---एक व्याख्या का पक्ष, दूसरा अधिगम का पक्ष । व्याख्या का पक्ष दत्तोपान्त पर आधारित है और समाजशास्त्र एवं अन्य अनुषङ्गी अध्ययनों में इस पर जोर दिया जाता है । दूसरा पक्ष मानवीय व्यवहारों के अधिगम के सिद्धान्तों एवं परिकल्पना पर आधारित है । दार्शनिक अध्ययन इसी पद्धति पर अपने को आधारित करता है । इन दोनों में से किसी एक पर जोर देने से समग्रता में अध्ययन संभव नहीं है।

उपर्युक्त का तात्पर्य यह है कि समाजशास्त्र तथा अन्य विज्ञान अपनी अध्ययन प्रक्रिया को व्याख्या विधि मानते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि किसी तथ्य अथवा घटना की व्याख्या, या यह दिखाना है कि वह किस प्रकार किसी कारण समूह से नि:सृत होती है । किसी भी घटना अथवा तथ्य के सम्बन्ध में व्याख्या के द्वारा प्राप्त कारण समूहों की यह पहचान तथा तद्वत् घटना के कारण को देखकर, दो घटनाओं में सम्बन्धों को निर्धारित करना व्याख्या का सामान्यीकरण है । व्याख्या की विधि प्राकृतिक विज्ञानों के सर्वथा अनुकूल है । किन्तु मानव व्यवहार के निदर्श वास्तविक रूप से पुनरावृत्ति नहीं प्राप्त करते हैं । अत: इनकी पुनरावृत्ति सम्भव नहीं है । इसके अतिरिक्त व्याख्यात्मक अध्ययन के लिये चुनी गयी घटनाओं के चर एवं अचर दोनों ही अत्यन्त संश्लिष्ट होते हैं, जिसके कारण उनका स्वरूप अभिनिर्धारण भी कठिन होता है ।

समस्त सामाजिक विज्ञान सामान्य कारणों की प्रस्तुति इस आधार पर करते हैं कि मानव प्रकृति सर्वत्र एक है, अर्थात् एक घटना के सम्बन्ध में प्राप्त निष्कर्ष समान कारणता के आधार पर अन्य घटना के निष्कर्ष के सम्बन्ध में भी निर्णायक हो सकते हैं । किन्तु यहाँ ध्यातव्य है कि मानव-प्रकृति नाम की कोई स्थिर वस्तु नहीं है । मनुष्य की प्रकृति या उसका स्वभाव निरन्तर परिवर्तनशील है । किसी परिस्थिति विशेष में विभिन्न मनुष्य विभिन्न प्रतिक्रियायें व्यक्त कर सकते हैं । अर्थात् जिस प्रकार समान परिस्थिति एवं कारणों की स्थिति में प्राकृतिक

वस्तुओं में निश्चित रूप से एक प्रकार की प्रतिक्रिया होती है, मानव व्यवहार के सम्बन्ध में इस प्रकार की अनिवार्यता को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है ।

यही कारण है कि मानव व्यवहार के अध्ययन के सम्बन्ध में व्याख्या के अतिरिक्त अधिगम विधि को भी स्वीकार करना होगा । क्योंकि मानव व्यवहार का सर्वाधिक विशिष्ट पक्ष यह है कि, मनुष्य आत्मावगति रखता है । प्रत्येक मानव व्यापार उस व्यापार के द्वारा पूर्त होने वाले प्रयोजन की अपेक्षा रखता है । इसके अतिरिक्त मानव व्यवहार का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष उसका मननात्मक या आलोचनात्मक होना भी है और यह कथमपि वैज्ञानिक बोध नहीं है; अपितु एक विशिष्ट प्रकार का मूल्यांकन है, जो मानव व्यापार में मूल्यवत्ता को समाविष्ट करता है । इसके साथ ही यह भी ध्यान रखना होगा कि मानव और उसके समस्त व्यवहारों की व्याख्या एवं मूल्यांकन के पूर्व भी कुछ आवश्यक शर्तें हैं, जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विश्लेषण है । विश्लेषण का विषय मनुष्य की वे क्रियायें हैं, जिनके द्वारा वह यथार्थ के विभिन्न पहलुओं की अवगति तथा कल्पनात्मक बोध प्राप्त करता है ।

उपर्युक्त विवेचना से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि मानव एवं उसके व्यवहार का अध्ययन, जिस प्रकार के प्रविध्यात्मक विस्तार या बहुलता की अपेक्षा करता है, उस प्रकार की स्थिति में एकदेशीय समाजविज्ञान अथवा एकांगी दार्शनिक चिन्तन से संभव नहीं है । उसके लिये एक ऐसी प्रणाली को स्वीकार करना होगा, जो दर्शन तथा समाजशास्त्र के बीच अन्तर्विषयी अध्ययन की प्रवृत्ति को बढ़ा सके एवं समाजशास्त्र के अनुषङ्गी अन्य विषयों के सम्बन्ध में भी अन्तर्विषयी अध्ययन की प्रक्रिया को विकसित कर सके ।

यह तभी संभव है जब दर्शन एवं समाजशास्त्र सहित सभी सामाजिक विज्ञानों के बीच संयोजन के सूत्रों एवं आधारों की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए उसकी तलाश प्रारम्भ की जाय ।



उपाश्रयी (सबाल्टर्न) इतिहास लेखन

प्रो. शैलेन्द्र प्रसाद पांथरी*

इतिहास लेखन के सन्दर्भ में प्राय: यह माना जाता है कि १९वीं शताब्दी के लगभग मध्य तक भारत शायद ही किसी वास्तविक इतिहास दर्शन का दावा कर सकता था[१] । पूर्ववर्ती काल में इस क्षेत्र में छुटपुट गम्भीर प्रयास यदा कदा ही हुए । इसका अर्थ यह नहीं है कि भारतीयों में इतिहास चेतना का अभाव था । दाण्डेकर, शेख अली, विन्सेन्ट स्मिथ, ए. एल. वैथम आदि इससे असहमत हैं । किन्तु इसकी अभिव्यक्ति प्राय: परोक्ष रूप से हुई । १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय विद्वान् इतिहास के आधुनिक विज्ञान, दर्शन व तकनीक से प्राय: अनभिज्ञ थे । भारत में यूरोपियनों के आगमन के साथ भारतीय इतिहास लेखन व इतिहास दर्शन में, अभिगम, प्रस्तुति व तकनीक की दृष्टि से भारी परिवर्तन आया और ऐतिहासिक साहित्य के भण्डार में भी वृद्धि हुई। इसका विकास भारत में ब्रिटिश सत्ता की शनै:-शनै: स्थापना एवं विस्तार तथा उसके संघात और इसके प्रति प्रतिक्रिया/अनुक्रिया के सन्दर्भ में हुआ। रमेशचन्द्र मजूमदार के अनुसार पिछली शताब्दी में भारतीय इतिहासकारों द्वारा भारत के इतिहास के अध्ययन की शुरुआत प्राय: यूरोपीय लेखन के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुई, जिन्होंने भारतीय इतिहास तथा संस्कृति को पूर्वाग्रहग्रस्त एवं विकृत रूप में प्रस्तुत किया[२]। अत: स्वाभाविक था कि भारतीय इतिहास लेखन का आरम्भ साम्राज्यवादी तथा राष्ट्रवादी धाराओं के रूप में हुआ। अनेक देशी-विदेशी विद्वानों ने वस्तुनिष्ठ इतिहास लिखने का भी प्रयास किया।

---

१. दाण्डेकर, रिसेण्ट ट्रेण्ड्स इन इण्डोलॉजी, पृ०- ३२

२. रमेशचन्द्र मजूमदार, 'नेशनैलिस्ट हिस्टोरियन्स' हिस्टोरियन्स ऑफ इण्डिया, पाकिस्तान ऐण्ड सीलोन, फिलिप्स (एड०) पृ०-४१६

---

* अवकाशप्राप्त आचार्य एवं अध्यक्ष-इतिहास-विभाग, म०गा० काशी विद्यापीठ, वाराणसी ।

आगे चलकर इतिहास लेखन साम्प्रदायिक भावना से भी प्रभावित हुआ और एक नई धारा प्रवाहित हुई । बीसवीं शताब्दी में मार्क्सवादी इतिहास लेखन का प्रभाव अत्यन्त प्रबल रहा । स्वातन्त्र्योपरान्त काल में दो धाराएँ प्रकट हुईं, जिनमें से एक नव-साम्राज्यवादी धारा है, जो कैम्ब्रिज स्कूल के नाम से जानी जाती है और दूसरी है-उपाश्रयी धारा, जिसे निम्नवर्गीय प्रसंग के नाम से भी पुकारा जाता है। इसमें पहले के समस्त इतिहास लेखन को ऐसा 'अभिजनवादी' इतिहास लेखन कहकर रद्द कर दिया गया है, जिसके पास जनता के इतिहास की समझ में योगदान देने को कुछ भी नहीं है । उक्त 'पुराने', 'संकुचित दृष्टि वाले' एक-पक्षीय 'आँखों पर पट्टी बाँधा हुआ', 'पंगु बना हुआ' तथा 'अभिजनवादी' इतिहास लेखन के स्थान पर उस इतिहास लेखन को स्थापित करने का प्रयास 'सबाल्टर्न'[१], 'उपाश्रयवादी' या 'जनता का इतिहास लेखन' कहा जाता है[२] ।

रंजीत गुहा (ऑन सम आस्पेक्ट्स आफ द हिस्टोरियोग्राफी ऑफ द कॉलोनियल इण्डिया, सेलेक्टेड सबाल्टर्न स्टडीज, पृ०३७-४३) की सम्मति में

१. सबाल्टर्न (उपाश्रयी) शब्द के बौद्धिक और राजनीतिक दोनों ही अभिहितार्थ हैं । इसका विपरीत शब्द है- प्रभुत्ववान् (Dominant) या अभिजन (elite) समूह जो सत्ताधारी है। सबाल्टर्न शब्द इटालियन मार्क्सवादी चिंतक ग्राम्शी के ''प्रिजन नोटबुक्स'' से लिया गया है। इसमें ग्राम्शी ने लिखा है कि हर इतिहास में वर्ग होता है और इतिहास का सारतत्त्व है शासक तथा शासित, अभिजन, प्रभुत्व या वर्चस्वधारी वर्ग और सबाल्टर्न या जनसामान्य के विशाल उदीयमान वर्ग के बीच दीर्घकालिक तथा अतिशय वैविध्यपूर्ण सामाजिक सांस्कृतिक अन्त:क्रिया । जनसामान्य पर कभी बलपूर्वक और कभी वैचारिक प्रभुत्व के द्वारा शासन किया जाता है। सबाल्टर्न का अर्थ है निम्नतर श्रेणी अथवा स्तर वाला । इतिहास के सन्दर्भ में इसका अभिप्राय वर्ग, जाति, वय, लिंग तथा पद या अन्य किसी प्रकार की अधीनता की स्थिति से है—रंजीत गुहा, ऑन सम आस्पेक्ट्स ऑफ द हिस्टोरियोग्राफी ऑफ कॉलोनियल इण्डिया, सेलेक्टेड सबाल्टर्न स्टडीज पृ०- ३७। सबाल्टर्न अध्येता इनमें स्त्रियों, किसानों, मजदूरों, आदिवासियों अल्पसंख्यकों, सुविधा व अधिकारों से वंचित जनों या विस्थापितों, शरणार्थियों, निर्वासितों के प्रच्छन्न अथवा दबा कर रखे गये विवरण प्रस्तुत करते हैं-एडवर्ड सईद, फोरवर्ड, सेलेक्टेड सबाल्टर्न स्टडीज, पृ०- Vi (६) ''सबाल्टर्न'' शब्द का अभिप्राय केवल कृषक वर्ग या निर्धन श्रमिकों या जनसामान्य से नहीं है, बल्कि यह ऐसी अवधारणा है, जिसमें प्रभुत्व (Superordination) व अधीनता के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध अन्तर्निहित हैं। साथ ही यह अवधारण इस सम्बन्ध की अन्यान्य क्रिया के विश्लेषण में भी सहायक है—रणजीत दास गुप्ता, द इण्डियन हिस्टॉरिकल रिव्यू वाल्यूम, १२, १-२, १९८६ पृ०-३८३

२. मृदुला मुखर्जी, 'औपनिवेशिक भारत में कृषक प्रतिरोध और कृषक चेतना, उपाश्रयवाद और उसके बाद', इतिहास अंक ३, १९९४, पृ०-१६३

भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास लेखन पर लम्बे समय से औपनिवेशिक तथा बुर्जुआ राष्ट्रवादी अभिजनवाद का वर्चस्व रहा है जो, दोनों ही भारत में ब्रिटिश शासन की वैचारिक देन हैं और अब नव-उपनिवेशवादी तथा नव-राष्ट्रवादी इतिहास लेखन के रूप में विद्यमान हैं । इनकी सम्मति में भारतीय राष्ट्र का निर्माण तथा राष्ट्रवादी चेतना का विकास मूलत: अभिजन (Elite) वर्ग की उपलब्धियाँ हैं । उपनिवेशवादी तथा नव-उपनिवेशवादी लेखन में इनका श्रेय ब्रिटिश औपनिवेशिक शासकों, प्रशासकों, नीतियों, संस्थाओं तथा संस्कृति को दिया जाता है, जबकि राष्ट्रवादी तथा नवराष्ट्रवादी लेखन में भारतीय अभिजन वर्ग के व्यक्तियों, संस्थाओं, गतिविधियों और विचारों को । उपनिवेशवादी - नव उपनिवेशवादी इतिहास लेखन भारतीय राष्ट्रवाद की व्याख्या ब्रिटिश या पाश्चात्त्य संघात के प्रभाव या उत्प्रेरणा के परिणाम के रूप में करता है । इसके अनुसार भारतीय राष्ट्रवाद उन गतिविधियों एवं विचारों का समुच्चय था, जिनके द्वारा भारतीय अभिजन औपनिवेशिक शासन के अधीन स्थापित एवं प्रदत्त संस्थाओं, सुअवसरों, युक्तियों अथवा संसाधनों से प्रेरित/ प्रभावित हुआ । अर्थात् भारतीय राष्ट्रवाद का उद्भव 'सीखने की प्रक्रिया' में हुआ । इसके पीछे कोई आदर्शवाद नहीं था, जो राष्ट्र का सार्वजनीन हितसाधन करने वाला हो। बल्कि वे औपनिवेशिक शासन द्वारा सृजित एवं उससे जुड़ी 'सम्पत्ति, सत्ता और प्रतिष्ठा' में भागीदारी चाहते थे । जबकि राष्ट्रवादी-नव राष्ट्रवादी इतिहास लेखन भारतीय राष्ट्रवाद को प्रधान रूप से आदर्शवादी प्रयास अथवा उपक्रम के रूप में प्रस्तुत करता है, जिसमें देशी अभिजन वर्ग के नेतृत्व में जनता पराधीनता से स्वाधीनता की ओर अग्रसर हुई । किन्तु इस इतिहास लेखन में, औपनिवेशिक सत्ता के साथ भारतीय अभिजन के सहयोगात्मक पहलू की तुलना में विरोधात्मक पहलू पर, शोषकों व उत्पीड़कों के बजाय अभिजनों को जनहित के नायकों के रूप में प्रस्तुत करने पर, औपनिवेशिक शासकों द्वारा (अभिजनों को अपने पक्ष में लाने के निमित्त) प्रदत्त सत्ता (अधिकार) व विशेषाधिकारों के लिए होड़ की तुलना में त्याग-वैराग्य की प्रवृत्तियों पर विशेष जोर दिया गया, जिसके फलस्वरूप भारतीय राष्ट्रवाद का इतिहास 'भारतीय अभिजन' की आध्यात्मिक जीवनी के रूप में लिखा गया है । (ऑन सम आस्पेक्ट्स ऑफ द हिस्टोरियोग्राफी ऑफ कॉलोनियल इण्डिया, सेलेक्टेड सबाल्टर्न स्टडीज, पृ० ३७-३८) ।

अभिजनवादी इतिहास लेखन को रंजीत गुहा ने औपनिवेशिक राज्य के ढाँचे, इसके विभिन्न अंगों की कार्यप्रणाली, इसके सहयोगी वर्गों के पक्षग्रहण (alianment) की प्रकृति, अभिजन वर्ग की वैचारिकी के कतिपय पक्षों, दोनों प्रकार (उपनिवेशिक एवं स्वदेशी) के अभिजनों के अन्तर्विरोध तथा पारस्परिक विरोध एवं गठबन्धनों की जटिलताओं, महत्त्वपूर्ण ब्रिटिश तथा भारतीय व्यक्तियों और अभिजन संस्थाओं व संगठनों के विषय में जानकारी प्राप्त करने में अवश्य उपयोगी माना है । (वही,पृ.३९)

परन्तु अभिजन से स्वतन्त्र रूप में, राष्ट्रवाद के उद्भव तथा विकास में जनसामान्य के योगदान को मान्य तथा विवेचित करने में अपने वर्गीय दृष्टिकोण से प्रतिबद्ध, संकीर्ण एवं पक्षपातपूर्ण राजनीतिक दृष्टि के फलस्वरूप विफल होने के कारण यह भारतीय राष्ट्रवाद की समुचित व्याख्या नहीं कर सकता । जन-आन्दोलनों को या तो कानून और व्यवस्था की समस्या (वास्तविक राजनीतिक प्रक्रिया से विचलन) या अभिजन नेतृत्व के चमत्कार के प्रभाव या विभिन्न गुटों के जोड़-तोड़ के फलस्वरूप होने वाली लाभबंदी (Mobilization) के रूप में पेश किया जाता है । परन्तु इससे १९१९ के रौलेट सत्याग्रह या १९४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन, चौरी-चौरा तथा रॉयल इण्डियन नेवी के विद्रोहियों के साथ जनता की एकजुटता की व्याख्या नहीं हो सकती । (पृ०३९)

यह अभिजन इतिहास लेखन भारतीय राजनीति को प्राथमिक या अनन्य रूप से अंग्रेजों द्वारा स्थापित संस्थाओं, विधानों, नीतियों, प्रवृत्तियों तथा अधिरचना (Super structure) के साथ ही इस राजनीति के संचालन में प्रत्यक्ष रूप से शामिल औपनिवेशिक शासकों तथा उनके सहायक देशी समाज के प्रभुत्वशील वर्गों या विरोधियों के विचारों तथा गतिविधियों से समीकृत किया जाता है । (पृ.३९-४०) जनता की राजनीति का इसमें कोई स्थान नहीं है जो, न तो अभिजन राजनीति पर निर्भर थी, न जिसकी जड़ें ही अभिजन राजनीति में थी ।

रंजीत गुहा का यह भी कहना है कि अभिजन तथा जन-राजनीति का सह-अस्तित्व राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने में भारतीय बुर्जुआइजी (शायद इससे उनका आशय इलीट से, अभिजन से ही है) की विफलता का सूचक है ।

औपनिवेशिक इतिहास की व्याख्या इस संरचनात्मक द्विभाजन (Dichotomy) को ध्यान में रखकर करना अनिवार्य है (यद्यपि ये दोनों क्षेत्र पूरी तरह विलग नहीं थे, (पृ०४२) भले ही संगठन, उद्देश्य, सामाजिक-संस्थानिक आधार, प्रवृत्तियों व लामबंदी, कार्यपद्धति की दृष्टि से उनमें व्यापक भिन्नता रही हो) यही सबाल्टर्न अध्ययन व इतिहास लेखन की मूल अवधारणा है ।

'निम्नवर्गीय प्रसंग' (हिस्ट्री फ्रॉम बिलो) के नाम से भी पुकारी जाने वाली इतिहास लेखन की इस 'विशिष्ट एवं तीक्ष्ण रूप से विवादास्पद' धारा को पश्चिमी जगत् में जार्ज रुड, जार्जेस लेफेवर, ई०जे० हॉब्सबाम और ई०पी० थॉम्सन जैसे इतिहासकारों ने लोकप्रिय बनाया[१] । सबाल्टर्न अध्येता कार्लमार्क्स के विवेचनशील अध्ययनकर्ता हैं और उन पर ग्राम्शी[२] के विशेष प्रभाव के साथ ही डेरिडा,फूको, रोनाल्ड बार्थेस, लुई अल्थूसर आदि संरचनावादी व उत्तर-संरचनावादियों का तथा ई०पी० थॉम्पसन, इरिक हाब्सबॉम आदि का भी प्रभाव दिखता है[३] ।

भारत में इसकी शुरुआत १९८२ से हुई, जिसके अन्तर्गत १९९७ तक "सबाल्टर्न स्टडीज" शीर्षक के अन्तर्गत ९ जिल्दें प्रकाशित हो चुकी हैं । इस धारा

---

१. आर० बी० चौधरी 'रूट्स ऑफ ऐण्टी कॉलोनियल स्ट्रगल डिनाइड टु मासेज', सुमित सरकार की पुस्तक 'पापुलर मूवमेण्ट्स ऐण्ड मिडिल क्लास लीडरशिप इन लेट कॉलोनियल इण्डिया'.......पर समीक्षात्मक लेख, द इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, वाल्यूम XII, नं० १-२, पृ०३७८

२. भारतीय इतिहासकारों के सबाल्टर्न अध्ययन समूह ने इटालियन साम्यवादी ग्राम्शी का उपयोग राष्ट्रवाद के विद्यमान सिद्धान्तों (Theories) तथा उत्तर-औपनिवेशिक काल की सामाजिक संरचनाओं (Formations) के पुनरीक्षण के लिए किया है (हाल, जेफर्सन, क्लार्क, राबर्ट्स 'पोलिसिंग द क्राइसिस, मग्गिंग, द स्टेट, लॉ ऐण्ड ऑर्डर, १९७८ अनियालुम्बा, कॉलोनियलिज्म। पोस्ट कॉलोनियलिज्म, पृ०३१)

३. उपाश्रित-वर्गीय इतिहासलेखन ज्ञान प्रकाश की सम्मति में (सबाल्टर्न-स्टडीज) परियोजना को मार्क्सवाद, उत्तर-संरचनावाद, ग्राम्शी, फूको, आधुनिक पश्चिम और भारत,, अभिलेखीय शोध और मूलपाठ विषयक आलोचना के 'अपप्रयोगात्मक संयोजन' (Catachrestic Combination) से शक्ति प्राप्त होती है । (सबाल्टर्न स्टडीज ऐज पोस्ट कॉलोनियल क्रिटीसिज्म अमेरिकन हिस्टारिकल रिव्यू ९९ (५) दिसम्बर १९९४, पृ० ४९०)
अनिया लुम्बा के अनुसार, ज्ञान प्रकाश का आशय यह है कि जब सबाल्टर्न इतिहासकार इन विभिन्न परिप्रेक्ष्यों को संयोजित करते हैं, तो साथ ही उनमें से प्रत्येक को रूपांतरित भी करते हैं । (कॉलोनियलिज्म/ पोस्ट कॉलोनियलिज्म, पृ०२५३).

के प्रमुख विद्वान् हैं– रणजीत गुहा, पार्थ चटर्जी, ज्ञानेन्द्र पाण्डे, शाहिद अमीन, दीपेश चक्रवर्ती, अशोक सेन, गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक, डेविड हार्डीमेन, डेविड आर्नाल्ड, स्टीफेन, हेनिंघम, गौतम भद्र, स्वप्न दास गुप्ता आदि । सुमित सरकार ने सबाल्टर्न युद्धालुता की विभिन्न अभिव्यक्तियों और दो राजनीतिक क्षेत्रों (अभिजन व उपाश्रयी) के बीच अन्त:क्रिया को, शाहिद अमीन, डेविड आर्नाल्ड और डेविड हार्डीमेन ने कृषक चेतना व कार्यवाही को, दीपेश चक्रवर्ती ने फैक्टरी कामगारों और मध्यमवर्गीय नेतृत्व को, पार्थ चटर्जी ने भारतीय राष्ट्रवाद की प्रकृति को, विशेषरूप से कृषक वर्ग के सन्दर्भ में महात्मा गाँधी की वैचारिकी को विश्लेषित/विवेचित किया है[१] । सुमित सरकार की रुझान इस ओर होने पर भी वे इस धारा से अपने को पृथक् करने का प्रयास करते नजर आते हैं और इस धारा की कतिपय प्रवृत्तियों के आलोचक भी हैं ।

यह इतिहास लेखन उस इतिहास से भिन्न 'नया इतिहास' कहा जाता है, जो अभिजनवर्गीय गठबन्धनों और ब्रिटिश राज से गृहीत सूत्रों, विवरणों या वर्णनों तथा वैचारिकी से प्रभावित रहा है। 'सेलेक्टेड सबाल्टर्न स्टडीज' के प्राक्कथन में एडवर्ड सईद ने सम्मति व्यक्त की है कि भारतीय इतिहास का पुनर्लेखन निम्नजन (उपाश्रित–सबाल्टर्न) व अभिजन[२] (इलीट) के बीच तथा भारतीय जनसामान्य व ब्रिटिश राज के बीच संघर्ष का ही विस्तार है[३] । सबाल्टर्न

---

१. रंजीत दास गुप्ता, द इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, वाल्यूम XII सं० १–२, पृ०३८५.

२. *अभिजन वर्ग* में रंजीत गुहा ने देशी व विदेशी अभिभावी (Dominant) अथवा प्रभावी समूहों को शामिल किया है । विदेशियों में औपनिवेशिक राज्य के अधिकारी तथा विदेशी उद्योगपति व्यापारी, वित्त-प्रबंधक,बागानों के मालिक,जमींदार या भूस्वामी और मिशनरी (ईसाई धर्म प्रचारक) रखे गये हैं । देशी अभिजनों को दो श्रेणियों में बाँटा गया है -- स्थानीय व क्षेत्रीय एवं अखिल भारतीय स्तर पर विद्यमान अभिजन । अखिल भारतीय श्रेणी में बड़े सामंत-सरदार, औद्योगिक एवं व्यापारिक बुर्जुआइजी (पूँजीपति) के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधि और नौकरशाही के (उपलब्ध) उच्चतम स्तर तक पहुँचने वाले देशी कर्मचारी आदि को गिनाया है और स्थानीय व क्षेत्रीय स्तर के अभिजनों में अखिल भारतीय अभिभावी समूहों के स्थानीय/क्षेत्रीय सदस्यों को तथा 'सामाजिक दृष्टि से अपेक्षाकृत हीन स्थिति के कारण' उनको जो स्वयं अपने हितों के बजाय पूर्ण उल्लिखित समूह के हितों के परिरक्षण एवं संवर्द्धन के लिए कार्य करते हैं । (ऑन सम आस्पेक्ट्स ऑफ द हिस्टोरियोग्राफी ऑफ कॉलोनियल इण्डिया, पृ०४४)

३. पूर्वोद्धृत, फोरवर्ड, पृ. VII

इतिहास लेखन में राजनीति व सत्ता से सरोकार इसी तथ्य को रेखांकित करता है। एडवर्ड सईद की सम्मति में सबाल्टर्न इतिहास वस्तुत: वह विवरण है, जो भारत के आधिकारिक इतिहास में नदारद है । यह विवरण प्रस्तुत करना या विद्यमान विवरण को नये विवरण या विवेचन से परिपूर्ण बनाना ही सबाल्टर्न इतिहास लेखन का उद्देश्य बताया गया है, जिसके लिए नये दस्तावेजों की खोज, पुराने दस्तावेजों का युक्तियुक्त एवं नया प्रयोग व नवीन विवेचन–विश्लेषण आवश्यक है।

सबाल्टर्न अध्येताओं का प्रयास या दावा 'जनसामान्य के विशिष्ट एवं भिन्न दृष्टिकोण से' औपनिवेशिक भारत[१] का इतिहास लिखने का है, जिसमें जन–स्मृति में विद्यमान गैर–परम्परागत या उपेक्षित स्रोतों – मौखिक संवादों अथवा संलापों (Discourses) तथा उन औपनिवेशिक प्रशासनिक दस्तावेजों का प्रयोग किया जाता है, जो अपरीक्षित या अप्रयुक्त रह गये हैं[२]। उनका कहना है कि सरकारी अभिलेख तथा इतिहास के परम्परागत स्रोतों से निम्न जनों तथा उनकी चेतना का सही चित्र नहीं उभरता । पूर्ववर्ती इतिहास लेखन में जनसामान्य की दरिद्रता व भुखमरी का ही उल्लेख होता था । उसके दिल–दिमाग, विचारधारा और विकल्प अधिकांश इतिहासकारों के लिए नगण्य थे। सबाल्टर्न अध्येताओं का प्रयास जनसामान्य, गरीब किसान, चरवाहा, कामगार मजदूर, दलित जातियों, स्त्रीसमाज आदि की उदरावस्था तक ही सीमित न रहकर उनके सोच–विचार तक पहुँचने का है[३] । लोकगाथा, लोकगीत व लोकस्मृति इसमें सहायक हो सकते हैं; परन्तु उनके लेखन या रचना का समय, सन्दर्भ व मंशा जानने का प्रश्न बना रहता है और ये स्रोत उतने पारदर्शी भी नहीं माने जाते। लोकगाथा/लोकगीत व

---

१. 'निम्नवर्गीय इतिहास' (History from below) के अध्येता न केवल उपनिवेशवाद का भण्डाफोड़ करने पर बल्कि इस बात की पड़ताल पर भी जोर देते हैं कि उपनिवेशीकरण के अधीन लाये गये लोग किस प्रकार पूँजीवादी समाज में खींच लिये गये और किस प्रकार इन्होंने अपने सात्मीकरण (Incorporation) का प्रतिरोध किया और वर्ग, नस्ल तथा राज्य की 'बड़ी' श्रेणियों द्वारा ग्रहण किये गये स्वरूप पर अपनी छाप अंकित की । (बोजोली ऐण्ड डेलियस, रैडिकल हिस्ट्री एण्ड साउथ अफ्रीकन सोसायटी, रैडिकल हिस्ट्री रिव्यू - ४६/४७, १९९०, पृष्ठ ३४; अमिया लुम्बा पृष्ठ २०१

२. शाहिद अमीन,ज्ञानेन्द्र पाण्डेय, निम्नवर्गीय इतिहास : एक प्रस्तावना पृ० २८९–९०

३. शाहिद अमीन, ज्ञानेन्द्र पाण्डेय, निम्नवर्गीय इतिहास : एक प्रस्तावना, इतिहास, २, पृ०२८७

लोकस्मृति के संकलन के बाद इनके नये ढंग से अध्ययन की समस्या तो रह ही जाती है । अत: सबाल्टर्न अध्येता, सरकारी व लिखित अभिलेखों को उपेक्षित करने के बजाय, उनको नये ढंग से (उलट कर अथवा डी कोड कर) पढ़ने पर जोर देते हैं । रंजीत गुहा की कृषक प्रतिरोध सम्बन्धी पुस्तक को वे अध्ययन की इस नयी पद्धति का उत्तम उदाहरण मानते हैं [१]।

रंजीत गुहा सबाल्टर्न लेखन को 'समाकलनकारी' मानते हैं । [२]उनका दावा है कि यह उपनिवेशवादविरोधी भारतीय प्रतिरोध के समग्र अनुभव को उन इतिहासों से अधिक निष्पक्ष रूप से देख सकता है, जो थोड़े से देशी नेताओं ने या औपनिवेशिक इतिहासकारों ने प्रस्तुत किये हैं[३] । सबाल्टर्न अध्येताओं का कहना है कि अभिजनवादी, उपनिवेशवादी इतिहास लेखन के उदार-राष्ट्रवादी तथा मार्क्सवादी-राष्ट्रवादी रूपों से, जो भारतीय राष्ट्रवाद की व्याख्या, अनन्य या सर्वोपरि रूप से, अभिजन समूहों की उपलब्धि के रूप में करते हैं और जनता या सबाल्टर्न वर्गों की राजनीतिक भूमिका को मान्य करने में चूक जाते हैं[४] । सबाल्टर्न अध्येता इससे असहमत हैं । सबाल्टर्न इतिहासकार मानते हैं कि किसी भी समुदाय या समाज के गठन में, जिसमें राष्ट्र भी शामिल है, केवल अभिजात वर्ग का हाथ नहीं होता । कोई भी समाज केवल अभिजात वर्ग का समाज नहीं होता और किसी भी समाज का इतिहास केवल उसके अभिजात वर्ग का इतिहास नहीं होता । जनसामान्य की सक्रिय भूमिका भी उसका महत्त्वपूर्ण हिस्सा है । रंजीत गुहा पूर्ववर्ती सभी प्रस्तुतियों को अधूरा या अपर्याप्त मानते हैं; क्योंकि इनमें सबाल्टर्न

---

१. शाहिद अमीन, ज्ञानेन्द्र पाण्डेय पूर्वोद्धृत, पृ० २८९-९०

२. रंजीत गुहा, ऑन सम आस्पेक्ट्स आफ द हिस्टोरियोग्राफ आफ कॉलोनियल इण्डिया (पृ०४३) में इस बात पर जोर देते हैं कि बुर्जुआइजी और कामगार वर्ग न तो उपनिवेशवाद पर निर्णायक वियज दिला सके, न बुर्जुआ क्लासिक लोकतन्त्र का या नवीन लोकतन्त्र का मार्ग प्रशस्त कर सके । इस विफलता का सम्यक् अध्ययन अभिजनवादी इतिहास लेखन के स्थान पर इसे वैकल्पिक इतिहास लेखन द्वारा किया जाना चाहिए जो, अभिजन दृष्टि के परिचायक, मिथ्या तथा अनैतिहासिक एकतत्त्ववाद को अमान्य करे और राजनीति के अभिजन तथा सबाल्टर्न (उपाश्रित) क्षेत्रों के सह अस्तित्व तथा अन्त:क्रिया पर आधारित हो ।

३. एडवर्ड सईद, फोरवर्ड, सेलेक्टेड सबाल्टर्न स्टडीज, पृ०८

४. रंजीत गुहा, पूर्वोद्धृत , पृ०३७-३८

भारतीयों की विशाल समूह की व नगरीय निर्धनों और किसानों की भूमिका का समावेश नहीं है, जिन्होंने समूची १९ वीं शताब्दी में तथा उससे पहले भी अभिजनों से भिन्न पद्धति से तथा सन्दर्भों में ब्रिटिश शासन का प्रतिरोध किया था। दीपेश चक्रवर्ती के अनुसार सबाल्टर्न अध्ययन का केन्द्रीय उद्देश्य उस चेतनता को समझना है, जो स्वयं सबाल्टर्न वर्गों द्वारा, अभिजन पहल से स्वतन्त्र रूप से, की जाने वाली राजनीतिक कार्यवाहियों अथवा सक्रियताओं या गतिविधियों को अनुप्राणित करती रही है[१]।

सबाल्टर्न इतिहासकारों की सम्मति में सामान्यत: राष्ट्रवादी इतिहास लेखन अभिजन या अभिजनवादी भारतीयों द्वारा, भारतीय राज्य के निर्माण की अपनी परियोजना के लिए, अथवा उसके नाम पर, सबाल्टर्न वर्गों के विविध ऐतिहासिक संघर्षों के 'हड़पे जाने' का इतिहास ही प्रस्तुत करता है । इसके विपरीत सबाल्टर्न इतिहास लेखन यह प्रदर्शित करने का प्रयास करता है कि राष्ट्रवादी अभिजनों की राज्य सम्बन्धी परियोजना और राजनीति के विरुद्ध सबाल्टर्न वर्गों ने बार-बार कार्यवाही या बगावत की है[२]। दूसरे शब्दों में-सबाल्टर्न अध्ययनों का उद्देश्य उन भिन्न राजनीतिक तथा सांस्कृतिक विचारों को प्रस्तुत या उजागर करना है, जो भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का नेतृत्व करने वाले अभिजन वर्गों तथा समूहों के बुर्जुआ, उदार-राष्ट्रवादी विचारों के विरुद्ध, सबाल्टर्न वर्गों तथा समूहों में व्याप्त थे[३]।

अनिया लुम्बा लिखती हैं कि इतिहास में घटनाओं के कुछ पक्षों को स्मरण रखा जाता है और कुछ को भुला दिया जाता है; परन्तु राष्ट्रवादी कल्पना (imagining) के लिए, आधुनिक भारत को और इसके उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष की कहानियों को गढ़ने में विस्मृत तथ्य भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितने कि स्मृति में विद्यमान तथ्य। (पृ०२०२) इस सन्दर्भ में वे शाहिद अमीन के चौरी-चौरा के विश्लेषण को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करती हैं ।

---

१. सबाल्टर्न स्टडीज, खण्ड ४, पृ०३७४

२. रंजीत गुहा : सेलेक्टेड सबाल्टर्न स्टडीज, पृ० ४१ सबाल्टर्न राजनीति के अपरिवर्तनीय लक्षणों में वे अभिजन प्रभुत्व के प्रति विरोध को इंगित करते हैं ।

३. पूर्वोद्धृत १९८८, पृ०४७

शाहिद अमीन की पुस्तक (ईवेण्ट, मेटाफर एण्ड मेमोरी) चौरी-चौरा की कहानी को नये रूप में प्रस्तुत करती है, जहाँ फरवरी १९२२ में एक 'क्रुद्ध' भीड़ ने २३ पुलिसकर्मियों को जीवित जला डाला था, जिस कारण गाँधी जी को अपना आन्दोलन स्थगित करना पड़ा था । यह घटना आधुनिक भारतीय इतिहास का महान् विस्तृत प्रसंग बन गयी । यह केवल एक figure of speech अनुशासित, अहिंसात्मक सत्याग्रह आन्दोलन के विरुद्ध सभी प्रकार की अबाधित कृषक हिंसा के लिए एक वक्रोक्ति या रूपक (लाक्षणिक प्रयोग, Tro) बनकर रह गयी। (शाहिद अमीन, ईवेण्ट, मेटाफर ऐण्ड मेमोरी, १९९५, पृ०३) । राष्ट्रवादियों तथा साम्राज्यवादियों, दोनों की दृष्टि में अपराधी, इन उग्र किसानों को, इतिहास ने भुला दिया। अभिलेखीय सामग्री को नये सिरे से अध्ययन कर उक्त घटना की, स्थानीय स्मृतियों की तथा स्थानीय सांस्कृतिक इतिहास की पुनर्रचना करके शाहिद अमीन ने कृषक राष्ट्रवाद का गाँधी के आन्दोलन से अन्त:सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है । यह पुस्तक उक्त 'अपराध' के न्यायिक /राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य से दूर हटकर उन किसानों की वैचारिकी तथा संस्कृतियों का पुन:परीक्षण करने का आग्रह करती है, जिन्होंने गाँधी को महात्मा बनाया, फिर भी जिनका गाँधी प्रतिनिधित्व नहीं कर सके । (अनिया लुम्बा, कॉलोनियलिज्म/ पोस्ट कॉलोनियलिज्म, पृ०२०२) । यह सच है कि गाँधी किसी एक वर्ग के प्रतिनिधि नहीं थे; परन्तु उनका आन्दोलन समस्त भारतीयों के लिये था और कोई भी वर्ग इस भारत से अलग नहीं था ।

कांचा इलैय्या ने (जो सबाल्टर्न विचारधारा से प्रभावित प्रकट होते हैं) 'Why I am not a Hindu' में एक दलित बहुजन के रूप में भारत के शोषित-दमित बहुसंख्यक जनों व जातियों की हिन्दू धर्म से परकीकरण (alienation) का तथा औपनिवेशिक, उत्तर-औपनिवेशिक पश्चिमी संस्कृति से ही नहीं, उत्तर-औपनिवेशिक भारतीय संस्कृति से भी उनके परकीकरण पर प्रकाश डाला है । (ह्वाई आई ऐम नॉट ए हिन्दू, ए शूद्रा क्रिटिक ऑफ हिन्दुत्व-फिलॉसफी,कल्चर ऐण्ड पॉलीटिकल इकोनॉमी, १९९६, पृ० IX, १५)

कांचा इलैय्या ने 'इतिहास से निर्वासित अथवा बहिष्कृत' 'अस्पृश्य', पिछड़े, दलित बहुजनों का प्रतिनिधित्व करने के दक्षिणपंथी हिन्दुवों के दावे को अमान्य किया है । उनकी सम्मति में दलित संस्कृति अपेक्षाकृत अधिक सृजनात्मक,

लोकतन्त्रात्मक, मानवतावादी (और नारीवादी भी) है । अनिया लुम्बा इस सम्मति को देशीयतावाद (या सहजज्ञानवाद- Nativism) मानती हैं । (पूर्वोद्धृत, पृ०२००)

सबाल्टर्न स्टडीज की चौथी जिल्द में 'गदर' के चार अल्पज्ञात विद्रोहियों से सम्बन्धित अपने लेखन में गौतम भद्र ने, 'गदर' के पारम्परिक इतिहास लेखन में आमतौर पर मिलने वाले 'अभिजनवादी' पूर्वाग्रह को अस्वीकार करके, केन्द्रीय महत्त्व की इस मान्यता का खण्डन करने का प्रयास किया है कि 'जनसामान्य' ने इसमें मामूली भाग ही लिया था; अधिक से अधिक उन्होंने अपनी-अपनी जातियों के श्रेष्ठ जनों का अनुकरण किया[१] । गौतम भद्र ने विदेशी शासन के प्रति जनता के दृष्टिकोणों पर, 'गदर' के अनेकानेक निहितार्थों पर और ब्रिटिश राज के विरुद्ध स्थानीय स्तर के विद्रोहों के आयोजन में जनता की स्वतन्त्र पहल या स्वायत्तता पर ध्यान केन्द्रित किया है[२] ।

अस्तु, सबाल्टर्न इतिहासकारों का प्रयास अथवा दावा एक नये प्रकार के इतिहास की रचना का है जो, अभिजन के दायरे से बाहर निकलकर, निम्नजन की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को भी परखे और इसके साथ ही अभिजन व निम्नजन की प्रक्रियाओं को दो अलग पटरियों पर न ढकेल कर, इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध, आश्रय तथा द्वन्द्व के आधार पर औपनिवेशिक काल की समझ को सुस्पष्ट करे। अत: इतिहास लेखन के दोनों पहलू महत्त्वपूर्ण हैं[३] । रंजीत गुहा ने सबाल्टर्न इतिहास लेखन को 'राष्ट्र' की अपनी अस्मिता हासिल करने की (उस) ऐतिहासिक विफलता का अध्ययन कहा है, जिसका कारण था बुर्जुआइजी का तथा समान रूप से, कामगार वर्ग की यह अक्षमता कि वे न तो आन्दोलन को उपनिवेशवाद पर निर्णायक विजय दिला सके, न बुर्जुआइजी के प्रभुत्व के अधीन उन्नीसवीं शताब्दी की क्लासिक प्रकार की बुर्जुआ लोकतांत्रिक क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त कर सके, न कामगारों के प्रभुत्व के अधीन 'नवीन लोकतन्त्र' का । इस विफलता को औपनिवेशिक भारत के इतिहास लेखन की केन्द्रीय जटिलता (या जटिल प्रश्न) मानकर रंजीत गुहा ने स्वीकार किया है कि इसके अनुसन्धान का कोई एक निश्चित

---

१. सेलेक्टेड सबाल्टर्न स्टडीज, पृ०१२९
२. आर०बी० चौधरी, पूर्वोद्धृत, पृ०२७३
३. निम्नवर्गीय इतिहास : एक लघु प्रस्तावना, इतिहास-अंक २, पृ० २८८

मार्ग नहीं है । ......(तथापि) अभिजनवादी इतिहास लेखन का दृढ़ निश्चय के साथ विरोध किया जाना चाहिए और एक वैकल्पिक इतिहास लेखन का विकास किया जाना चाहिए जो, भारतीय राष्ट्रवाद के प्रति अभिजन वर्ग के विशिष्ट दृष्टिकोण के परिचायक, मिथ्या तथा अनैतिहासिक एकतत्त्ववाद के नकार पर और राजनीति के अभिजन तथा सबाल्टर्न क्षेत्रों के सह-अस्तित्व और अन्त:क्रिया पर आधारित हो (पृ०४३)।

एडवर्ड सईद भी मानते हैं कि सबाल्टर्न इतिहास को अन्य इतिहासों से पृथक् करने का जितना भी प्रयास किया जाय परन्तु, भिन्न होते हुए भी, वे परस्पर व्याप्त तथा अन्योन्याश्रित (परस्पर निर्भर) हैं । इसे अनन्य, संकुचित एवं सीमित होने से बचाना है[१]।

अस्तु सबाल्टर्न इतिहास लेखन ने आधुनिक (औपनिवेशिक एवं उत्तर-औपनिवेशिक) भारतीय इतिहास एवं समाज–सम्बन्धी लेखन को नया विश्लेषणात्मक स्थान प्रदान करने का प्रयास किया है । 'सबाल्टर्न' स्टडीज नामक इस धारा में उन समूहों की चेतना, राजनीति तथा गतिविधियों को केन्द्रीय महत्त्व प्रदान किया गया है जिनके स्थान व भूमिका को तथाकथित 'अभिजनवादी' इतिहास लेखन ने अनदेखा कर रखा था । सबाल्टर्न लेखन में इन समूहों को इतिहास का 'विषय' अथवा 'कर्ता' तथा अपनी नियति का स्वयं 'निर्माता' बताया जाता है, सबाल्टर्न इतिहासकारों ने 'सबाल्टर्न समूहों की स्वतन्त्र पहल के हर संकेत' के महत्त्व पर समुचित जोर दिया है और, इसके साथ ही सबाल्टर्न चेतना, बोध तथा कार्यवाही की विशिष्टता की ओर ध्यान आकृष्ट किया है और इनकी बहुविध अभिव्यक्तियों तथा विभिन्न चरणों एवं परिवर्तन के स्तरों का विश्लेषण भी किया है[२]।

सबाल्टर्न इतिहासकारों ने राजनीति के दो क्षेत्रों के अस्तित्व पर (सबाल्टर्न क्षेत्र और प्रभुत्वशाली वर्गों या समूहों अथवा अभिजनों के क्षेत्र के बीच) अन्त:क्रिया के विश्लेषण का भी प्रयास किया है[३] । निम्नवर्गों की राजनीति को तथा 'सत्ता सम्बन्ध' को विशेष महत्त्व प्रदान करने वाले लेखकों का दावा है कि

---

१. एडवर्ड सईद, फोरवर्ड, सेलेक्टेड सबाल्टर्न स्टडीज,
२. रंजीत दास गुप्ता, द इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, XII, १–२, पृ०३८३
३. रंजीत दास गुप्ता, द इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, XII, १–२,पृ०३८४

इन वर्गों का एक स्वायत्त क्षेत्र है[१], जिसकी चेतना, प्रतिरोध तथा संगठन की अभिव्यक्ति पृथक् या स्वतन्त्र तथा सुसम्बद्ध रूप से हुई है[२] । सबाल्टर्न स्टडीज में निम्नजन की चेतना और उस चेतना की स्वायत्तता को मूल स्तम्भ माना गया है। शक्तिमान्/प्रभुत्वशाली वर्ग की सत्ता के लिए भी सामान्य जन का होना अनिवार्य है। इसी विचार से रंजीत गुहा ने अपनी पुस्तक 'एलिमेण्टरी आस्पेक्ट्स ऑफ पीजेण्ट इनसर्जेन्सी इन कालोनियल इण्डिया में कृषक को स्वयं अपने इतिहास का कर्त्ता करार दिया है। निम्नजन की चेतना की स्वायत्तता के बिना समाज या राष्ट्र का इतिहास अधूरा ही रहेगा । सबाल्टर्न अध्येताओं ने भारतीय समाज में व्याप्त प्रभुत्व एवं अधीनता के बहुआयामी रूप को सामने लाने का, वर्ग संघर्ष और आर्थिक द्वन्द्व को कोरी आर्थिकता के कटघरे से मुक्त कर उसके सामाजिक और सांस्कृतिक प्रतिरूप तथा विशिष्टताओं का निकट से सूक्ष्म विवेचन का प्रयास/दावा किया है। उनकी मान्यता है कि प्रभुत्व केवल आर्थिक दबाव के बल पर ही कायम नहीं होता रहता या इसमें सामाजिक, सांस्कृतिक-विशिष्टताओं, वेशभूषा, घर-द्वार, जातपाँत, बोलचाल, धर्म और देवी-देवता का भी योगदान होता है[३]।

इतिहास लेखन की इस धारा से प्रभावित सुमित सरकार इस बात से सहमत नहीं हैं कि मध्यम वर्ग ने जन आन्दोलनों को वैचारिकी, कार्यक्रम और नेतृत्व प्रदान किया तथा राष्ट्रवादी मुख्य धारा से जोड़ा। उनका कहना है कि जन आन्दोलन स्वत: स्फूर्त थे और उनका नेतृत्व भी किसानों के बीच से उभरे स्थानीय प्रमुख जनों ने किया। इन्हें मध्यम वर्ग के 'देशभक्त राष्ट्रवाद' के समानान्तर 'कृषक राष्ट्रवाद' तो क्या किसी भी प्रकार का राष्ट्रवाद मानने को वे तैयार नहीं हैं[४] । सबाल्टर्न इतिहासकार राष्ट्र की श्रेणी (संवर्ग) पर शंका व्यक्त करने के साथ ही राष्ट्र के परिपक्व होने की विफलता को आधुनिक भारतीय इतिहास की मूलभूत समस्या मानते हैं[५]।

---

१. रंजीत गुहा, ऑन सम आस्पेक्ट्स ऑफ द हिस्टोरियोग्राफी ऑफ कॉलोनियल इण्डिया, सेलेक्टेड सबाल्टर्न स्टडीज, पृ०४०

२. रंजीत दास गुप्ता, सिग्निफिकेंस ऑफ नान-सबाल्टर्न मेडिएशन, समीक्षा-लेख, सबाल्टर्न स्टडीज के वाल्यूम III पर, द इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, वाल्यूम XII, १-२, पृ०३८३

३. शाहिद अमीन, ज्ञानेन्द्र पाण्डेय, पूर्वोद्धृत,

४. आर० बी० चौधरी का समीक्षात्मक लेख, द इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू वा०XII, १-२, १९९४, पृ०३८८

५. दीपेश चक्रवर्ती सबाल्टर्न स्टडीज, वाल्यूम ४, पृ०३७३

सबाल्टर्न अध्येताओं में से एक इतिहासकार डेविड हार्डीमैन भारत के किसानों को 'निष्क्रिय, भाग्यवादी और शक्तिविहीन शिकार' नहीं मानते । उनके मतानुसार किसानों की न्याय की अपनी चेतना थी और वे स्वयं कर्त्ता थे । उनकी चेतना एवं सक्रियता की अभिव्यक्ति के लिए हार्डीमैन ने दुर्भिक्ष के संकट का विवेचन किया है[१]।

सबाल्टर्न अध्येता इस बात की भी पड़ताल करते हैं कि संख्या में अधिक होते हुए, ध्येय के न्यायोचित होते हुए और दीर्घकाल तक संघर्षरत रहने पर भी भारतीय 'सबाल्टर्न' क्यों थे, वे दबा क्यों दिये गये। रंजीत गुहा की सम्मति में, कामगार वर्ग के अस्तित्व की वस्तुनिष्ठ परिस्थितियों के परिपक्व न होने तथा वर्गीय चेतना के पूर्ण विकसित न होने और कृषक वर्ग से उसका सुदृढ़ गठबन्धन न होने के कारण सबाल्टर्न वर्ग की राजनीतिक पहल राष्ट्रवादी आन्दोलन को राष्ट्रीय मुक्ति के सर्वांगीण संघर्ष में विकसित करने में समर्थ नहीं थी ।

इसी के परिणामस्वरूप, विस्तृत क्षेत्र में फैले तथा उपनिवेशवाद-विरोधी चेतना से सम्पन्न अनेकानेक कृषक विद्रोह को वह प्रभावी नेतृत्व प्राप्त न हो सका, जो उन्हें स्थानीयता से ऊपर उठा सके और उन्हें राष्ट्रवादी साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन अथवा अभियान का रूप प्रदान कर सके । फलत: कामगारों, कृषकों और नगरीय लघु बुर्जुआइजी के वर्गीय (Sectional) संघर्षों में से अधिकांश या तो किफायतसारी (Economism) में उलझ जाते थे या (जहाँ कहीं भी उनका राजनीतिकरण हुआ हो) क्रान्तिकारी नेतृत्व के अभाव में, इतने अधिक खण्डित हो जाते थे कि किसी 'राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन' का रूप ग्रहण करने योग्य नहीं रह जाते थे[२] । (पृ०४२-४३)

रंजीत गुहा ने यह भी स्वीकार किया है कि जनआन्दोलन कभी-कभी अनुभागीय (Sectional) हितों पर जोर दिये जाने से असंतुलित हो जाते थे, जिसके फलस्वरूप आर्थिक विचलन तथा साम्प्रदायिक विच्छेद उत्पन्न होते थे और

---

१. सबाल्टर्न स्टडीज, वाल्यूम III, पृ० ६४

२. ऑन सम आस्पेक्ट्स ऑफ द हिस्टोरियोग्राफी ऑफ द कॉलोनियल इण्डिया, सेलेक्टेड सबाल्टर्न स्टडीज, १९८८, पृ०३७-४३,

प्राय: क्षैतिज गठबन्धनों पर आघात पहुँचता था; परन्तु इसके साथ ही रंजीत गुहा का कहना है कि 'भारतीय राष्ट्र' (जनसामान्य) अपनी पहचान नहीं बना पाया, यह केवल भारतीय जनसामान्य की विफलता नहीं है । औपनिवेशिक भारत के इतिहास लेखन का केन्द्रीय प्रश्न इसी विफलता का अध्ययन है। सबाल्टर्न अध्येताओं की सम्मति में भारतीय राष्ट्र–राज्य की यह विफलता पूँजी की ऐतिहासिक सीमा की सूचक अथवा अभिव्यक्ति है, जिसे जीतने में यह कदापि सफल नहीं होगी। सबाल्टर्न अध्येताओं का कहना है कि साम्राज्यवादी–उपनिवेशवादी इतिहास लेखन की तरह, राष्ट्रवादी इतिहास लेखन भी पूँजी की ऐतिहासिक सीमाओं को समझने में विफल रहा है। वे मानते हैं कि राष्ट्रवादी इतिहास लेखन आधुनिक राज्य के वृत्तान्त को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करने में हिस्सेदार रहा है और जनता के समस्त साम्राज्यवाद–विरोधी संघर्ष को, सम्प्रभु राष्ट्रीय राज्य की स्थापना के संघर्ष के रूप में, चित्रित करता रहा है। दूसरे शब्दों में राष्ट्रवादी इतिहास लेखन में 'जनता का जीवन राष्ट्रीय राज्य की जीवनी में विलीन हो जाता है'[१]। इसे सबाल्टर्न अध्येता उपाश्रित वर्गों के इतिहास का अपहरण कहते हैं।

सबाल्टर्न अध्ययन राष्ट्रवादी–मार्क्सवाद, जिसमें नेहरू का समाजवाद भी शामिल है, से भी भिन्न अथवा असहमत है, जो उपनिवेशवाद को भारत में जनप्रिय राजनीति की समस्त समस्याओं का, जातिवाद, साम्प्रदायिकता व क्षेत्रीयता की समस्याओं का, स्रोत मानता है। राष्ट्रवादी, मार्क्सवादी तथा नेहरूवादी समाजवाद की दृष्टि में इन समस्याओं का समाधान, कम से कम प्राथमिक रूप में या प्रारम्भ में, उदार बुर्जुआ राष्ट्रवाद में निहित है। जहाँ तक राष्ट्रवादी मार्क्सवाद और उदार बुर्जुआ राष्ट्रवाद तथा राष्ट्र और राष्ट्रीय राज्य की वैचारिकी का समर्थन करते हैं, वहाँ तक सबाल्टर्न अध्येता उनके बीच 'सहापराधिता' देखते हैं। इस वैचारिकी पर शंका व्यक्त करना सबाल्टर्न अध्ययनों का एक केन्द्रीय सरोकार है।

पुरातनपंथी मार्क्सवाद से सबाल्टर्न इतिहास लेखन की भिन्नता प्रदर्शित करते हुए पार्थ चटर्जी ने संकेत दिया है कि जहाँ मार्क्सवाद ऐतिहासिक संक्रमणों की व्याख्या आर्थिक स्तर (उत्पादन की शक्तियों) के द्वारा रैखिक निर्धारण के रूप

---

१. पार्थ चटर्जी, नैशनैलिस्ट थॉट एण्ड द कालोनियल वर्ल्ड, पृ० १६८

में करता है; वहीं सबाल्टर्न इतिहास लेखन ऐतिहासिक सामाजिक संरचना के विभिन्न पक्षों (या दृष्टान्तों Instances) के बीच, यथा– आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक वैचारिकी के बीच, जिनमें से प्रत्येक 'स्वायत्त रूप से निर्मित सैद्धान्तिक क्षेत्र' माना जाता है, अन्त:सम्बन्धों पर भी ध्यान देता है। पार्थ चटर्जी का तर्क है कि सामाजिक संरचनाओं के राजनीतिक, सांस्कृतिक व वैचारिक सभी पहलुवों की सुस्पष्ट अवधारणा का निरूपण, एक उत्पादन पद्धति से दूसरी पद्धति में संक्रमण को समझने के लिए अनिवार्य है[१]। उत्पादन के साधनों तथा सामाजिक श्रम के उत्पादों पर अपने अधिकार के निरूपण के प्रश्न पर वर्गसंघर्ष के राजनीतिक रूप को वे इन संक्रमणों में केन्द्रीय महत्त्व का तत्त्व मानते हैं। उनका कहना है कि आदिम साम्यवाद से सामन्तवाद में या सामन्तवाद से पूँजीवाद में ऐतिहासिक सामाजिक संरचना के संक्रमण का सार्थक विश्लेषण, पुरातनपन्थी मार्क्सवाद के 'प्राविधिक आर्थिक नियतिवाद' की शब्दावली के बजाय,सत्ता या शक्ति की तीन पद्धतियों, यथा- सामुदायिक, सामन्ती और बुर्जुआ पद्धतियों, की अन्त:क्रीड़ा की शब्दावली में हो सकता है। सत्ता की सामुदायिक पद्धति के अन्तर्गत व्यक्तियों व समूहों के अधिकार, पद (या श्रेणी, स्तर) व दायित्व समुदाय की सदस्यता पर निर्भर होते हैं। सत्ता समग्र रूप से समुदाय में निहित होती है, उसके किसी कर्मचारी में नहीं। सामन्ती पद्धति अधीनस्थ जनता की शारीरिक या भौतिक पराधीनता के माध्यम से संचालित होती है । बुर्जुआ पद्धति में मजदूरी पर काम करने वाले श्रमिकों पर पूँजीपतियों की प्रभुता, शारीरिक बल पर नहीं बल्कि, सम्पत्ति–विषयक अधिकारों और बाजार की यन्त्रप्रणाली के माध्यम से आरोपित होती है। बुर्जुआ राज्य सिविल समाज से पृथक् रहता है और समाज में व्याप्त वास्तविक असमानताओं के सन्दर्भ में यह 'तटस्थ' रहता है ।

औपनिवेशिक शासन के अधीन भारतीय समाज के पूँजीवादी उत्पादन पद्धति में संक्रमण का उपरोक्त पद्धति के आधार पर विवेचन करते हुए पार्थ चटर्जी संकेत करते हैं कि यह संक्रमण अपूर्ण है और इस अपूर्णता का प्रमाण यह तथ्य है कि औपनिवेशिक राज्य की यन्त्रप्रणाली लम्बे समय तक सामन्ती और बुर्जुआ पद्धतियों का घालमेल बनी रही । यह सत्ता के प्राचीन रूपों एवं प्रतीकों तथा

१. मोड्स ऑफ पावर : सम क्लैरीफिकेशन्स, सोशल साइंटिस्ट, फरवरी १९८५, पृ०५९

प्रशासनिक पद्धतियों का सीधा-सादा अधिग्रहण था, ताकि अधीनस्थ प्रजा पर प्रभुत्व की स्थापना की जा सके और उसे बनाये रखा जा सके । साथ ही विधि के शासन, विधि के समक्ष समानता, प्रशासन एवं न्याय की अवैयक्तिक प्रक्रियाओं की बुर्जुआ धारणाओं को लागू किया गया और ऐसी राजनीतिक प्रक्रिया का क्रमिक विकास किया गया, जिनमें सरकार का सम्बन्ध उन संगठनों या निकायों से होता था, जो किसी रूप में देश के नागरिकों के प्रतिनिधित्व का दावा करते थे[१]। चटर्जी के अनुसार, बुर्जुआ विधि, नौकरशाही तथा प्रतिनिधित्व पर आधारित नयी राजनीतिक संस्थाओं के स्थापित किये जाने की पूँजीवादी व्यवस्था के पहले की संस्थाओं व संरचनाओं पर विभिन्न प्रभाव पड़े, कुछ कभी कभी नष्ट हुए, कुछ में यदा कदा संशोधन किये गये और कुछ को पुष्ट किया गया या नया जीवनदान दिया गया; अधिशेष को हड़पने की व राजनीतिक नियमन की नवीन प्रणाली के अधीन[२]।

पूँजीवाद में भारतीय संक्रमण के अधूरेपन पर प्रकाश डालते हुए पार्थ चटर्जी ने संकेत किया है कि सामन्ती स्वामियों या साम्राज्यीय नौकरशाही के द्वारा अतिक्रमणों के विरुद्ध अपने सामुदायिक अधिकारों की रक्षा के लिए, कृषक समुदायों ने स्वायत्त रूप से संघर्ष किया और (२) समुदायों के रूप में संगठित जनता को पराधीन बनाने व उस पर शासन करने के लिए औपनिवेशिक राज्य को विधि के समक्ष समानता व राज्य की तटस्थता के बुर्जुआ सिद्धान्तों को हल्का करना या यदा कदा त्यागना भी पड़ता था[३] । निष्कर्ष के तौर पर वे कहते हैं कि सत्ता के प्रयोग की आधुनिक पद्धतियों का वर्चस्व प्राचीनतम पद्धतियों के कायम रहने के कारण सीमित व शर्तबंद प्रतीत होता है[४]। वर्तमान शासक वर्ग भी अपने प्रभुत्व को सत्ता की विभिन्न पद्धतियों के संयोजन के माध्यम से ही आरोपित करते हैं।

---

१. सबाल्टर्न स्टडीज, वाल्यूम १, पृ०-१७
२. सबाल्टर्न स्टडीज, वाल्यूम -२, पृ०३४७, रणजीत गुहा, सबाल्टर्न स्टडीज, वाल्यूम ४, पृ०-२२६ से
३. सबाल्टर्न स्टडीज, वाल्यूम १, पृ०- १७-१८
४. पूर्वोद्धृत वाल्यूम २, पृ०-३४९

पार्थ चटर्जी की सम्मति में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में पूँजी की 'निष्क्रिय क्रान्ति' (ग्राम्शी की शब्दावली में) की सारी कमियाँ विद्यमान थीं। इस आन्दोलन का उद्देश्य निश्चित रूप से राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र राष्ट्र/राज्य की स्थापना या निर्माण था, जिसे पूँजी की सेवा करनी थी। अतएव इसमें बुर्जुआइजी तथा अन्य प्रधान या प्रबल वर्गों के बीच अनेक सहसम्बन्धों का समावेश था, जिनके नेतृत्व में अधीनस्थ वर्गों के समर्थन को अपने साथ सक्रिय रूप से जोड़ने का प्रयास किया गया[१]। इस परियोजना में, औपनिवेशिक शासनकाल में, प्रशासन, विधि, अर्थव्यवस्था और शिक्षा के क्षेत्र में स्थापित सत्ता के विघटन का कोई प्रयास नहीं किया गया । पूँजीवाद-पूर्व व्यवस्था के प्रभुत्वशाली वर्गों पर पूरे जोर के साथ प्रहार भी नहीं किया गया, बल्कि उन्हें गौण सहायकों के रूप में साथ ले लिया गया। चटर्जी की दृष्टि में भारतीय पूँजी के प्रभुत्व का आधार इसी कारण सिविल समाज पर वर्चस्वपूर्ण हैजीमनिक प्रभुता के बजाय, राजकीय यन्त्र प्रणाली पर इसका नियन्त्रण है।

चटर्जी के अनुसार आधुनिक/बुर्जुआ तथा परम्परागत/सामुदायिक सत्ता पद्धतियों के संयोजन पर शासक वर्गों की निर्भरता से भारतीय सामाजिक संरचना के पूँजीवाद में संक्रमण के अधूरेपन का संकेत मिलता है। उदारवादी राजनीतिक सिद्धान्तकारों के सोच के विपरीत सत्ता की सामन्ती या सामुदायिक पद्धति पर पूरे जोर के साथ बुर्जुआ प्रहार से इसे दूर नहीं किया जा सकता । सम्पूर्ण बुर्जुआ क्रान्ति की आशा एक 'उदारवादी सम्भ्रम' है। मार्क्स की ही तरह वे भी मानते हैं कि पूँजी समस्त अवरोधों पर विजय नहीं पा सकती। पूँजी की अपनी ऐतिहासिक सीमाएँ हैं, जिन पर विजय पाना उसकी क्षमता के परे है और (औपनिवेशिक तथा उत्तर-औपनिवेशिक काल में) सामाजिक संरचनाओं के पूँजीवाद में संक्रमण का अधूरापन एवं उसका विलम्बित या अवरुद्ध होना इसी सीमा के सूचक हैं[२]।

पूँजी की इन सीमाओं को समझने के लिए व उसके परे जाने के लिए, चटर्जी की सम्मति में, राज्य तथा समुदाय की संरचनाओं का अन्वेषण (जाँच-पड़ताल) आवश्यक है। समुदाय का पूँजी से विरोध-भाव या टकराव गहरा है।

---

१. नेशनैलिस्ट थॉट एण्ड द कॉलोनियल वर्ल्ड : ए डिराइवेटिव डिस्कोर्स, १९८६, पृ०४९
२. पीजेन्ट्स पॉलीटिक्स एण्ड हिस्टोरियोग्राफी, १९२३, पृ०६४

मार्क्स ने भी इसे इंगित किया है । औपनिवेशिक भारत में राजनीतिक शक्ति के संगठन एवं प्रयोग की सामुदायिक पद्धति में राजनीति की सामन्ती तथा बुर्जुआ पद्धतियों की घुसपैठ के विरुद्ध कृषकों के बार-बार होने वाले विद्रोहों से भी यही प्रकट होता है। इसलिए, चटर्जी की सम्मति में, पूँजी की ऐतिहासिक सीमाओं के वर्तमान प्रसंग अथवा संदर्भ में, सामाजिक रूपान्तरण के राजनीतिक सिद्धान्त का समुदाय और पूँजी के बीच विरोध भाव पर आधारित होना आवश्यक है। इसे वे मार्क्सवाद से संगत मानते हैं । उनका कहना है कि मार्क्स ने १८८१ में कहा था कि 'आधुनिकता के संकट' का अन्त आधुनिक समाजों की पुरातन प्रकार की सामुदायिक सम्पत्ति की (श्रेष्ठतर रूप में) ओर वापसी में निहित है, अर्थात् मार्क्स समाज को पूँजी की जकड़ से मुक्त करने के पक्षधर थे। जीवन के अन्तिम दिनों में मार्क्स पूँजीवाद के साम्राज्यवादी चरण को तर्कबुद्धि (रीजन) व विज्ञान का विरोधी मानते थे और इसलिए जो देश अभी पूँजी के प्रभुत्व से मुक्त हैं, उनमें सबाल्टर्न वर्गों के पुरातन प्रकार के प्रतिरोध के माध्यम से, नई शुरुआत हो सकती है[१]।

इस इतिहास लेखन की शुरुआत और पक्षपोषण करने वाले रणजीत गुहा, जो इस समूह के बौद्धिक सलाहकार और नेता हैं, मानते हैं कि इतिहास लेखन का कार्य 'विश्व को बदलने में सहायता के निमित्त, चैतन्य के मूलगामी रूपान्तरण के द्वारा' अतीत की व्याख्या करना है। गुहा और उनके सहयोगी पूर्ववर्ती इतिहास लेखन की इसलिए भी आलोचना करते हैं कि वे यह सम्भ्रम फैलाते हैं कि पूँजीवाद में यह क्षमता है कि वह पुरानी या सामन्ती व्यवस्था द्वारा उपस्थित किये गये अवरोधों के विरुद्ध प्रकृति व समाज को मुक्त कर उन्हें रूपान्तरित कर सकता है। सबाल्टर्न इतिहास लेखन चैतन्य के इन मिथ्या या विचारधारात्मक इन रूपों का मूलगामी रूपान्तरण और सबाल्टर्न वर्गों के द्वारा 'सत्ता हस्तगत' करने के लिए मार्ग प्रशस्त करना अपना उद्देश्य मानता है।

'डॉमिनेन्स विदाउट हेजीमनी ऐण्ड इट्स हिस्टोरियोग्राफी' 'सबाल्टर्न स्टडीज, वाल्यूम ६' में अपने लेख में गुहा ने लिखा है कि, औपनिवेशिक/उत्तर-औपनिवेशिक परिस्थिति में, प्रभुत्वशाली वर्गों का शासन उदार या बुर्जुआ अथवा आधुनिक राजनीतिक संस्कृति पर आधारित या अवलम्बित नहीं रहा है । इस

१. एलीमेण्ट्री आस्पेक्ट्स ऑफ पीजेण्ट इनसर्जेंस इन कॉलोनियल इण्डिया, १९८३,पृ०३३६

स्थिति में, जिसे वे पूँजीवाद के इतिहास का गतिरुद्ध चरण मानते हैं, बुर्जुआइजी को पूँजी की अनुल्लंघनीय परिसीमाओं का अनुभव हुआ। अतएव उसने प्रकृति तथा समाज को मुक्त, रूपान्तरित या आधुनिकीकृत करने के मूल, सार्वभौम ध्येय को त्याग दिया और अपने अब तक के शत्रुओं, यथा-सामन्ती व्यवस्था के स्वामियों, के साथ प्रतिगामी समझौता कर लिया। गुहा इसमें १८४८ की क्रान्ति से साम्य देखते हैं, जिस पर मार्क्स ने भी मार्मिक टिप्पणी की थी। गुहा इंगित करते हैं कि जबकि मार्क्स ने १६८८ की आंग्लक्रान्ति और १७८९ की फ्रांसीसी क्रान्ति में सामन्तवाद की शक्तियों के विरुद्ध बुर्जुआइजी की भूमिका को मुक्तिदायक एवं रूपान्तरणकारी बताया था, वहीं १८४८ की क्रान्ति को जनता के हितों (जो वास्तव में प्रकृति तथा समाज के रूपान्तरण में निहित थे) के विरुद्ध बुर्जुआइजी को सामन्तवाद की शक्तियों के साथ समझौता करने वाला पाया। गुहा स्मरण दिलाते हैं कि मार्क्स ने बड़ी दूरदर्शिता के साथ इंगित किया था कि 'दासों के स्वामित्व वाली सामन्ती संस्कृति के विनाश की सार्वभौम प्रकृति का वायदा' और, १९ वीं शताब्दी से इस प्रवृत्ति की ऐतिहासिक विफलता पूँजीवाद का आधारभूत विरोधभाव था। उसी समय से पूँजी की सार्वभौमीकरण की प्रकृति, उदारवादी इतिहास लेखन और चिन्तन की भ्रान्ति तथा ढोंग मात्र रह गई। गुहा और उनके सहयोगियों का कहना है कि, इसके विपरीत, सबाल्टर्न इतिहास लेखन व राजनीतिक सिद्धान्त मार्क्स की दूरदर्शिता से प्रेरणा ग्रहण करते हैं, जो पूँजी की सार्वभौमवादी प्रकृति के उस चरण तक विकास को कल्पित करती है, जहाँ से वह अपने निलम्बन की ओर अग्रसर होगी। गुहा लिखते हैं[१] कि पूँजीवाद का सामना अन्ततः उन परिसीमाओं से होता है, जिन पर पूँजी कदापि विजय नहीं पा सकती। अतएव इसकी विफलता पूर्वनिश्चित है।

औपनिवेशिक स्थिति के सन्दर्भ में गुहा का कहना है कि यह पुरानी या सामन्ती व्यवस्था को परास्त करने के यूरोपीय बुर्जुआइजी के सार्वभौमवादी ध्येय का विस्तार नहीं था, बल्कि साम्राज्यवादी बुर्जुआइजी द्वारा भारतीय समाज में विद्यमान पूर्व–पूँजीवादी मूल्यों व संस्थाओं को बड़े पैमाने पर सहन करने जैसा था।

---

१. सबाल्टर्न स्टडीज, ६, पृ० २२५

अस्तु, उपनिवेशों में बुर्जुआइजी ने लोगों (जनता) को पुरानी व्यवस्था से न तो मुक्त किया, न उन्हें नई बेहतर समाज व्यवस्था की ओर अग्रसर किया। इस कारण पुरानी, सामन्ती व्यवस्था के शीर्षस्थ लोगों के साथ सहयोग के द्वारा, बुर्जुआइजी ने जो प्रभुत्व (डॉमिनेन्स) समाज पर स्थापित या हासिल किया, वह वर्चस्वयुक्त (हेजीमनिक) नहीं था, क्योंकि (या जहाँ तक) यह जनता की सहमति से अधिक बल प्रयोग या दबाव पर आधारित था। गुहा लिखते हैं कि वर्चस्व से विहीन या वंचित औपनिवेशिक शासन बलप्रयोग (व्यवस्था व दण्ड) अनुनय (सुधार व धर्म) सहयोग (आज्ञाकारिता व भक्ति) तथा प्रतिरोध (अधिकारयुक्त असहमति और धार्मिक विरोध–प्रदर्शन) के साम्राज्यीय तथा देशी मुहावरों के, विशिष्ट रूप से, औपनिवेशिक घालमेल पर आधारित था।

औपनिवेशिक शासन का विश्लेषण गुहा ने वर्चस्वविहीन प्रभुत्व के रूप में किया है। इससे उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि बुर्जुआ संस्कृति उपनिवेशवाद में अपनी ऐतिहासिक सीमा तक पहुँच जाती है। उपनिवेशवाद की व्याख्या उन्होंने पूँजी के सार्वभौमवादी ध्येय या प्रोजेक्ट से 'प्रगत' बुर्जुआइजी के प्रतिगमन के रूप में की है, क्योंकि वह (पूँजी), औपनिवेशिक राज्य के माध्यम से, पूर्व–पूँजीवादी अनुदारता, अनन्यता (पार्टीकुलरिज्म) से समझौता कर लेती है। उनका निष्कर्ष है कि बुर्जुआ या उदारवादी संस्कृति की कोई भी उदात्त उपलब्धि (उदारवाद, लोकतन्त्र, स्वातन्त्र्य, विधि का शासन आदि) पूँजीवादी प्रसार की व क्षेत्रातीत औपनिवेशिक प्रभुत्व की राजनीति के समक्ष टिक नहीं पाती[१]। अतएव वे उदारवादी इतिहास लेखन तथा चिन्तन का विरोध करते हैं, जो पूँजी के सार्वभौमवादी मिशन का भ्रम कायम रखते हैं। उनका आग्रह है कि ऐसे आदर्शों, मूल्यों तथा विश्व की विवेचना के ऐसे तरीकों से अनुप्राणित, 'ऐतिहासिक' विरोध द्वारा इनकी आलोचना की जानी चाहिए और उन पर प्रहार किया जाना चाहिए, जो उदारवाद के समक्ष चुनौती रखने वाले हों। वे लिखते हैं कि ऐसी आलोचना जो, बुर्जुआ प्रभुत्व और तदनुरूप सामाजिक व राजनीतिक संरचनाओं के भौतिक आधार को ध्वस्त करने वाली हो । वह बुर्जुआ प्रभुत्व के दायरे के बाहर से आनी

---

१. सबाल्टर्न स्टडीज, वाल्यूम ६, पृ० २७७
२. सबाल्टर्न स्टडीज, वाल्यूम ६, पृ० २२२

चाहिए अर्थात् किसी अन्य एवं 'ऐतिहासिक रूप से विरोधात्मक जगत् से' । दूसरे शब्दों में, उनकी सम्मति में उदार राजनीतिक संस्कृति या वैचारिकी की आलोचना केवल उस वैचारिकी द्वारा सम्भव है, जो (उदारवाद की) प्रभुत्वशाली या प्रबल संस्कृति की विरोधी हो और उस पर प्रहार करे; इससे पहले कि वह वर्ग अपना शासन स्थापित कर ले[२], जिसकी वह प्रवक्ता है । गुहा मानते हैं कि यह समालोचना 'गतिरुद्ध परन्तु अभी भी प्रभुत्वधारी' वर्ग से उदीयमान वर्ग द्वारा सत्ता हस्तगत करने की पूर्वापेक्षा रखती है।

अशोक सेन सबाल्टर्न इतिहास लेखन को गैर-पूँजीवादी संक्रमण की अपेक्षाकृत विस्तृत रूपरेखा में मार्क्सवादी चिन्तन का एक रूप मानते हैं । उनका मत है कि सबाल्टर्न अध्ययन का विषय क्रान्तिकारी है। इस क्रान्तिकारी विषय का सच्चा 'स्व' या प्रतीक (सेल्फ) उनकी सम्मति में सबाल्टर्न विद्रोही है, जो सामुदायिक जीवन के उस स्वप्न के लिए लड़ता है, जिसका साम्राज्य के जीवन से तथा भारत में इंग्लैण्ड के कार्य की रक्षा और स्थायित्व के लिए आवश्यक नीतियों से तालमेल नहीं बैठता। इसके अतिरिक्त, उपाश्रयिता का मूलभूत विरोध, बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में चलने वाले, उदारवादी राष्ट्रवादी आन्दोलन से रहा है, जो निष्क्रिय क्रान्ति मात्र था और जिसका उद्देश्य 'श्रमिक वर्ग' की आत्मपरकता (व्यक्तिनिष्ठा) को ऐसी आम सहमति में विलीन करना था, जो पूँजी के समक्ष श्रम की अधीनता को पूर्ण या स्थायी बनाती है[१]। सेन मानते हैं कि औपनिवेशिक भारत में प्रधान या प्रभावी वर्गों में न तो सामुदायिक भावना थी, न राष्ट्रीय सम्पर्क और न सामाजिक रूपान्तरण के लिए आवश्यक, पर्याप्त या उपयुक्त राजनीतिक संगठन । यहाँ तक कि गाँधी जी द्वारा छेड़े गये जन-आन्दोलनों में भी जब भी अविरल जनयुद्ध की सम्भावना प्रकट हुई, तो गाँधी जी ने बार-बार भूस्वामियों की नैतिकता को किसान व जनसामान्य के लोकाचार पर हावी बना दिया। आगे सेन का कहना है कि, आधुनिक भारत क्रान्तिकारी सामुदायिकता के वैचारिक व व्यावहारिक साधनों को प्रायः खो चुका है। यह स्थिति पूँजीवादी व्यवस्था से आगे

---

१. सबाल्टर्न स्टडीज, वाल्यूम ५, पृ० २३०-३१

२. पूर्वोद्धृत, पृ०२२१

जाने के इच्छुक लोगों के लिए कष्टकर है। सबाल्टर्न अध्ययन का प्रयास है कि उन सीखों को पुनः प्रस्तुत करे, जो प्रासंगिक हैं[२]। सेन की सम्मति में इन सीखों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि स्वायत्त सबाल्टर्न विप्लव, जो दुनिया को उलट-पलट कर देना चाहते थे, उन सामुदायिक सम्बन्धों की पुनःस्थापना के प्रयास थे, जिन्हें औपनिवेशिक काल में पूँजी, पूँजीवाद-पूर्व सम्पत्ति तथा राजकीय शक्ति ने छिन्न-भिन्न कर डाला था । सेन की दृष्टि में सबाल्टर्न चेतना की स्वायत्तता से अभिप्राय समाजवाद में (गैर पूँजीवादी संक्रमण में) जनता की सत्ता की आकांक्षा से है (अर्थात् पूँजीवाद के पूर्ण परिपक्व होने की प्रतीक्षा किये बिना ही समाजवाद में संक्रमण) जैसा कि जनवरी १९८६ में कलकत्ता में आयोजित द्वितीय सबाल्टर्न स्टडीज कान्फ्रेन्स में प्रस्तुत अपने आलेख में कहा है ।

इसे सबाल्टर्न चेतना व सक्रियता, सामन्तवाद व पूँजीवाद विरोधी पक्षों के आधार पर, समाजवाद के लिए संघर्ष के रूप में देखा गया । इसे 'मार्क्सवादी हिन्द स्वराज की खोज' भी कहा गया है।

पार्थ चटर्जी ने सबाल्टर्न समूहों, विशेष रूप से किसानों, के बीच गाँधी जी की लोकप्रियता के सैद्धान्तिक आधार के निरूपण का भी प्रयास किया है[१]। पार्थ चटर्जी मानते हैं कि नागरिक सिविल समाज और उद्योग के समस्त पहलुवों की गाँधी जी द्वारा की गई आलोचना ने अभिजन राष्ट्रवादी विचार के ढाँचे को तो पलटा परन्तु, इसके साथ ही नये भारतीय राज्य के विकासमान् रूपों के अन्दर जनसामान्य के वर्गों के समाविष्ट किये जाने की ऐतिहासिक परिस्थितियों को भी जन्म दिया[२]। उनकी मान्यता है कि गाँधी जी की वैचारिकी को भारत में अभिजन राष्ट्रवादी चिन्तन के ऐतिहासिक विकास के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। इस वैचारिकी की अवधारणा तत्कालीन अभिजन राष्ट्रवादी संलाप या चिन्तन में दखल के रूप में हुई थी और इसको रूप-आकार प्रदान करने में राष्ट्रीय आन्दोलन

---

१. टी० पैन्थम, पॉलीटिकल थ्योरीज एण्ड सोशल रिकन्स्ट्रक्शन अध्याय, ४, पृ० १०४ परन्तु उन्होंने इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं प्रस्तुत किया है कि उसका व्यावहारिक रूप क्या था और गाँधी जी की विचार प्रणाली का सबाल्टर्न समूहों से सम्बन्ध कैसा था। उनका ध्यान मुख्य रूप से गाँधी जी के राजनीतिक दर्शन और उसके निहितार्थों पर केन्द्रित रहा है।

२. सबाल्टर्न स्टडीज, वाल्यूम ३, गाँधी ऐण्ड द क्रिटिक ऑफ सिविल सोसाइटी, पृ० १५६

का विशिष्ट अनुभव सहायक था । मनुष्य को असीम उपभोक्ता के रूप में देखने वाले समाज की नैतिकता के विपरीत, सामुदायिक, विशेषतः कृषक सामुदायिक, नैतिकता पर गाँधी जी का जोर तत्कालीन राष्ट्रवादी चिन्तन में व्यवधान का सूचक था और यही उनकी शक्ति का स्रोत था । उनके द्वारा निरूपित वैचारिकी और राजनीतिक कार्यक्रम के प्रति जनता की अनुक्रिया अनुकूल थी, जिससे भारतीय राष्ट्रवाद के विस्तार एवं वेग में वृद्धि हुई, विशेषतः किसान समुदाय के समायोजन से । इसी के साथ कांग्रेस नेतृत्व द्वारा राष्ट्र के विशालतम तत्त्व, जनसामान्य के समावेश की ऐतिहासिक सम्भावना का भी जन्म हुआ[१]।

पार्थ चटर्जी की सम्मति में अहिंसा की राजनीति के कार्यान्वयन से यह भली-भाँति स्पष्ट हो गया कि गाँधी जी का यह दावा सही नहीं था कि किसान समुदाय की राजनीतिक लामबन्दी का उद्देश्य जनसामान्य को आत्मचेतन बनाना एवं सत्ता की प्राप्ति के निमित्त प्रशिक्षण प्रदान करना था; बल्कि किसान समदुाय को उस संघर्ष में स्वैच्छिक भागीदार बनाना था, जिसकी अवधारणा एवं निर्देशन पूर्णतः दूसरों के हाथों में थे[२]। वे मानते हैं कि राष्ट्रीय राजनीति के गाँधीवादी ढाँचे में किसानों व मजदूरों को लामबंद तो किया जाना था; परन्तु सचेतन भागीदारों के रूप में सक्रिय नहीं बनाया जाना था। गाँधी जी ने शोषण व दमन के विरुद्ध संघर्ष में शामिल होने से दृढ़ता के साथ इनकार किया और बुर्जुआइजी के वर्गगत स्वार्थों के दायरे से बाहर जाने में वे विफल रहे । पार्थ चटर्जी का कहना है कि उस ऐतिहासिक प्रक्रिया का विवेचन आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन का विशेष प्रश्न है, जिसके द्वारा, गाँधी जी की वैचारिकी में विद्यमान, राजनीतिक सम्भावनाएँ राज्य की जीवनक्षम संरचना के निर्माण के प्रयास में वर्चस्वविहीन भारतीय बुर्जुआइजी के हाथों का औजार बन गयी[३]।

सबाल्टर्न अध्येताओं ने वर्ग के अलावा अन्य सामाजिक समूहों या बन्धन सूत्रों यथा-नातेदारी, जाति, धर्म, समुदाय, जनजाति व भाषा तथा इनमें होने वाले

---

१. नेशनैलिस्ट थॉट ऐण्ड द कॉलोनियल वर्ल्ड, पृ० १९३

२. पूर्वोद्धृत, पृ० १२४

३. पूर्वोद्धृत, पृ० १९४

४. रंजीत दासगुप्ता, पृ० ३८४

परिवर्तनों की प्रकृति तथा विस्तार पर भी ध्यान आकृष्ट किया है । इसके साथ ही इसकी केन्द्रीय मान्यता यह है कि सबाल्टर्न समूहों या वर्गों में समुदाय की धारणा राष्ट्र से भिन्न है । वे क्षेत्र व स्थान (Region & locality) को विशेष महत्त्व प्रदान करते हैं। इसका महत्त्व इससे प्रकट होता है कि औपनिवेशिक शासन के अधीन नगरीय एवं ग्रामीण सामाजिक जीवन में होने वाले परिवर्तनों तथा नये सामाजिक समूहों व संस्थाओं के उदय के बावजूद, उपरोक्त सामाजिक समूह न केवल विद्यमान हैं; अपितु उनके नवीन रूप एवं अन्तर्वस्तु का विकास भी हुआ है[४] ।

दीपेश चक्रवर्ती ने लिखा है कि, श्रमिक वर्ग के इतिहास से सम्बन्धित उनकी अपनी पुस्तक के साथ ही, रंजीत गुहा, पार्थ चटर्जी और ज्ञानेन्द्र पाण्डेय आदि की रचनाओं में आधुनिकता के भारतीय अनुभव को वर्चस्वविहीन प्रभुत्व के अनुभव के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन कृतियों में राष्ट्र की अवधारणा उस पवित्रता या अलंघ्यता से वंचित हो जाती है, जो इसे कभी साम्राज्यवादियों तथा राष्ट्रवादियों की दृष्टि में प्राप्त थी । सबाल्टर्न इतिहासकार राष्ट्रवाद की धारणा को अपर्याप्त मानते हैं। वे इसकी देशीय पक्षपाती प्रवृत्ति का विरोध करते हैं[१]। राष्ट्र के साथ ही प्रगति, स्वतन्त्रता आदि भी आलोचना के विषय बन गये हैं ।

गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक ने सबाल्टर्न विद्रोही की आत्मपरकता के प्रति सबाल्टर्न इतिहासकारों के समर्थन की सराहना की है, जो साम्राज्यवादविरोधी प्रतिरोध की राजनीति के लिए आवश्यक है। उनकी सम्मति में सबाल्टर्न इतिहासकार मार्क्स की उस सम्मति से, कि मनुष्य को आत्मनिर्णय और सुसम्बद्ध व्यवहार की दिशा में आगे बढ़ना चाहिए, और ग्राम्शी की इस सम्मति से, कि निम्न वर्गों को 'नकारों' की शृंखला के माध्यम से आत्मचेतना हासिल करनी चाहिए, से प्रेरित

---

१. एडवर्ड सईद, फोरवर्ड, सेलेक्टेड सबाल्टर्न स्टडीज, पृ० १ (अध्येताओं का यह समूह विशाल उत्तर-औपनिवेशिक, सांस्कृतिक व समीक्षात्मक समुदाय का हिस्सा है, जिसमें उपन्यासकार, कवि, चिंतक, दार्शनिक आदि भी शामिल हैं। फ्रैंज फैनान के अनुसार पराधीन देशों की मुक्ति के बाद राष्ट्रवादी चेतना को एक नई सामाजिक चेतना में परिणत होना था; परन्तु ऐसा नहीं हुआ। सबाल्टर्न अध्येता इसके प्रति राजनीतिक, बौद्धिक एवं सांस्कृतिक सभी स्तरों पर विरोध व्यक्त करते रहे हैं।)

दिखते हैं[१]। उनकी सम्मति में सबाल्टर्न अध्येता कृषक वर्ग के प्रतिनिधित्व के अन्वेषक हैं जिन्हें औपनिवेशिक तथा उदारवादी राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन में आत्मपरकता व कर्त्तापद से वंचित रखा गया था। ज्ञान प्रकाश ने भी सबाल्टर्न इतिहासकारों द्वारा, पूर्व-प्रदत्त संस्थापना अथवा सारतत्त्व के रूप में नहीं बल्कि रक्त सम्बन्धों के प्रभाव या परिणाम के रूप में, उपाश्रित विद्रोही की पात्रता की पुन:स्थापना की सराहना की है[२]।

यह लुई आल्थूसर के इस मत का भी खण्डन है कि इतिहास कर्त्ताविहीन प्रक्रिया है; क्योंकि रंजीत गुहा ने कृषक विद्रोही की चेतनता पर ध्यान केन्द्रित करने पर जोर दिया है। गुहा ने लिखा है कि पात्रविहीन घटनाओं के इतिहास के रूप में, बगावत के अनुभव से कोई अर्थ निकलना सम्भव नहीं है[३]।

आलोचना

दीपांकर गुप्ता, रोजेलिन हैनलॉन, प्रो० इरफान हबीब, रोमिला थापर और मृदुला मुकर्जी आदि ने सबाल्टर्न इतिहास- लेखन के प्रच्छन्न या अल्प–प्रच्छन्न अभिजात्यवाद की आलोचना की है। दीपांकर गुप्ता ने लिखा है कि गुहा ने सबाल्टर्न वर्गों /कृषकों व आदिवासियों की पृथक् मानसिकता पर जोर देकर वस्तुत: उनकी पहचान को व इतिहास को उपजातीय स्वरूप प्रदान कर दिया है। गुहा ने विप्लवी कृषकों को ऐसा उपजातीय समुदाय बताया है, जिसका अपना स्वायत्त मानस व अपनी स्वायत्त संस्कृति है, अपनी चेतनता है। इन वर्गों के वर्णन में गुहा ने स्वयं उनके लिए कठोर विशेषणों तथा कटूक्तियों का प्रयोग किया है । जैसे— अल्पपरिष्कृत, अप्रतिष्ठित, अपरिपक्व, असम्बद्ध आदि । अर्थात् कृषक चेतना पिछड़ी हुई थी और उसे क्रमिक विकास द्वारा प्रगति की सीढ़ियाँ चढ़नी थीं । इस प्रकार, वास्तव में, गुहा के इतिहास-लेखन ने अभिजनवादियों के हाथों उससे

---

१. सबाल्टर्न स्टडीज, वाल्यूम ४, पृ० ३३६
२. गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक द्वारा उद्धृत, डीकन्सट्रक्टिंग हिस्टोरियोग्राफी, सबाल्टर्न स्टडीज, वाल्यूम ४, १९८५, पृ० ३५०
३. ज्ञान प्रकाश, कैन द सबाल्टर्न राइड ? ए रिप्लाइ टु ओ हैनलॉन एण्ड बाशब्रुक, कम्पेरेटिव स्टडीज इन सोसाइटी एण्ड हिस्ट्री, ३४/२, १९९२

अधिक क्षेत्र गँवाया है, जितना अभिजनवादी इतिहासकारों ने नहीं किया होगा । एक प्रकार से गुहा ने, मानसिक तथा बौद्धिक धरातल अथवा आधार पर, कृषकवर्ग व आदिवासियों को शेष जनता से पृथक् करके अभिजात्यवाद को अपेक्षाकृत ठोस आधार पर खड़ा किया है[१] ।

गुप्ता की सम्मति में सबाल्टर्न विद्रोह की उपजातीय (एथनिक) व्याख्या संरचनात्मक न होकर सांस्कृतिक है । सामाजिक संरचना में अभिजनों व विद्रोहियों की स्थितियों पर, विशेष रूप से सत्ता तक उनकी सापेक्ष रणनीतिक पहुँच पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए था[२] । उनके अनुसार संरचनात्मक परिप्रेक्ष्य के आधार पर हम इस तथ्य को समझ सकते हैं कि सांस्कृतिक एवं धार्मिक रूपकों (Metaphors) का प्रयोग ३४ प्रयोजनों के लिए किया जा सकता है, जिनको उन्होंने कभी नहीं साधा, अर्थात् लौकिक उद्देश्यों से धार्मिक प्रतीकों का प्रयोग नहीं किया । रोजेलिन ओ हैनलान का तर्क है[३] कि सबाल्टर्न अध्येताओं ने जिस प्रकार उपाश्रितों की सामूहिक संस्कृतियों एवं परम्पराओं को प्रस्तुत किया है, वह सत्ता या शक्ति की उस चेतना का महत्त्व कम करता प्रतीत होता है, जिसकी पुन:प्रतिष्ठा को वे अपना सरोकार मानते हैं। उदाहरण के लिए पार्थ चटर्जी ने कृषक की सामुदायिक वैचारिकी या सामुदायिक सत्ता/शक्ति पद्धति की धारणा प्रस्तुत की है, जो कि एकता तथा मतैक्य की धारणा है, जिसमें सत्ता के सम्बन्ध नदारद हैं। चटर्जी का दावा है कि सत्ता की सामुदायिक पद्धति का विशिष्ट लक्षण यह है कि समुदाय के सदस्य विश्वास करते हैं कि नातेदारी के सूत्र पहले से विद्यमान होते हैं, जो सामूहिक कार्यवाही के लिए पूर्व आधार प्रदान करते हैं। इस सम्बन्ध में हैनलान का कहना है कि किसी भी कृषक समुदाय में भौतिक व राजनीतिक शक्तियों के पूर्ण सन्तुलन को स्वीकार नहीं किया जा सकता । यह मिथ्या या आरोपित विश्वास भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि सम्बद्धता के सूत्र पहले से विद्यमान होते हैं। इसे वे 'सत्ता

---

१. दीपांकर गुप्ता, "ऑन आल्टरिंग ईगी इन पीजेण्ट हिस्ट्री, पैराडाक्सेज ऑफ द एथनिक ऑप्शन," पीजेण्ट स्टडीज, XII (१) पृ०१६

२. पूर्वोद्धृत, पृ० १०

३. रिकवरिंग द सब्जेक्ट : सबाल्टर्न स्टडीज एण्ड हिस्ट्रीज ऑफ रेजिस्टेंस इन कॉलोनियल साउथ एशिया, माडर्न एशियन स्टडीज, XXII (१) फरवरी १९८८

के निरूपण की रणनीतिक कमजोरी' मानती हैं। सबाल्टर्न सामूहिकता के विचार को चाहे वह प्रकटत: स्वाभाविक सहज समुदाय के रूप में, हो या 'एकात्म नैतिक अर्थव्यवस्था' के रूप में या किसी अन्य रूप में, वे गतिरोधक (Static) मानती हैं, जो सत्ता के प्रति आग्रह के उग्र आवेग को रोक देगा[१]।

ओ हैनलॉन का कहना है कि कर्ता (Sabject-agent) की पहचान तथा इतिहास सारतत्त्व रूप में अस्तित्ववान् नहीं होते; बल्कि निरूपण की क्रिया में निर्मित या उत्पन्न होते हैं, इसलिए सबाल्टर्न वर्गों की उपस्थिति का पुनरन्वेषण स्वायत्त मूल की खोज में लुप्त नहीं हो जाना चाहिए, अन्यथा अभिजन इतिहास लेखन के कर्ता-वाहक (जो स्वनिर्मित एवं स्वनिर्धारित होते हैं) का विध्वंस या विरचन नहीं हो सकता । उन्होंने अभिजन एवं उपाश्रयी चेतना के द्वैत या स्वायत्तता पर पुनर्विचार की आवश्यकता भी इंगित की है । सबाल्टर्न अध्येताओं द्वारा सबाल्टर्न वर्गों की आत्मपरकता की पुन:प्रतिष्ठा (जिसे वे 'सकारात्मक विरचन की सर्वाधिक उपयोगी रणनीति' मानते हैं) की आलोचना ओ हैनलॉन ने इस आधार पर की है कि जिसकी पुन:प्रष्ठिता की गई है, वह पश्चिमी मानववाद के शास्त्रीय या चिर-नवीन पात्र का ही 'दर्पण प्रतिबिम्ब' है, जो सबाल्टर्निटी को या सबाल्टर्न की अन्यता (Otherness) को जन्म देता है। ओ हैनलॉन ने सबाल्टर्न अध्येताओं द्वारा उपजाति–केन्द्रित इतिहासवाद की तथा औपनिवेशिक, राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी इतिहास लेखन के परम्परागत प्रकारों या भेदों की समालोचना की सराहना भी की है । गुहा और उनके सहयोगियों द्वारा सबाल्टर्न चेतना के पुनरन्वेषण की रणनीति के कतिपय पक्षों (जैसे सबाल्टर्न विद्रोही द्वारा अभिजन प्राधिकार के संकेतों, प्रतीकों या चिह्नों से इनकार) को उन्होंने उल्लेखनीय रूप से लाभप्रद कहा है; परन्तु उनका कहना है कि सत्ता और प्रतिरोध के केन्द्रीय महत्त्व के प्रश्नों पर पश्चिमी मानववाद के महत्त्वपूर्ण औजारों (टूल्स) का प्रयोग धीमे सैद्धान्तिक पक्षाघात जैसा है। इन औजारों में वे एकात्म, अपने निजी मूल वाले, स्व उद्भूत, स्वनिर्धारक अथवा स्वयम्भू उदारवादी मानववाद की अवधारणा की गणना करती हैं। उनका कहना है कि पश्चिमी मानववाद का यही चिर-नूतन पात्र

१. पूर्वोद्धृत, पृ० २१२

'पिछले दरवाजे से' सबाल्टर्न के रूप में पुन:प्रविष्ट करा दिया गया है और चेतन मानव के रूप में, सबाल्टर्न अध्ययन परियोजना की पुनर्रचनाओं में, इतिहास में पुन:स्थापित किया गया है[१]। हैनलॉन के अनुसार सबाल्टर्न अध्येताओं द्वारा स्वायत्त आत्मपरकता या व्यक्तिपरकता (Subjectivity) की उदार मानववादी अवधारणा अपनाने के कारण ही वे प्रभुत्व और प्रतिरोध के मुद्दे की अवधारणा को सीमित एवं विरूपित तरीके से प्रस्तुत करते हैं। सामाजिक चेतना के स्वायत्त मूलों की हैनलॉन आलोचना करती हैं; क्योंकि (जैसा कि रश्मि भटनागर का कहना है– यूलेज ऐण्ड मिमिट्स आफ फूको, सोशल साइंटिस्ट, नं० १५८, जुलाई १९८६, पृ० २१०) यह असम्भव शुद्धता की चाह रखती है तथा अर्थ की पूर्णता के लिए ललकती है, जो आधारभूत रूप से भ्रान्तिपूर्ण है[२]। शायद उनका यह भी सुझाव है कि जब प्रतिरोध का निरूपण वर्चस्व के निरूपण में प्रतिकार के रूप में विद्यमान रहता है (या इसकी उलटी स्थिति भी होती है) तो प्रतिरोध की रणनीति का हिंसात्मक प्रहार पर केन्द्रित होना आवश्यक नहीं है। अत: हमें प्रतिरोध के अपेक्षाकृत स्त्रियोचित रूपों की ओर भी ध्यान देना चाहिए[३]।

सबाल्टर्न अध्येताओं का सरोकार प्राथमिक तौर पर विद्रोहों एवं विपदाओं से रहा है; परन्तु सुमित सरकार इसे पर्याप्त नहीं मानते[४]। सुमित सरकार ने सबाल्टर्न समूहों के इतिहास के सम्यक् बोध के लिए टकराव के क्षणों पर अधिक ध्यान या जोर देने की प्रवृत्ति के बजाय पूर्ण अधीनता और खुले विद्रोह के बीच की मध्यवर्ती प्रवृत्तियों या रुझानों के 'विस्तृत एवं जटिल सातत्य' पर तथा चेतना एवं सक्रियता की अतिशय विविधतापूर्ण किस्मों के सह-अस्तित्व और जटिल अन्तर्वेधन के चित्रण एवं विवेचन पर ध्यान देने का आग्रह किया है[५]। उन्होंने कृषक समाज में, अपनी आर्थिक एवं राजनीतिक पराधीनता के विरुद्ध सबाल्टर्न समूहों के प्रतिरोध में, धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका को भी इंगित किया है[६]। धर्म की भूमिका पर डेविड आर्नाल्ड, डेविड हार्डीमेन व शाहिद अमीन ने भी प्रकाश डाला है।

---

१. पूर्वोद्धृत, पृ० १९१
२. टी० पैन्थम, पॉलीटिकल थ्योरीज एण्ड सोशल रिकन्स्ट्रक्शन, पृ० ९७
३. पूर्वोद्धृत, पृ० ९८
४. सबाल्टर्न स्टडीज, वाल्यूम III, पृ० २७३-२७४
५. सबाल्टर्न स्टडीज, वाल्यूम III, पृ० २७४
६. सबाल्टर्न स्टडीज, वाल्यूम III, पृ० ३०८

१८९३-१९२१ के बीच कुमाऊँ के किसान प्रतिरोध पर अपने लेख में रणजीत गुहा ने समकालीन राष्ट्रीय आन्दोलन से उसके सम्बन्ध पर टिप्पणी करते हुए किसानों की राजनीति को स्पष्ट रूप से शहरी राष्ट्रवाद की राजनीति की उपज मानने से इनकार किया है; क्योंकि 'यह चलताऊ निरूपण तत्कालीन राष्ट्रवादी आन्दोलन से उसके संभावित सम्बन्धों की गवेषणा का मार्ग बन्द कर देता है'। वे इस किसान प्रतिरोध को जुझारू तो बताते हैं; परन्तु इस जुझारूपन के उद्भव का सम्यक् विवेचन नहीं कर सके[१]।

मिदनापुर के जंगल महालों की आदिवासी राजनीति को स्वप्न दासगुप्ता ने शुद्ध रूप से कांग्रेस राजनीति की उपज नहीं माना है; परन्तु वे यह स्पष्ट नहीं कर सके हैं कि कांग्रेस की राजनीति से आदिवासी राजनीति का ठीक ठीक सम्बन्ध क्या था। इस प्रश्न का भी उनके पास कोई स्पष्ट उत्तर नहीं है कि कांग्रेस ने यदि इस राजनीति में पहल नहीं की तो क्या आदिवासियों की स्वायत्त राजनीतिक पहल का उपयोग मात्र किया[२] ? यद्यपि, १९२१-२२ में मिदनापुर जमींदारी कम्पनी के विरुद्ध प्रतिरोध के संगठन में कांग्रेस के प्रचार की केन्द्रीय भूमिका को दासगुप्त ने स्वीकार किया है[३]। अन्य अवसरों पर कांग्रेस की भूमिका से स्वायत्त आदिवासी पहल पर सचेतन रूप से होने वाले (किये जाने वाले) कुठाराघात का संकेत तो वे करते हैं; परन्तु उनके स्वयं के विवरण इसे सिद्ध नहीं कर पाते, बल्कि ये विवरण लेखक के रूढ विचारों तथा साक्ष्यों को अनदेखा न कर पाने की मजबूरी से उत्पन्न तनाव को ही इंगित करते हैं[४]।

सबाल्टर्न अध्येताओं के इस दावे को, कि उपाश्रित वर्गों, किसानों व मजदूरों की प्रतिरोध की शैलियाँ स्वायत्त, स्वतः स्फूर्त, परम्परागत तथा अधिक उग्र थीं, जो राष्ट्रवादी नेतृत्व से पृथक् या स्वतंत्र रूप से विकसित हुईं और राष्ट्रवादी नेतृत्व ने उन्हें दबाए रखने का प्रयास किया अथवा नेतृत्व के उपयोग के लिए

---

१. बी०बी० चौधरी, इतिहास, अंक १, जनवरी १९९२, पृ० २६८-२६९
२. बी०बी० चौधरी, उपाश्रयी स्वायत्तता और राष्ट्रीय आन्दोलन, इतिहास अंक १, १९९२, पृ० २२०
३. सबाल्टर्न स्टडीज, वाल्यूम ४, पृ० १२७
४. बी० बी० चौधरी, वही, पृ० २७१

उनकी दिशा बदलने का प्रयास किया, प्रो० इरफान हबीब स्वीकार नहीं करते । प्रो० हबीब यह भी नहीं मानते कि वे इतिहास की एक नई पद्धति विकसित कर रहे हैं; क्योंकि किसान संघर्षों की स्वत: स्फूर्तता अथवा स्वायत्तता तथा किसानों को संघर्ष में खींच कर लाने के प्रति राष्ट्रवादी नेतृत्व की उदासीनता का उल्लेख रजनी पामदत्त पहले ही कर चुके थे और माजिद सिद्दीकी ने भी इसे इंगित किया है[१]।

मार्क्सवादी (रजनी पामदत्त) तथा उपाश्रयी इतिहास लेखन के अन्तर पर प्रकाश डालते हुए प्रो० इरफान हबीब ने संकेत किया है कि गुहा के विपरीत, दत्त ने अभिजन शब्द का प्रयोग उन व्यक्तियों के लिए नहीं किया जो, मध्यम वर्ग तथा जमींदारों के उच्च वर्गों के सदस्य होने के नाते, स्वयं किसान या मजदूर नहीं थे। प्रो० हबीब का प्रश्न है कि क्रान्तिकारियों को क्या कहेंगे? अभिजन या उपाश्रित? उनमें तथा कांग्रेस के नेताओं में वर्गभेद बहुत कम था। यदि वे अभिजात थे, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि अभिजात वर्ग के सदस्यों की लामबंदी या संघटनीकरण अपेक्षाकृत वैधानिक था और उपाश्रित वर्गों का अपेक्षाकृत अधिक हिंसक।

रंजीत गुहा के इस विचार को भी प्रो० इरफान हबीब स्वीकार नहीं करते कि उपाश्रित वर्गों पर समाज में सामान्य रूप से प्रचलित विचारों का तथा अभिजात वर्ग के विचारों का भी प्रभाव नहीं होता । प्रो० हबीब इन विचारों के प्रभावों की भूमिका को केन्द्रीय महत्त्व का मानते हैं । ग्राम्शी ने इस बात से इनकार किया था कि किसान वर्ग अपनी किसी विचारधारा को जन्म दे सकता है अथवा उसका अपना कोई बुद्धिजीवी वर्ग हो सकता है । इस सन्दर्भ में प्रो० हबीब संकेत करते हैं कि जनान्दोलनों की प्रकृति में परिमाणात्मक एवं गुणात्मक बदलाव राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय के बाद आया । १८५७ के कृषक विद्रोह को वे (प्रो० हबीब) जैकरीज के सदृश उद्देश्यविहीन मानते हैं, जो १९२०–३० के आन्दोलनों से अत्यन्त भिन्न थे । प्रो० हबीब का मत है कि राष्ट्रीय आन्दोलन ने ठीक उसी तरह किसानों में वर्गीय बोध उत्पन्न किया अथवा उसे बोधगम्य रूप से सघन बनाया; जैसे किसान असंतोष ने, राष्ट्रीय आन्दोलन के सन्दर्भ में, एक महत्त्वपूर्ण उत्प्रेरक की भूमिका निभाई[२] ।

---

१. भारतीय इतिहास की व्याख्या और मार्क्सवाद, पृ०१२४

२. भारतीय इतिहास की व्याख्या और मार्क्सवाद, पृ०१२५

प्रो० हबीब के अनुसार किसान चेतना में संचरण (ट्रान्स्मीशन) तथा अन्तर्लयन (एब्जार्बर्शन) के द्वारा परिवर्तन हुए थे । ये परिवर्तन किसान परम्परा के अन्तर्गत नहीं हुए । अतः चेतनागत स्तर पर होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन, जो किसान संघर्ष के प्रेरक थे, राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा उत्पन्न विचारों के प्रचार-प्रसार से अलग कर के नहीं किया जा सकता । इसलिए किसान, मजदूर व जनजातीय संघर्ष को प्रकाश में अवश्य लाया जाना चाहिए; परन्तु संकुचित ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में नहीं[१]।

सबाल्टर्न इतिहास लेखन 'विस्तृत आधार वाले ऐतिहासिक सामान्यीकरण' की वैधता को चुनौती देता है । अतः इसके अन्तर्गत किये गये अध्ययन 'स्वतःपूर्ण' हैं। साक्ष्यों या दस्तावेजों से परिपूर्ण इन अध्ययनों में परस्पर सम्बद्धता नहीं दिखती। 'अंश' या 'खण्ड' पर विशेष नोट दिये जाने से समग्र की उपेक्षा होती दिखती है- स्थानीय तथा सूक्ष्म की अभिव्यक्ति पर केन्द्रित होने से इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता कि क्या कोई राष्ट्र है या क्या कोई राष्ट्रीय आन्दोलन है? अतः यह अध्ययन राष्ट्रवाद की कोई वैकल्पिक अवधारणा भी प्रस्तुत नहीं कर सकता, भले ही यह इतिहासकारों के इस समूह का मूल इरादा रहा हो । व्याख्या का कोई ऐसा ढाँचा या 'चौखटा' भी नहीं है, जिसका किसी केन्द्रीय बिन्दु (Point) से सम्बन्ध हो और प्रत्येक अध्ययन जिससे जुड़ा हो । मूलपाठ (texts) बहुसंख्यक पाठोत्तर (reading) हैं; परन्तु इनके बीच की प्राथमिकताएं स्पष्ट नहीं हैं । रोमिला थापर की सम्मति में यह उत्तर आधुनिकतावाद का प्रभाव है । अध्ययन की इस पद्धति में इतिहास वर्णन मात्र रह जाता है, जो १९ वीं शताब्दी के इतिहास दर्शन की ओर वापसी जैसा लगता है— भिन्न प्रसंग (Context) और ढाँचे (चौखटे) में। इस प्रकार के इतिहास लेखन का पूर्व आधुनिक भारतीय इतिहास पर प्रभाव नहीं दिखता । कदाचित् इसका कारण, प्रयोग में लाये जाने वाले स्रोत और इन स्रोतों के प्रयोग का तरीका ही है[२]।

---

१. पूर्वोद्धृत, पृ० १२५

२. रोमिला थापर- इण्टर प्रिटेशन्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, कण्टेपोटरी इण्डिया : ट्रोजीशंस, पृ० ३५

मृदुला मुखर्जी औपनिवेशिक भारत में राजनीति के अभिजन व सबाल्टर्न क्षेत्रों में संरचनात्मक द्वैत या दोनों की चेतना में परस्पर-विरोध को मान्य नहीं करतीं। वे सबाल्टर्न राजनीति के शुद्ध व स्वायत्त क्षेत्र की अवधारणा को भी स्वीकार नहीं करतीं। कृषक स्वयं अपना प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते, बल्कि उनका नेतृत्व किसी क्रान्तिकारी नेता द्वारा ही सम्भव है, जो उन्हें समाजवादी विचारों व चेतना से परिचित कराए। यह कहना गलत है कि क्रान्तिकारी नेताओं का उदय अभिजन पृष्ठभूमि से नहीं हो सकता। इसके प्रमाण/दृष्टान्त उन्होंने स्वयं सबाल्टर्न लेखन से ही प्रस्तुत किये हैं। रंजीत गुहा अभिजन तथा उपाश्रित वर्गों की लामबंदी के स्वरूप में भी अन्तर करते हुए बताते हैं कि अभिजनों की राजनीतिक लामबंदी ऊर्ध्वरूप में हुई और उपाश्रित वर्गों की क्षैतिज रूप में । मृदुला मुखर्जी इसे सही नहीं मानतीं[१]।

१९-२०वीं शताब्दी में कृषक श्रमिकों (जिनमें अधिकांश अस्पृश्य तथा आदिवासी थे) में सामन्ती व्यवस्था-विरोधी व पूँजीवाद-विरोधी चेतना के अभाव को भी उन्होंने इंगित किया है और कहा है कि उनकी चेतना भरण-पोषण के अधिकार से परे विकसित नहीं हो पाई थी, न उनके संघर्षों का लक्ष्य भूराजस्व या जमींदारी प्रथा का पूर्ण उन्मूलन ही था। प्रो० इरफान हबीब की तरह उनका भी कहना है कि, धर्म द्वारा अनुमोदित शताब्दियों पुरानी प्रथाओं के कारण, देश के बड़े भाग में अपनी निज की भूमि के स्वामित्व अथवा काश्तकारी के अधिकार से (व उसके विचार से भी) वे वंचित या अनभिज्ञ थे । यह राजनीति का स्वायत्त/शुद्ध सबाल्टर्न क्षेत्र नहीं था, बल्कि ये प्रभुतासम्पन्न वर्गों द्वारा परिभाषित/पुन:परिभाषित होते रहे हैं। अभिजन विचारों से आप्लावित इस (सबाल्टर्न) चेतना को स्वायत्त अथवा अन्तर्निहित रूप से क्रान्तिकारी नहीं कहा जा सकता, बल्कि इसे, समाज व्यवस्था के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के लिए, व्यापक वैचारिक व राजनीतिक संघर्ष के अंग के रूप में परिणत करना होगा। सबाल्टर्न परिप्रेक्ष्य इस रूपान्तरण में बाधक है।

---

१. मृदुला मुखर्जी- औपनिवेशिक भारत में कृषक प्रतिरोध और कृषक चेतना, इतिहास ३, १९९४, पृ०१६३-२२३

कृषक चेतना में विद्यमान सामन्ती, साम्प्रदायिक/सामुदायिक व जातीय चेतना के तत्त्वों का प्रयोग प्रतिगामी व विभाजनकारी राजनीति के हित में सम्भव है[१]। अतः राष्ट्र, वर्ग, संस्कृति आदि पर आधारित लौकिक (सेक्युलर) रूपों व वैचारिकी का उनमें प्रवेश आवश्यक है। मृदुला मुखर्जी की सम्मति में सबाल्टर्न अध्ययनों में कृषक चेतना के सामुदायिक व जातीय तत्त्वों के रूपान्तरण के वैचारिक ढाँचे का अभाव है। पार्थ चटर्जी साम्प्रदायिकता को मूलभूत समस्या नहीं मानते, न धर्मनिरपेक्षता को उसका उत्तर; क्योंकि सबाल्टर्न कार्यवाहियों को राजनीतिक समस्याओं का रूप उनके गैर सांप्रदायिक और सैक्युलर अधिग्रहण ने प्रदान किया। वे साम्प्रदायिकता व धर्मनिरपेक्षता को राजनीति के उस क्षेत्र के लिए प्रासंगिक नहीं मानते, जो राज्य द्वारा समर्थित वैधानिक राजनीतिक व्यवस्था से बाहर स्थित है। चटर्जी की इस धारणा का कारण मृदुला मुखर्जी साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रवाद की सकारात्मक भूमिका को समझने में उनकी विफलता को मानती हैं।

मृदुला मुखर्जी ने, विद्रोह के कारणों, लक्ष्यों या उद्देश्यों तथा कार्यक्रम व विचारधारा से अधिक, उसके रूप पर जोर देने की प्रवृत्ति की भी आलोचना की है। उनकी सम्मति है कि सबाल्टर्न लेखन में संघर्ष के उग्र रूप को रोमाण्टिक बना दिया गया है। उनका मत है कि संघर्ष का रूप अभिजन या उपाश्रयी पर निर्भर न होकर इस पर निर्भर होता है कि सत्ता का स्वरूप वर्चस्वकारी/अर्धवर्चस्वकारी है या गैर वर्चस्वकारी एवं निरंकुश।

रंजीत दासगुप्ता ने, सबाल्टर्न समूहों की स्वायत्तता पर आवश्यकता से अधिक जोर देने में, गैर सबाल्टर्न विश्लेषण के पूर्ण अस्वीकरण या संगठित एवं असंगठित क्षेत्रों के बीच जैविक सम्पर्क सूत्र के अस्वीकरण के संकट, को भी इंगित किया है[२]।

---

१. इण्टर प्रिटेशन्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, कण्टेम्पोरेरी इण्डिया : ट्रांजीशन्स, बीटर रोनाल्ड डिसूजा एडी, पृष्ठ– ३६

२. प्रो० हबीब ने भी इसे इंगित किया है।

बी० बी० चौधरी ने उपाश्रयी आन्दोलनों के कुछ विशिष्ट तत्त्वों के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए लिखा है कि यह आवश्यक नहीं कि उनकी विशिष्टता उनकी स्वायत्तता से उपजी हो । सम्भव है कि अभिजन राजनीति से विधिवत् जुड़े व्यक्ति भी उपाश्रयी आन्दोलनों से इस प्रकार जुड़े रहे हों कि वह अभिजन राजनीति नहीं रह गयी हो। वे अभिजन राजनीति के अन्तस्तत्त्व में इससे आने वाले बदलाव की पड़ताल की जरूरत को भी इंगित करते हैं[१] ।

इस प्रश्न का उत्तर अभी स्पष्ट नहीं है कि सबाल्टर्न इतिहासकार निम्नवर्गीय क्षेत्र के स्वायत्त अस्तित्व को कहाँ तक सिद्ध या स्थापित कर पाये हैं। इसके अलावा इस क्षेत्र का अर्थ भी स्पष्ट नहीं हो सका है[२] । सबाल्टर्न लेखन से यह स्पष्ट झलकता है कि, प्रभावशाली नेतृत्व के अभाव में, सबाल्टर्न समूह, विशेषत: किसान, शोषण एवं दमन के विरुद्ध उस संघर्ष को रूपान्तरित करने में विफल रहे हैं, जिसका उद्भव स्वयं इन्हीं सबाल्टर्न समूहों में हुआ । अत: राजनीति के दोनों क्षेत्रों (अभिजन व उपाश्रयी) के बीच सम्पर्क सूत्रों के रूप एवं प्रकृति का अन्वेषण एवं विवेचन आवश्यक है[३]।

रंजीत दासगुप्ता ने लिखा है कि सबाल्टर्न अध्येताओं ने रजनी पामदत्त, एस० नटराजन, सुप्रकाश राय जैसे इतिहासकारों द्वारा निम्नवर्गों की राजनीति के विवेचन की समुचित समीक्षा नहीं की । कतिपय सबाल्टर्न अध्येताओं ने टकराव तथा प्रतिरोध के क्षणों पर अधिक जोर दिया है और सबाल्टर्न समूहों की ओर से सहयोग और सहमति तथा उदासीनता व विद्रोह के बीच के रुझानों व सम्बन्धों के बृहद् क्षेत्र को प्राय: अनदेखा किया है। रंजीत दासगुप्ता ने इन अध्येताओं के लेखन में वर्ग की तथा वर्गसंघर्ष की अवधारणा के विस्थापन की भी शंका व्यक्त की है। उनका कहना है कि भारत के औपनिवेशिक समाज तथा अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के महत्त्वपूर्ण पक्षों को समझने में यद्यपि

---

१. द इण्डियन हिस्टॉरिकल रिव्यू, XII १-२, १९८६, पृ० ३८४
२. इतिहास, अंक १, १९९२, पृ० २७४
३. रंजीत दासगुप्ता, सिग्निफिकेंस ऑफ नॉन सबाल्टर्न मेडिएशन, द इण्डियन हिस्टॉरिकल रिव्यू, वाल्यूम - XII, १९८६, पृ० ३८३

अभिजन–सबाल्टर्न सम्बन्ध अंत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; परन्तु इसे वर्ग सम्बन्धों का विकल्प नहीं माना जा सकता। सुमित सरकार और डेविड आर्नाल्ड भी इस समस्या के प्रति सजग हैं।

अपनी तमाम कमियों के बावजूद सबाल्टर्न स्टडीज के अन्तर्गत क्षेत्रीय व स्थानीय जन आन्दोलनों, विशेषत: किसान व आदिवासी आन्दोलनों, पर प्रचुर साहित्य का सृजन हुआ है, जिसके फलस्वरूप इन आन्दोलनों की प्रकृति तथा भारतीय राष्ट्रवाद की मुख्य धारा के साथ इनके सम्बन्धों पर उल्लेखनीय प्रकाश पड़ता है[१] ।

सबाल्टर्न अध्येताओं के लेखन से औपनिवेशिक काल की राजनीतिक प्रक्रियाओं के वास्तविक कार्यान्वयन तथा सबाल्टर्न समूहों की चेतना, अनुभवों तथा गतिविधियों को विस्तृत रूप तथा गहराई से समझना सुगम हो गया है। इन अध्येताओं ने, अज्ञात अतीत पर प्रकाश डालने के साथ ही, रूपान्तरण की उस सम्भाव्यता पर भी प्रकाश डाला है, जो मूर्त नहीं हो पाया । उन्होंने इस विफलता की व्याख्या करने का भी प्रयास किया है।

रोमिला थापर का कहना है कि सबाल्टर्न अध्येताओं ने भारतीय राष्ट्रवाद का एक नया परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया है और भारत के बाहर तीसरी दुनिया के इतिहास के किन्हीं पहलुवों पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ा है– अंशत: इस कारण कि अपने निकट अतीत के चरण में इसका उत्तर आधुनिकतावाद से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । अपनी अन्तर्राष्ट्रीय उपस्थिति के कारण इतिहास के तुलनात्मक अध्ययन को प्रोत्साहित किया है[२]।

'युद्धालु' इतिहास लेखन की विशिष्ट धारा[३] के साथ ही विशद, सुस्पष्ट या मुखर रूप से संशोधनवादी, उग्ररूपेण सैद्धान्तिक तथा बौद्धिक दृष्टि से विप्लवी

---

१. पूर्वोद्धृत, पृ० ३९०

२. आर०बी० चौधरी, रूट्स ऑफ ऐण्टी कॉलोनियल स्ट्रगल डिनाइड टु मासेज, व इण्डियन हिस्टॉरिकल रिव्यू, वाल्यूम XII नं० १–२, १९९४, पृ०३७८.

३. साउथ एशियन रिव्यू

कहलाने वाले औपनिवेशिक तथा उपनिवेश–पश्चात्कालीन भारत के इतिहास लेखन के इस नये स्कूल को, जो औपनिवेशिक/उत्तर-औपनिवेशिक काल में सामाजिक रूपान्तरण के विशिष्ट राजनीतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है, टी०पी० सत्यमूर्ति ने ऐसे शोध का मार्ग प्रशस्त करने वाला बताया है, जो राजनीति के औपनिवेशिक एवं उत्तर–औपनिवेशिक काल में सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक परिवर्तन के बोध में केन्द्रीय महत्त्व का तत्त्व है[१] ।



१. इण्डियन पीजेण्ट हिस्टोरियोग्राफी : ए क्रिटिकल पर्सपेक्टिव ऑन रणजीत गुहाज वर्क, जर्नल आफ पीजेण्ट स्टडीज, पृ० १३९, १९९० (९२–१४४)

मानव-समाज, संस्कृति, परम्परा एवं इतिहासबोध

डॉ० परमानन्द सिंह*

प्राणि-राज्य में संस्कृति को स्वरूप देने और उसका पोषण करने में मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा अद्वितीय है । मनुष्यों का प्रत्येक समाज अपनी विशिष्ट संस्कृति रखता है। इसलिए एक समाज के सदस्य, कई महत्त्वपूर्ण विषयों में किसी भी अन्य समाज के सदस्यों से, भिन्न आचरण करते हैं । संस्कृति की उपयुक्त कल्पना के लिये इससे भिज्ञ होना अनिवार्य है कि संस्कृति स्वाभाविक सहज क्रियाओं और उत्तराधिकार में पाये गये किसी भी जन्मजात गुण से सम्बन्धित नहीं है । अतएव संस्कृति पूर्णरूप से एक सामाजिक आविष्कार का परिणाम है । ऐसा सोचना उचित होगा कि वह सामाजिक उत्तराधिकार में प्राप्त होती है; क्योंकि वह प्रत्येक नयी पीढ़ी को उपदेशों द्वारा संप्रेषित की जाती है।

नैसर्गिक सृष्टि में संस्कृति एक ऐसा विशिष्ट तत्त्व है, जो विकासशीलता की उच्चतम कोटि का प्रतिनिधित्व करती है। **हरबर्ट स्पेन्सर** एवं **ए. एल. क्रोबर** के शब्दों में वह कार्बनिकता के परे है। वह मनुष्यों के मनोवैज्ञानिक अवयवों की यांत्रिकता पर निर्भर है और वहीं से उद्भूत होती है; परन्तु मनुष्यों की कायिक बनावट में उसका कोई स्थान नहीं है। किसी भी व्यक्ति द्वारा जो संस्कृति प्राप्त कर ली जाती है, वह उसके जन्म के पहले से अवस्थित रहती है और मृत्यु के बाद भी बनी रहती है। व्यक्ति और समूह के उत्पादन और वाहक तो हैं; परन्तु संस्कृति में अज्ञातनामा होने का एक गुण है; क्योंकि वह वैयक्तिकता से परे है ।

---

* आचार्य तथा अध्यक्ष- इतिहास विभाग, महात्मा गाँधी काशीविद्यापीठ, वाराणसी ।

नैसर्गिक तत्त्वों के स्तर और उसके क्रमवार विज्ञान[1]

तत्त्व का स्तर	तत्त्व का प्रकार	विज्ञानों का सोपानात्मक संगठन
४. कार्बनिकता के परे	संस्कृति	नृतत्त्व-शास्त्र, समाजशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान-शास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास ।
३. मानसिक कार्बनिक	संवेदनशील प्राणी जिनकी स्नायु-प्रणाली अधिक विकसित हो	मनोविज्ञान और नाड़ीशास्त्र
२. प्राणमूलक कार्बनिक	कीटाणु अनेक कोशी	कार्बनिक रसायनशास्त्र, प्राणि-विज्ञान
	(वनस्पति और प्राणी)	जीव-विज्ञान, शरीर-विज्ञान, प्रकृति-विज्ञान, जीव-भौतिकी
१. अकार्बनिक	पृथ्वी और ब्रह्माण्डीय तत्त्व	भौतिक रसायन-शास्त्र, भौतिक-विज्ञान, भू-विज्ञान, गणित-ज्योतिषशास्त्र

संस्कृति का समाज से सम्बन्ध बहुधा संदिग्ध छोड़ दिया जाता है। यद्यपि दोनों को पृथक् करना कठिन नहीं है। समाज का कोई भी ऐसा प्राणि-समूह हो सकता है, जो परस्पर कार्य करने में सहमत हो, और जिसके सदस्यों में यह चेतना हो कि हम आपस में एक हैं,अर्थात् 'एक जातीय चेतना'। मानव समाज भी प्राणियों का एक समूह है, उसके सब सामाजिक सम्बन्धों पर संस्कृति का प्राधान्य रहता है । हम किसी संस्कृतिविहीन मानव-समाज को नहीं जानते, अतएव मानव-समाज एक स्थायी संगठित आबादी है, जो अपनी संस्कृति के अनुकूल आचरण करती है।

मानव-समाज = आबादी + संस्कृति[2] ।

अपने पूर्णार्थ में संस्कृति ऐसे एकीकृत प्रतिरूपों की शृंखला है, जिसका आचरण सामूहिक आदतों से विकसित हुआ है । एक मानव-समूह ने सामूहिक आदतें चाहे जैसी अपनायी हों, जब एक बार बन गयीं तो, वे भविष्य के आचरण पर अपना प्रभाव डालती हैं। यह आदतों का पथ भविष्य के कार्यों को प्रतिरूपित करता है । यही लोकपथ व सत्यपथ है । इसका विचलन कठिन होता है। इसके प्रति सकारात्मक अनुशासन प्रशंसा और प्रतिष्ठा देते हैं तथा मानकों के अनुकूल चलन को प्रोत्साहित करते हैं। समाज का मानकीकरण ऐसा हो जाता है कि सदस्य अल्पांश में ही नियमों को भंग कर सके ।

संस्कृति उत्तराधिकार में नहीं, शिक्षा से प्राप्त होती है । संस्कृति वर्तमान में मानव की मानसिक उन्नति एवं उसकी प्रशंसनीय आचरण पद्धति से समझी जाती है। सामान्यतया संस्कृति और सभ्यता को कुछ लोग एक ही या पर्याय मानते हैं[३] । जबकि यह मानना उनकी भूल है । सभ्यता और संस्कृति का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में होना चाहिए । संस्कृति सामाजिक विरासत है, जिसमें परम्परा से प्राप्त कला-कौशल, वस्तु-सामग्री, आदतें, विचार एवं मूल्य समावेशित हैं[४] ।

संस्कृति सभ्यता की उपलब्धि है । जब सभ्यता ने मनुष्य को दैनिक जीवन की आवश्यकताओं से मुक्ति दे दी, तब संस्कृति का प्रारम्भ हुआ[५] । संस्कृति को समाजिक विरासत कहा जाय, तो अतिशयोक्ति न होगी; क्योंकि मनुष्य का समस्त सीखा हुआ व्यवहार इसके अन्तर्गत समाहित है[६] । प्रत्येक संस्कृति की अपनी सभ्यता होती है । सभ्यता संस्कृति की अनिवार्य परिणति है । संस्कृति विस्तार है, तो सभ्यता कठोर स्थिरता[७] । संस्कृति वही है जो हम हैं, सभ्यता वह है जो हम उपयोग करते हैं[८]। संस्कृति समुदायिक जीवन की वस्तुस्थिति मात्र है। सभ्यता उसके उत्कर्ष की अवस्था है । यदि भौतिक जीवन की रचना को सभ्यता कहा जाय, तो संस्कृति उसके आन्तरिक अर्थानुसन्धान का नाम होगा । सभ्यता मूलतः सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से साधनों का संयोजन है, जबकि संस्कृति स्वतन्त्रता का अनुसन्धान है ।

संस्कृति में दो महत्त्वपूर्ण आयाम देखे जा सकते हैं । सामाजिक परम्परा के रूप में स्थूल ऐतिहासिकता और दूसरी ओर अनन्त मूल्यानुसन्धान की अभिव्यक्ति करने के नाते उसमें परमार्थ की ओर एक क्रमबद्ध उपसमर्पण के

सनातन इतिहास का संकेत । मानव जाति का इतिहास उन्नति की एक आश्चर्यजनक कथा है । किसी वस्तु के विकास और निर्माण की प्रवृत्ति एक ओर इसकी अन्तर्निहित शक्तियों का प्रत्यक्षीकरण है और दूसरी ओर अन्य वस्तुओं के विकास और निर्माण के इतिहास की कड़ी है[९]। जो कुछ भी वर्तमान या दृष्टिगोचर है, वह अक्षुण्ण प्रगति का स्वरूप है,अर्थात् प्रत्येक पदार्थ समग्र सृष्टि के संविधान की परम्परा को प्रतिबिम्बित करता है । व्यक्ति केवल संस्कारों की रचना या स्कन्धों का समूह है, वह न कारक है, न वेदक[१०] ।

परम्परा, संस्कृति और जातीय भावना पर्यायवाची नहीं हैं; परन्तु राजनीतिकरण की प्रक्रिया ने उनके अन्तर को धुँधला कर दिया है; परम्परा संस्कृति का वह भाग है जिसमें भूतकाल से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य तक एक निरन्तरता बनी रहती है। यह जरूरी नहीं है कि परम्परा जीवन के हर क्षेत्र में समान रूप से प्रभावी हो । धार्मिक विश्वासों और रूढ़ियों की परम्पराओं में परिवर्तन धीमी गति से होते हैं, परन्तु सामाजिक संस्थाओं और व्यवहार की परम्पराओं के कुछ पक्षों में धर्म की तुलना में बदलाव की गति अधिक तेज हो सकती है। भाषा की परम्परा तेजी से बदलती है । वैसे तो संस्कृति का पूरा स्वरूप ही ऐतिहासिक सन्दर्भों से निर्मित होता है; किन्तु उसके ऐसे मूल्यों एवं व्यवहारों, प्रकारों को, जिनकी जड़े इतिहास में बड़ी गहरी है, परम्परा कहा जाता है । आज की बदलती हुई स्थिति में क्षेत्रीय भाषिक, सांस्कृतिक और धार्मिक तत्त्व उसमें इस तरह मिल गये हैं कि उसकी व्याख्या उलझनभरी और अनिश्चित हो गयी है[११]।

परम्परा की परिधि का निर्धारण उसे देखने और समझने की दृष्टि पर अवलम्बित होता है । यह दृष्टि परम्परा के तटस्थ अध्येताओं की हो सकती है। कुछ दार्शनिकों ने मानवीय परम्परा को समग्र और एकीकृत रूप में देखने के प्रयत्न किये हैं, अनेक ने प्रवृत्तियों के आधार पर मुख्य परम्पराओं के वृत्त निर्धारित किये हैं। परम्परा का आधार शास्त्र भी है और लोक भी । इन आधारों के अन्तरावलम्बन को समझने के प्रयत्न भी हुए हैं । परम्परा की परिधि स्थितियों और सन्दर्भों के अनुसार फैलती और सिकुड़ती रहती है । बदलते परिवेश और नई आवश्यकताओं के दबाव के कारण परम्पराएँ अपना अनुकूलन करती हैं । परम्पराओं की

अवमानना सम्भव नहीं है; परन्तु उनकी अति रहस्यमयता का परीक्षण भी आवश्यक है। ऐतिहासिक तथ्यों की पृष्ठभूमि में और आज एवं आने वाले कल की अनिवार्यता के सन्दर्भ में, परम्परा के प्रति अनुराग समसामयिक समाज की नयी खोज नहीं है।

इतिहास उन अनेक प्रवृत्तियों का साक्षी है, जो परम्परा से जुड़ी हैं, जिनका प्रचार–क्षेत्र विश्वव्यापी है । परम्पराएँ अतीत को वर्तमान एवं वर्तमान को भविष्य से जोड़ती हैं । इतिहास की जड़ें अतीत में होती हैं, वह वर्तमान में जीता है और भविष्य उसकी चिन्ता और प्रावधान का विषय होता है। दूसरे शब्दों में इसे इतिहासबोध भी कहते हैं ।

परम्परा के सम्बन्ध में सबसे बड़ी भ्रान्ति उसे जड़ और अपरिवर्तनशील मानना है । परम्परा न मिथक होती है, न इतिहास । दोनों के तत्त्व उसमें घुले-मिले होते हैं । अनुभवजन्य तथ्य भी उसके स्वरूप को प्रभावित करते हैं ।

भारतीय चिन्तन की परम्पराओं की विशिष्टता इस तथ्य में है कि उनके सर्जक अनाम हैं । अत: व्यक्ति विशेष की विशिष्ट मनोवृत्तियाँ और विलक्षणताएँ इनमें नहीं हैं। विशिष्ट जनों द्वारा आविष्कृत कोई नया धर्म अध्यात्मवाद अथवा सम्प्रदाय जनसाधारण को कोई संदेश देता है । साधारण जन धर्म, अध्यात्मवाद अथवा सम्प्रदाय की बिम्बात्मकता और घटनाओं, विख्यात ऋषियों और सन्तों से प्रेरित और अनुशासित होते हैं । कल्पनाएँ दैनिक अनुष्ठानों और धर्म संस्कारों, त्यौहारों एवं तीर्थयात्राओं में व्याप्त हो जाती हैं तथा भारत में सत्य, शिव और न्याय की नवीन अदृश्य व्यवस्था कायम करती हैं, जो दृष्टिगत ऋतुचक्र से सम्बद्ध हैं । ये कालसीमा के परे और अन्तर्गत–दोनों होती हैं। अक्सर इनमें पीढ़ी दर पीढ़ी अनुभव और परम्पराओं का सार निहित रहता है तथा इतिहास से अधिक सत्यता होती है। ऐतिहासिक महत्त्व की भारतीय पुराण-कथाएँ या परम्पराएँ; यज्ञ और धर्म, वर्ण और आश्रम की वैदिक परम्पराएँ, सांसारिक क्लेश और अष्टांगिक मार्ग की बौद्ध कल्पनाएँ, सार्वभौम करुणा और सार्वभौम निर्वाण की महायान कल्पनाएँ, वर्णसंकर, कलियुग और आपद्धर्म की पौरणिक कल्पनाएँ,भक्ति तथा जातिविहीन, पौरोहित्यविहीन समाज की मध्ययुगीन कल्पनाएँ तथा उत्तर मध्यकालीन तान्त्रिक

कल्पनाएँ, जिनमें मायावी संसार के विविध रूपों और इन्द्रियों, लालसाओं व संवेगों के संस्कार को भारतीय अद्वैत के परमात्मन् के गत्यात्मक पक्ष 'शक्ति' का कार्यक्षेत्र एवं रूप माना गया है। इस प्रकार के विचारों ने कई-कई शताब्दियों में फैले युगों और आन्दोलनों को संचालित किया है, एवं इनकी प्रभविष्णुता क्रमशः बढ़ती गयी तथा पीढ़ी दर पीढ़ी उत्तराधिकार में प्राप्त सामाजिक प्रथाओं, परम्पराओं एवं जीवन-पद्धति की गहरी नींव डाली है[१२] ।

अतीत के प्रति मनुष्य का नैसर्गिक लगाव होता है । इतिहास इस लगाव की पहचान स्पष्ट करता है । वैसे ही अतीत से लगाव सब में होता है — सहज नैसर्गिक इतिहास उस लगाव को इतिहासबोध में बदल सकता है और उसे प्रासंगिक एवं उपयोगी बना सकता है । इतिहास का सही अध्ययन करने से देश-काल की विशिष्टता तो रेखांकित होती ही है, पर मानव समाज की एकता उससे भी अधिक उजागर होती है । इतिहास का अनुशासन स्वयं अपना मार्ग खोजता है और इस प्रक्रिया में अन्य सामाजिक विज्ञानों से उसकी दूरी कम होती है। यह प्रवृत्ति नयी नहीं है। इसीलिए इतिहास मनुष्य के विकास का उद्घाटक ही नहीं, प्रमाण भी है। मानव समाज को समझने का ही नहीं, उसे बदलने का भी अनिवार्य उपकरण है[१३]।

इतिहासबोध व्यक्ति को स्वतन्त्र, भविष्योन्मुखी, उदार, आशावान्, समष्टिवादी एवं प्रगतिशील बनाता है । इतिहासबोध अतीत एवं वर्तमान के साथ भविष्य से भी जुड़ा होता है। इतिहासबोध के समान्तर अतीतग्रस्तता भी अपना पथ निर्मित करती रहती है। अतीतग्रस्तता व्यक्ति को संकीर्ण, हताश एवं प्रतिक्रियावादी बनाती है। यहाँ अतीतग्रस्तता[१४] और इतिहासबोध का अन्तर स्पष्ट हो जाना चाहिए; क्योंकि दोनों की जन्मभूमि अतीत ही है। इतिहास की प्राचीन व्याख्याएँ और इतिहास-भूमि का पुराना परिसीमन अपना अर्थ एवं मूल्य खोते जा रहे हैं । इतिहासबोध और उससे जुड़े अनेक प्रश्नों पर पुनर्विचार आज की आवश्यकता बन गयी है । मिथक चेतना से इतिहास चेतना की लम्बी यात्रा अभी पूरी नहीं हुई है। ऐतिहासिक चिन्तन और इतिहास लेखन की प्रक्रिया में अनेक नये मिथकों ने जन्म लिया है। नयी इतिहास दृष्टि अब विशिष्ट से सामान्य की ओर जा रही है।

इतिहासबोध के बिना कोई भी ज्ञान परिप्रेक्ष्यहीन होता है । इतिहास न केवल अतीत का ज्ञान देता है, वर्तमान की समझ और भविष्य की दिशा का भी आधार प्रस्तुत करता है । इसीलिए इतिहास की प्रयोगशाला में ही नवीन पथ का सृजन सम्भव है। इतिहास एक विषय ही नहीं, अपितु अस्तित्व बोध है[१५] । इतिहास का वास्तविक स्वरूप एक विश्वव्यापी गति की सर्वमान्य उपलब्धियों एवं मूल्यों के समुच्चय पर आधृत मानवता के व्यापक प्रवाह का उद्‌घाटन है ।

किसी राष्ट्र की प्रगति का आधार उसकी राजनीतिक अथवा आर्थिक शक्ति नहीं, अपितु एक समाज निर्माण कर सकने वाली संस्कृति के कुछ मापदण्डों की ग्राह्यता और प्रसार-क्षमता है । भारत के लिए ज्ञान असम्बद्ध परिकल्पना नहीं, वरन् 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' अथवा 'आत्मदीपो भव' या 'योगः कर्मसु कौशलम्' है । यही भारतीय व्यक्ति एवं भारतीय समाज का लक्ष्य है[१६] ।

इतिहासकार मानव और उसके पर्यावरण के क्रमिक विकास का अध्ययन करता है । मानव का पर्यावरण भौतिक एवं सांस्कृतिक है । भौतिक पर्यावरण का निर्माण भौगोलिक, सामाजिक एवं आर्थिक संगठनों के तत्त्वों से होता है। सांस्कृतिक पर्यावरण उन मानस संस्कारों से बनता है, जो परम्परागत रूप में निरन्तर प्रवहमान् रहते हैं । इतिहास लेखन में आधुनिक इतिहासकार प्राचीन भारतीय समाज के सन्दर्भ में भौतिक पर्यावरण के प्रति ही दत्तावधान रहा और मानव के विकास को भौतिक पर्यावरण में ही देखने का अभ्यासी हो गया है। सांस्कृतिक पर्यावरण के सन्दर्भ में मानवीय व्यक्तित्व का आकलन नगण्य हो गया है । फलस्वरूप वर्तमान इतिहास लेखन में भारत का स्थूल शरीर तो दृश्यमान् है; किन्तु भारतीय मन अदृश्य सा हो गया है । जब हम दूसरी संस्कृतियों से उधार लिये हुए शब्दों के कारण वर्तमान इतिहास लेखन के लिए विवश होते हैं, तो हम अपने लक्ष्य से विचलित हो जाते हैं; क्योंकि शब्द के अर्थ का संस्कृति के साथ अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है । फलस्वरूप भारतीय इतिहास का वपु दूसरी संस्कृतियों की भूषा से आवृत हो जाता है[१७] ।

भारतीय संस्कृति में आत्मज्ञान की निष्ठा उसका मूल सूत्र था, जो कि एक प्राचीन सांकेतिक परम्परा के रूप में मानव समाज में रही है; उसकी साधना का इतिहास ही भारतीय संस्कृति का अन्तरंग इतिहास है । दीक्षामूलक विद्यापरम्परा

और जन्ममूलक कुल, गोत्र, जाति, देश आदि के समुदाचार की परम्परा दोनों ही द्वन्द्वात्मक रूप से संयुक्त होकर ऐतिहासिक परम्परा का निर्माण करते हैं । वस्तुतः सनातन सत्य की ऐतिहासिक परम्परा के दो पक्ष हैं – एक तो मार्ग-प्रवर्तकों के उपदेश एवं शास्त्र की सैद्धान्तिक परम्परा, दूसरे योग की साधना की परम्परा । यह कहा जा सकता है कि कृष्ण, बुद्ध आदि मार्ग-प्रवर्तकों में ये दोनों परम्पराएँ मिलकर एक हो जाती हैं, परवर्ती व्याख्याकारों और साधकों में अलग–अलग । वैदिक और श्रमण दृष्टियों के संयोजन से भारतीय अध्यात्मिक परम्परा का निर्माण हुआ ।

भारतीय संस्कृति की मूल सामाजिक परम्परा आश्रमों, वर्णों एवं जातियों का ऐतिहासिक विस्तार नहीं है । वह मूल परम्परा, निर्मल बुद्धि के द्वारा कर्म करते हुए, आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करने की थी। कर्मयोग की परम्परा ही भारतीय परम्परा की वास्तविक थाती है। उसी में नियम और स्वतन्त्रता, बन्धन और मुक्ति,कर्म और नैष्कर्म्य, प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वन्द्वों का समाधान होता है। उसी में मनुष्य को अपने कर्तव्य के लिए जो कि उसे अपने आगन्तुक और अपर्यनियोज्य ऐतिहासिक सामाजिक स्थिति की परतन्त्रता से मुक्त कर सकता है। अतीत से जो उत्तराधिकार में हमें मिला है, वह एक सोचने की विधि है, न कि एक नियम-संहिता । यह सोचने की पद्धति या श्रद्धा बाहर से बताया हुआ कोई सूत्र नहीं है, वह एक शाश्वत संकेत है कि हमारे अन्दर ही विवेक-शक्ति है । वहीं परम्परा वर्णित अर्थों का मर्म सजीव रूप में हमारे लिए प्रकट कर सकती है[१८] : **'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्'** ।

भारतीय चिन्तन में चेतना का मूल सत्य सर्वव्यापी आत्मा है । यह तथ्य इस बात का द्योतक है कि प्रत्येक मानव प्राणी पृथकता के आवरण को फाड़ सकता है और अपने सच्चे स्वरूप को पहचान कर सभी सत्ताओं के साथ एकरूपता स्थापित कर सकता है। भारतीय संस्कृति एवं परम्परा अनन्त जीवन के इस स्वरूप को विकसित करती है और अन्त में **सुकरात** के शब्दों में 'हमें मिल-जुलकर उस ज्ञान भण्डार को उलटना-पलटना चाहिए, जो संसार के मनीषी हमारे लिए छोड़ गये हैं और यदि ऐसा करते हुए हम एक–दूसरे के मित्र बन जाते हैं, तो यह और भी प्रसन्नता की बात होगी' ।

सन्दर्भः

१. इनसे अभिस्वीकृत तथा संशोधित–हरबर्ट स्पेन्सर कृत 'दि प्रिंसिपल्स आफ सोशियोलाजी' (१८७८). खण्ड १, पृ०२१६ एल. एल. क्रोवर कृत 'दि सुपर आर्गेनिक, अमेरिकन संग्रह', १९७७, खण्ड १९, पृ०१६३–२१३

२. मानव संस्कृति तथा समाज, संपादक हेरी. एल. शेपीरो, १९५६, पृ० १७२

३. प्रीमिटिह्व कल्चर, दे. इ. टाइलर, पार्ट–१, पृ०१, मैन एण्ड हिज वर्क्स, एम० जे० हार्स कोविट्स, पृ० १७

४. इन्साइक्लोपीडिया आफ सोशल साइंसेज, मैलीनाउस्की भाग–४, पृ०६२१

५. आवर हेरीटेज–हुमायूँ कबीर, पृ०६

६. हर्स कोविट्स, मैन एण्ड हिज वर्क्स, पृ० ६२५

७. सोशल फिलासफीज आफ क्राइसिस, पृ०७७–७८

८. मैकाइवर उद्धृत, वाटमेर सोशियोलाजी (१७७९), पृ०१२९,पादटिप्पणी-१

९. सुरेन्द्रनाथ– कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया, भाग–१, पृ०३८६, 'योग थियरी आफ दी रिलेशन आफ माइंड एण्ड बाडी'

१०. अश्वघोष सौन्दरनन्द काव्य, पृ० १७, २०, २१

११. श्यामाचरण दूबे, परम्परा इतिहास बोध एवं संस्कृति, पृ०१६

१२. राधाकमल मुकर्जी–भारत की संस्कृति और कला, पृ०३३

१३. प्रो० परमानन्द सिंह, इतिहास दर्शन, पृ०३

१४. प्रो० लालबहादुर वर्मा, इतिहास के बारे में (१९८४) पृ०१८

१५. प्रो० परमानन्द सिंह, इतिहास दर्शन पृ०–३

१६. प्रो० परमानन्द सिंह, इतिहास चिन्तन के नये आयाम–सन् १९९८,पृ०४

१७. प्रो० विश्वम्भर शरण पाठक, भारतीय इतिहास संकलन समिति, उत्तर प्रदेश के सम्मेलन १९८४ में, अध्यक्षीय भाषण

१८. प्रो० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, भारतीय परम्परा के मूल स्वर, पृ०९०



भगवान् महावीरकालीन समाज और संस्कृति

डॉ० महेन्द्र नाथ सिंह*

आजकल प्रबुद्ध जिज्ञासु यह जानने को उत्सुक हैं कि भगवान् महाबीर के युग में सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति कैसी थी? उस समय के समाज और संस्कृति का क्या स्वरूप था? भगवान् महावीर ने अपने प्रवचनों में तप,त्याग और वैराग्य पर अधिक बल दिया है । जीवन की भौतिक सुख-सुविधाओं के प्रति उनकी अभिरुचि नहीं थी । इस कारण समाज और सामाजिक रीति-रिवाजों का विशेष उल्लेख उपदेशों में कम ही होता था । ऐसी स्थिति में आगम व उसके व्याख्या साहित्य में कुछ इधर-उधर बिखरी हुई संक्षिप्त सूचनाओं के आधार पर ही हम भगवान् महावीर के युग के समाज और संस्कृति पर विचार कर सकेंगे ।

वर्णाश्रम व्यवस्था

वर्णव्यवस्था प्राचीन भारतीय समाज का मेरुदण्ड थी । उस समय मुख्यरूप से दो प्रकार की जातियाँ थीं- एक आर्यों, दूसरी अनार्य[१] । आर्यों के पाँच भेद थे— क्षेत्र आर्य, जाति आर्य, कुल आर्य, कर्म आर्य और भाषा आर्य। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण थे[२] । उस समय आश्रम व्यवस्था भी थी । गृहस्थाश्रम को उत्तराध्ययन में घोराश्रम[३] भी कहा गया है । बाकी तीन आश्रमों का उल्लेख सीधे रूप में दृष्टिगोचर नहीं होता । प्रत्येक वर्ण और आश्रम वालों के कार्य भिन्न थे ।

चारों वर्णों में ब्राह्मणों की प्रमुखता थी । अधिकांश ब्राह्मण जैन धर्म के विरोधी थे[४], अत: जैन धर्म में ब्राह्मणों की अपेक्षा क्षत्रियों को श्रेष्ठता प्रदान हुई।

---

* अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, उदय प्रताप महाविद्यालय, वाराणसी ।

तीर्थंकर क्षत्रिय कुल में ही उत्पन्न होते हैं । इसी कारण महावीर को देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ से क्षत्रियाणी के गर्भ में परिवर्तित किया गया[५] । लेकिन उत्तराध्ययनसूत्र[६] में कहीं भी ब्राह्मणों को क्षत्रियों से निम्न कोटि का नहीं बताया गया है । आगम साहित्य में अनेक स्थानों पर श्रमण और ब्राह्मण शब्द का प्रयोग एक साथ किया गया है, जिससे यह भी ध्वनित होता है कि दोनों का आदरणीय स्थान था[७] । महावीर को भी माहण या महामाहण कहा गया है[८] । ब्राह्मण चौदह विद्याओं में निष्णात होते थे[९] ।

क्षत्रिय ७२ कलाओं का अध्ययन करते थे । वे युद्धकला में निष्णात होते थे । वे अपने भुजबल से देश पर शासन करते थे । राजा का सर्वशक्तिसम्पन्न व्यक्तित्व होता था । छत्र, चामर, सिंहासन आदि राजचिह्न थे[१०] । राजा का उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र होता था । यदि वह विरक्त हो जाता था, तो लघु पुत्र को भी राज्य सिंहासन दे दिया जाता था । राजकुमार यदि दुर्व्यसनों में फँस जाता था, तो उसे देशनिकाला कर देते थे[११] ।

गृहपतियों को श्रेष्ठी और कौटुम्बिक नाम से भी पुकारा गया है । कितने ही गृहपति भगवान् महावीर के परमभक्त थे[१२] । उनके पास अपार धन और हजारों गायें रहती थीं । वे खेती और व्यापार करते थे । व्यापार करने के कारण इन्हें वणिक् भी कहा जाता था[१३] ।

प्राचीन भारतीय समाज में शूद्रों की दशा बड़ी दयनीय थी । इनके साथ दासों का व्यवहार किया जाता था । इनका सर्वत्र निरादर होता था[१४] ।

विभिन्न जातियाँ एवं गोत्रादि

वर्ण व जातियों के अतिरिक्त अनेक उपजातियाँ थीं । जैसे— सारथि[१५], लोहकार[१६], बढ़ई[१७], गोपाल[१८], भण्डारपाल[१९], भारवाहक[२०],चिकित्साचार्य[२१], नाविक[२२],सवार[२३], कर्षक[२४] और विविध प्रकार के शिल्पी आदि[२५] । इनके अतिरिक्त कुछ वर्णसंकर जातियों का भी उल्लेख मिलता है, जैसे बुक्कुस और श्वपाक[२६] । इन जातियों के अतिरिक्त गोत्रों में काश्यप, गौतम, गर्ग और वशिष्ठ गोत्र था[२७] । कुलों में अगन्धन, भोग, गन्धन और प्रान्त कुलों[२८] का और वंशों में इक्ष्वाकुवंश व यादववंश[२९] आदि का उल्लेख विशेष रूप से हुआ है ।

माता-पिता व पुत्र

परिवार में उस समय माता-पिता का स्थान सर्वोपरि था। दीक्षा लेते समय माता-पिता की आज्ञा आवश्यक होती थी[३०]। पुत्र पर माता-पिता का अत्यन्त स्नेह होता था। भाइयों में परस्पर स्नेहपूर्ण व्यवहार भी होता था और स्वार्थों को लेकर परस्पर संघर्ष भी होता था[३१]।

विवाह-प्रथा

साधारणतया वर एवं कन्या दोनों पक्षों के माता-पिता या उनके अनुज सम्बन्धीजन पहले विवाह सम्बन्ध तय किया करते थे[३२]। विवाह के समय तिथि और मुहूर्त भी देखे जाते थे[३३]। जया, विजया, ऋद्धि, वृद्धि आदि औषधियों से संस्कारित पानी से वर को स्नान कराया जाता था और उनके ललाट में मूशल का स्पर्श करना मांगलिक माना जाता था[३४]। विवाह के कई प्रकार प्रचलित थे, उनमें स्वयंवर और गान्धर्व-पद्धति भी अनुमोदित थी[३५]।

बहुपत्नी-प्रथा

उस समय बहुपत्नी-प्रथा भी समृद्धि का अंग समझी जाती थी। राजा व राजकुमार अपने अन्तःपुर में रानियों की अधिक संख्या रखने में गौरव का अनुभव करते थे[३६]। विभिन्न प्रान्तों का मिश्रित अन्तःपुर, अनेक राजाओं के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध हो जाने से उनकी राजनीतिक सत्ता को शक्तिशाली बनाने में सहायक होता था। पैसे वाले बहुपत्नीप्रथा को धनसम्पत्ति, यश और सामाजिक गौरव का कारण मानते थे। राजा श्रेणिक[३७] गृहपति महाशतक[३८] आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

तलाक-प्रथा और वैवाहिक-शुल्क

छोटी-मोटी बातों के कारण पत्नियों को छोड़ देने की प्रथा भी थी। एक वणिक् ने अपनी पत्नी को इसीलिए छोड़ दिया था कि वह सारा दिन शरीर की साज-सज्जा किया करती थी और घर को बिल्कुल नहीं सम्भालती थी[३९]। धन देकर भी विवाह किया जाता था[४०]।

दहेज

राजकन्याओं व श्रेष्ठी की कन्याओं के विवाह में घोड़े, हाथी, धन आदि दहेज में दिये जाते थे[४१] । राजगृह के गृहपति महाशतक की रेवती आदि उपपत्नियाँ थीं । उनमें रेवती अपने पिता के घर से आठ कोटि, हिरण्य और आठ ब्रज गायों को लेकर आयी। शेष स्त्रियाँ एक-एक कोटि हिरण्य और एक-एक ब्रज गाय लेकर आयी थीं[४२] ।

सौतिया-डाह

राजाओं व श्रेष्ठियों की अनेक पत्नियाँ होती थीं । उनमें परस्पर एक-दूसरे से ईष्या होना स्वाभाविक था । वे एक-दूसरे के प्रति शिकायत करती थीं और समय-समय पर षड्यंत्र भी रचती थीं । यहाँ तक कि कभी-कभी अपनी सौतों को जान से भी मार देती थीं । रेवती ने अपनी १२ सौतों को मार दिया था[४३] ।

यवनिका का प्रयोग

उस युग में बड़े घरों में बहू-बेटियाँ पुरुषों के समक्ष खुले रूप में नहीं आती थीं । जब कभी उन्हें सभाओं में आना-जाना होता, तो वहाँ एक पर्दा लगाया जाता था। एक ओर पुरुष और दूसरी ओर स्त्रियाँ बैठती थीं । भगवान् महावीर की माता त्रिशला जब स्वप्न फल सुनने के लिए आईं, तो उन्हें एक यवनिका के पीछे बिठाया गया था[४४]।

वेश्या

वेश्याएँ नगर की शोभा, राजाओं की आदरणीय और राजधानी की रत्न मानी जाती थीं[४५] । कितनी ही वेश्याएँ चौंसठ कलाओं में निष्णात होती थीं[४६] ।

प्रसाधन

प्रसाधन में अनेक पदार्थों का उपयोग होता था । होठ तथा नखों को रँगना, पैरों पर अलरस लगाना, दाँतों को रँगना आदि किया जाता था । स्नान दो प्रकार से होता था—देश-स्नान और सर्व-स्नान । देश-स्नान में मस्तक को छोड़कर शेष अंग धोये जाते थे और सर्व-स्नान में मस्तक से एड़ी तक सर्वांग स्नान किया

जाता था। उष्ण और ठंडा दोनों प्रकार के जल स्नान के काम में आते थे। स्नान के पूर्व गन्ध-चूर्ण लगाया जाता था, तैल मर्दन किया जाता था और उसकी चिकनाई को मिटाने के लिए पिसी हुई दाल या आँवले का सुगन्धित उबटन लगाया जाता था। इसे कल्क, चूर्ण, कषाय या गंधाटक कहा जाता था। लोध्र एक प्रकार का द्रव्य था, जिसका प्रयोग ईषत् पाण्डुर (गुलाबी) छवि बनाने के लिए किया जाता था। पद्म-केसर का उपयोग भी करते थे[४७]। सुरमेदानी[४८] लोध्र पुष्प, गुडिका[४९] नगर, खस के साथ कूट कर बनाया हुआ अगरु, मुँह पर लगाने का तैल और होंठ रचाने का चूर्ण मुख्य थे। कंघा[५०], शीशा, सुपारी और ताम्बूल आदि का भी उपयोग करते थे[५१]।

भोजन

उस युग में देश में खेती-बारी की बहुतायत थी, इसलिए भोजन की कमी नहीं थी। पर यह सत्य है कि सभी लोगों को भोजन नहीं मिलता था। अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इन चार प्रकार के भोजन का उल्लेख है। भोज्य पदार्थों में दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, मधु, गुड़, पक्वान्न,[५२] शष्कुली, राब, भुने हुए गेहुओं से बना पदार्थ श्रीखण्ड के नाम प्राप्त होते हैं। चावलों से निष्पन्न ओदन और उसके साथ अनेक प्रकार के व्यंजन प्रतिदिन भोजन के काम में आते थे[५३]। पूड़े और खाजे उस समय के विशेष मिष्ठान्न थे, जो विशेष अवसरों पर बनाये जाते थे[५४]। मोदक लोगों का प्रिय खाद्य पदार्थ था[५५]। नये चावलों को दूध में डालकर खीर पकाई जाती थी[५६]। खीर में घी और मधु डालकर उसे स्वादिष्ट बनाया जाता था[५७]। लोग सत्तू में घी डालकर खाते थे[५८]। अनेक प्रकार के व्यंजनों का उल्लेख भी प्राप्त होता है[५९]। गुड और घी से पूर्ण रोदग (मोटी रोटी)[६०], घेवर, आम या नींबू से बनाया हुआ मीठा शर्बत[६१], पापड़[६२] आदि का भी उल्लेख मिलता है। राजाओं और धनिकों के यहाँ रसोइये विविध प्रकार के भोजन और व्यंजन बनाते थे[६३]। लोग ऋतु के अनुसार भोजन में परिवर्तन कर लेते थे। शरद् ऋतु में वात-पित्त को नाश करने वाले, हेमन्त में उष्ण, वसन्त में श्लेष्म कोहरों वाले, ग्रीष्म में शीतल और वर्षा में उष्ण पदार्थों का प्रयोग करते थे[६४]। गृहस्थ के घरों में अनेक प्रकार के पानकों से घड़े भरे रहते थे। कांजी, तुषोदक, यवोदक, सौवीर आदि पानक सर्वसुलभ थे[६५]। आचारांग में भी अनेक प्रकार के पानकों का उल्लेख है[६६]।

उस समय पेय पदार्थों के लिए तीन शब्द व्यवहृत होते थे— १. पान, २. पानीय और ३. पानक[६७]।

आमोद-प्रमोद व मनोरंजन

उस समय मानव अनेक प्रकार से आमोद-प्रमोद और मन-बहलाव किया करते थे। यत्र-तत्र ऐन्द्रजालिक घूमा करते थे, जो लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर अपनी आजीविका चलाते थे[६८]। नव-विद्या का भी प्रचुर प्रचार था, नाट्य-मंडलियाँ स्थान-स्थान पर घूमा करती थीं[६९]। ये मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। शतरंज भी खेला जाता था[७०]। नगर के पास रमणीय उद्यान होते थे, जहाँ हरे-भरे वृक्ष लहलहाते रहते थे। सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित होकर व विविध प्रकार के आभूषणों से अलंकृत होकर स्त्री और पुरुष वहाँ पर क्रीडा करने के लिए जाते थे[७१]। सह-भोजन भी वहाँ पर करते थे[७२]। बालक भी वहाँ पर खेला करते थे[७३]। गो-महिष, कुक्कुट और लावक को परस्पर में लड़ाया जाता था, जिसे देखने के लिए हजारों व्यक्ति एकत्रित होते थे[७४]। सूर्यास्त के पश्चात् स्त्री-पुरुष किसी उद्यान में जाकर रात बिताते थे[७५]।

संगीत और नृत्य

उस युग में संगीत-विद्या का भी प्रचार अत्यधिक था। राजा, महाराजा और अभिजात वर्ग के लोग ही नहीं, साधारण लोग भी गाने-बजाने और नृत्य करने के शौकीन थे[७६]। उत्सवों व त्यौहारों के अवसर पर प्रायः स्त्री और पुरुष नाच-गाकर अपना मनोविनोद करते थे। कौमुदी-महोत्सव, इन्द्र-महोत्सव बड़े ठाट-बाट से मनाते थे[७७]। लोग नृत्य और गायन में इतने तल्लीन हो जाते थे कि अपने को ही भूल जाते थे[७८]। भगवान् महावीर के समय में राजा उदयन बहुत बड़ा संगीतज्ञ था। उसे उज्जयिनी के राजा प्रद्योत ने अपनी राजकुमारी को संगीत की शिक्षा देने के लिए नियुक्त किया था[७९]। सिन्धु-सौवीर के राजा उद्रायण भी एक अच्छे संगीतज्ञ थे। वे वीणा बजाते थे और उनकी रानी नृत्य करती थी[८०]। सरसों की राशि पर नृत्य करने का भी वर्णन मिलता है[८१]। वाद्य, नाट्य, गेय और अभिनय के भेद से संगीत भी चार तरह का है। उनमें वीणा, तल, ताल, लय और वादित्र को मुख्य स्थान दिया गया है[८२]।

आभूषण, वस्त्र एवं उपकरण

आभूषणों का प्रचार अधिक था । मुख्य रूप से सोने-चाँदी के आभूषण बनाये जाते थे । सोने के आभूषणों में हीरा, इन्द्र, नील, मरकत और मणि जड़े जाते थे[८३]। मस्तक पर चूड़ामणि बाँधा जाता था[८४] । कितने ही मनुष्य कृत्रिम स्वर्ण भी तैयार करते थे, वह विशुद्ध स्वर्ण जैसा होता था; परन्तु कष, छेद आदि सहन नहीं कर सकता था[८५]।

अनेक प्रकार के वस्त्रों का उपयोग उस समय होता था । उसकी विस्तृत सूची भी मिलती है[८६] । जांकीय, जंघिक, ऊन के बने कम्बल आदि भंगिय[८७] (यह वृक्ष के तंतुओं से बनाया जाता था), साणिय (सन के बने हुए), पोत्तग[८८] (ताड़ आदि से बने हुए), खोमिय[८९] (कपास से बने हुए) और तूलकड़[९०] आदि वस्त्रों का उल्लेख है । जैन श्रमण आवश्यकता पड़ने पर इन वस्त्रों की याचना कर सकता था । इनके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख हुआ है[९१] । जैन ग्रन्थों[९२] में भगवान् महावीर की माता की शय्या का वर्णन है । उसमें गद्दे थे और दोनों ओर तकिये थे । वह दोनों ओर से ऊपर उठी हुई और मध्यभाग में पोली थी । अत्यन्त कोमल थी, क्षौम व दुकूल वस्त्र से आच्छादित थी । बेल–बूटे निकाले हुए रजस्त्राण उस पर बिछी थी और लोम, चर्म, कपास, तन्तु और नवनीत के समान कोमल रक्तांशुक से ढँकी हुई थी ।

लोग काठ या चमड़े के जूते पहनते थे । धूप और वर्षा से बचने के लिए छत्र का उपयोग करते थे[९३] । रथ सवारी के काम में आता था, जो प्राय: तिनिस वृक्ष के बनाये जाते थे[९४] । भार ढोने वाला वाहन शकट कहलाता था ।

शिक्षा

उस युग में अध्यापकों का बहुत ही सम्मान था । विद्यार्थी अपने गुरुजनों के प्रति अत्यन्त श्रद्धा का भाव रखते थे । जो भी वे पढ़ाते थे, उसे वे बहुत ही ध्यान से सुनते, प्रश्न करते, उस पर चिन्तन करते, फिर उसको स्मरण रखकर उसका आचरण करते थे[९५] । यदि आचार्य शिष्य पर कुपित हो जाता था तो शिष्य प्रिय वचनों से उनको प्रसन्न करता था, विनयपूर्वक अपने अपराधों के लिए क्षमा

माँगता था और भविष्य में भूल न करने का आश्वासन देता था । आसन पर बैठकर आचार्य से प्रश्न नहीं करता था, पर प्रश्न पूछना होता था तो अपने आसन से उठकर, हाथ जोड़कर, विनयपूर्वक प्रश्न पूछता था[९६]। जो अविनीत शिष्य होता था, उसको अध्यापक दण्ड भी देते थे । उसको स्नेह नहीं करते थे[९७] । विद्यार्थी का जीवन सादा था। कितने ही विद्यार्थी अध्यापक के घर पर रहकर पढ़ते थे और कितने ही धनवानों के यहाँ अपने खाने-पीने का प्रबन्ध कर लेते थे । कौशाम्बी नगरी के ब्राह्मण काश्यप का पुत्र कपिल श्रावस्ती में पढ़ने के लिया गया और कलाचार्य के सहयोग से अपने भोजन का प्रबन्ध वहाँ के धनी शक्तिभद्र के यहाँ पर किया[९८] । भगवान् महावीर आठ वर्ष के हुए तो राजा सिद्धार्थ ने उनको लेखशाला भेजने का महोत्सव मनाया । नैमित्तिकों को बुलाकर मुहूर्त निकलवाया और स्वजनों को भोजन कराकर उनका सम्मान किया । अध्यापक को बहुमूल्य वस्त्राभूषण व श्रीफल आदि भेंट दिये । लेखशाला के विद्यार्थियों को मसिपात्र, लेखनी और पट्टी आदि दी । द्राक्षाखण्ड, शर्करा, चिरौंजी और खजूर आदि वितरण किया, फिर गाजे-बाजे के साथ महावीर ने शाला में प्रवेश किया[९९] ।

उस समय राजा-महाराजा तथा सामन्त लोग साधारण रूप से विद्या-केन्द्रों के आश्रयदाता होते थे । वाराणसी शिक्षा का मुख्य स्थल था । श्रावस्त्री में भी शिक्षा का केन्द्र था । पाटलिपुत्र भी अध्ययन के लिए विद्यार्थी जाते थे । दक्षिण में 'प्रतिष्ठान' विद्या का बड़ा केन्द्र था[१००] । साधु-साध्वियों के उपाश्रय भी चलते फिरते शिक्षा केन्द्र थे, जहाँ पर विविध विषयों का अध्ययन होता था । वे दार्शनिक विषयों पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म चर्चा किया करते थे और परतीर्थिकों पर विजय वैजयन्ती फहराया करते थे[१०१] ।

उस युग में लोग लिखने की कला से परिचित थे[१०२] । लेखन सामग्री इस रूप में मिलती थी[१०३] । पत्र- पुस्तक का पुट्ठा, डोरी-गाँठ, मसीपात्र-ढक्कन, जंजीर, स्याही, लेखनी, अक्षर और पुस्तक[१०४] । लेखशाला में लेखाचार्य विद्याओं का अध्ययन कराते थे[१०५] । समवायांग की टीका में पत्र, वल्कल, काष्ठदन्त, लोहा, ताँबा[१०६] और रजत आदि पर अक्षरों के लेखन, उत्कीर्णन, सीने और बुनने का उल्लेख है । ये अक्षर पत्र आदि को छिन्न-भिन्न करके और संक्रमण करके बनाये

जाते थे[१०७]। भोजपत्र पर लिखने का चलन था[१०८] । शत्रु के पास दूत द्वारा पत्र भेजने का रिवाज था। राजमुद्रा से मुद्रित पत्र[१०९] और कूटलेख का भी वर्णन मिलता है । गुप्तलिपि में भी प्रेमपत्र लिखे जाते थे[११०] । ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों का वर्णन भी जैन साहित्य में मिलता है[१११] ।

उस समय जन-साधारण की भाषा अर्धमागधी थी । भगवान् महावीर ने अर्धमागधी में उपदेश दिया था[११२] । यह भाषा सभी को समझ में आ जाती थी[११३]। बाणभट्ट ने अलंकारतिलक में लिखा है कि हम उसी वाणी को नमस्कार करते हैं, जो अर्धमागधी है, सभी भाषाओं को अपना परिणाम दिखाती है और जिसके द्वारा सभी कुछ जाना और समझा जा सकता है[११४] । जर्मन के महान् विद्वान् रिचार्ड पिशल ने अर्धमागधी के अनेक प्राचीन रूपों के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है[११५], जिसे दासगणी ने मगध के आधे भाग में बोली जाने वाली अथवा अठारह देशी भाषाओं से नियत भाषा कहा है[११६] । आचार्य अभयदेव के अभिमतानुसार इस भाषा में कुछ लक्षण मागधी के और कुछ लक्षण प्राकृत के मिलने के कारण इसे अर्धमागधी कहा गया है[११७] ।

इस प्रकार संक्षेप में भगवान् महावीर के युग की समाज और संस्कृति का उपर्युक्त विहगावलोकन किया गया है ।

सन्दर्भ :

१. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ०२२१

२. उत्तराध्ययनसूत्र, २५/३१

३. वही, ९/४२१

४. आवश्यक चूर्णि, पृ०४९६

५. कल्पसूत्र २/२२ तुलनीय वाजसनेय-संहिता ३८/१९, डॉ० श्री०एस० धुर्ये, कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया, पृ०६३१

६. उत्तराध्ययन, २५/७-८ तथा १२/१३१

७. आवश्यक चूर्णि,पृ०७३ तुलनीय संयुक्त निकाय, समणब्राह्मण सूत्र-२, पृ०१२९

८. सूत्रकृतांग, ९/१
९. बृहत्कल्पभाष्य - ४५/२३
१०. उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति पत्र, ४८९
११. उत्तराध्ययन सुखबोधावृत्ति पत्र, ८४
१२. उत्तराध्ययन, २२/११
१३. चंपाए पालिए नाम सावए आति वाणिए । उत्तराध्ययन, २१/१
१४. उत्तराध्ययन, १३/१८-१९
१५. वही, २७/१५
१६. वही, १९/६८
१७. वही, १९/६७
१८. वही, २२/४६
१९. वही, २२/४७
२०. वही, १०/३३, १०/२९, १०/१२
२१. वही, २०/२२
२२. वही, २२/७३
२३. वही, १/३७
२४. वही, १२/१२
२५. वही, १५/९१
२६. वही, २२/१
२७. वही, २९ का प्रारम्भिक गद्य
२८. वही, २२/४२, ४४/१५, ९/१३
२९. वही, १८/३९, २२/२७
३०. ज्ञाताधर्म कथा, १/१
३१. भगवतीसूत्र, निरभावलिया
३२. उत्तराध्ययन, २१/७
३३. उत्तराध्ययन सुखबोधा वृत्ति पत्र, १४२
३४. उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति पत्र, ४९०
३५. आवश्यक चूर्णि २, पृ०१६५,१६६

३६. उत्तराध्ययन सुखबोधा वृत्ति पत्र, १४२
३७. अन्तकृद्दशा ७, पृ०४३
३८. कृपासकृद्दशा ८, पृ०६१
३९. उत्तराध्ययन सुखबोधा वृत्ति पत्र, ९७
४०. उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति पत्र, ८८
४१. वही, ८८
४२. उपासकदशा ८, पृ०६१
४३. उपासकदशा ८, पृ०४३
४४. कल्पसूत्र, २/२०
४५. उत्तराध्ययन सुखबोधा वृत्ति पत्र, ६५
४६. बृहत्कल्पभाष्य-पीठिका, २५२
४७. दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि, पृ०२३२
४८. रामायण, २/९३/७६
४९. अर्थशास्त्र २/९९/६१, पृ०१६५
५०. उत्तराध्ययन सुखबोधा वृत्ति पत्र, ९६
५१. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ०५१
५२. ज्ञाताधर्मकथा ७, पृ०८४
५३. आवश्यक चूर्णि २, पृ०३१९, उत्तराध्ययन, १२/३४
५४. उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति पत्र, ३६९
५५. आवश्यक चूर्णि, २८३
५६. वही, ३५६
५७. वही, २८८
५८. निशीथभाष्य, पृ०८८
५९. आवश्यक चूर्णि, २२३
६०. उत्तराध्ययन टीका, पृ०६५
६१. उपासकदशा १, पृ०७
६२. पिण्डनिर्युक्ति, ५५६, ६३७
६३. विपाकसूत्र ८, पृ०४६

६४. दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि, पृ०३१५
६५. दशवैकालिक, ५/१, ४७-४८
६६. आचारांग, २/१/७, ८
६७. प्रवचनसारोद्धार, २५९, गाथा-सं० १४१० से १४१७
६८. दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि, पृ०३२१
६९. वही, पृ०३२२
७०. दशवैकालिक, ३१४
७१. बृहत्कल्पभाष्य, १/३१७०-७१, पिण्डनिर्युक्ति, २१४-२१५
७२. दशवैकालिक जिनदास चूर्णि, पृ०२२१
७३. वही, पृ०१७१-७२
७४. आचारांग, २/११/३९२, पृ०३७९
७५. सूत्रकृतांग टीका २/७५, पृ०४१३
७६. द डान्स आव शिव, कुमार स्वामी, पृ०७२, ८१
७७. उत्तराध्ययनटीका १३, पृ०१८५
७८. उत्तराध्ययनटीका, ९/१३६
७९. आवश्यक चूर्णि २, पृ०१६१
८०. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ०२५३
८१. आवश्यक चूर्णि, पृ०५५५
८२. स्थानांग, ४/३७४, पृ०२७१
८३. दशवैकालिक जिनदास चूर्णि, पृ०३३०
८४. वही, पृ०३५०
८५. दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा,३५४,दशवैकालिक हारिभद्रीय वृत्ति पत्र, २६३
८६. आचारांग, ९/२/५/१/३६४-३६८
८७. विनयवस्तु, पृ०९२
८८. बृहत्कल्प भाष्य वृत्ति, २/३६६०
८९. महावग्ग ८/९१४, पृ०२६८
९०. बृहत्कल्पभाष्य २/२४
९१. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ०२०८

९२. आवश्यक चूर्णि पृ० २६८, राजप्रश्नीय ४३, पृ० १००, निशीथ-भाष्य १२/४००-४०२, कल्पसूत्रद्ध १०

९३. दशवैकालिक, ३/४

९४. दशवैकालिक हारिभद्रीय वृत्तिपत्र, २३९

९५. आवश्यक निर्युक्ति, २२

९६. उत्तराध्ययन, १,२,९,१२,१३,१८,२२,२७,४१

९७. उत्तराध्ययन, १/३८

९८. उत्तराध्ययन सुखबोधा पत्र, १२४

९९. कल्पसूत्रटीका ५, पृ०१२०

१००. कल्पसूत्रटीका ४, पृ०९०

१०१. व्यवहार भाष्य १, पृ०५७

१०२. भारतीय लिपिमाला, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पृ० २

१०३. राजप्रश्नीय सूत्र १३१, निशीथभाष्य, १२/४००

१०४. बृहत्कल्पभाष्य, ३/३८२२

१०५. आवश्यक चूर्णि, पृ० २४८

१०६. वसुदेव हिण्डी, पृ० १८१

१०७. समवायांग, पृ० ७८

१०८. आवश्यक चूर्णि, पृ० ५३०

१०९. निशीथ चूर्णि ५, पृ० ३६१

११०. उपासकदशा १, पृ० १०, समवायांग, पृ० ३३

१११. उत्तराध्ययनटीका १३, पृ० १९१

११२. आचारांग चूर्णि, पृ० २५५

११३. समवायांग, पृ० ५७, औपपातिक सूत्र, ३४, पृ० १४६

११४. अलंकारतिलक, १/१

११५. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, रिचार्ड विशल, पृ० ३३

११६. निशीथ चूर्णि, ११/३६१८

११७. भगवती वृत्ति ५/४ पृ० २२१, औपपातिक सूत्र टीका, ३४, पृ० १४८



प्राचीन भारतीय समाज : निरन्तरता एवं परिवर्तन के आयाम

(प्रारम्भ से प्रथम शताब्दी ई० तक)

डॉ० विजय लक्ष्मी शर्मा *

इस सृष्टि पर प्रथम मानव का उद्भव कब और कैसे हुआ तथा उसके क्रमिक विकास में कौन–कौन-सी परिस्थितियाँ या तत्त्व कारक थे? आधुनिक सन्दर्भ में लगभग समस्त सभ्यता एवं धर्म के लोगों ने उसकी अपने–अपने ढंग से व्याख्या करने की कोशिश की है तथा वैज्ञानिकों ने विभिन्न मानव संमुदायों की पौराणिक कथाओं, आख्यानों, दन्तकथाओं तथा किंवदन्तियों का तर्कसम्मत वैज्ञानिक विश्लेषण करके पृथ्वी पर मानव के प्रथम आगमन सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रतिपादन सम्बन्धी विभिन्न विचाराधाराओं को प्रस्तुत किया है । जीव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आज तक जो विचारधाराएँ प्रस्तुत की गईं, उनमें विशिष्ट सृष्टिवाद (Theory of special creation) अनादिवाद (Theory of Eternity of present condition) स्वत: उत्पत्ति का सिद्धान्त (Theory of spontaneous generation) विध्वंसवाद या महाविनाशवाद (Theory of catastrophism), विकासवाद का सिद्धान्त (Theory of Evolution) प्रमुख हैं; जिसमें चार्ल्स डार्विन द्वारा प्रतिपादित विकासवाद के सिद्धान्त को सर्वाधिक तर्कसंगत माना गया है ।

मानव की उत्पत्ति के बाद इस प्रश्न पर भी गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया कि मानव क्या है? पुरातात्त्विक सन्दर्भों में १७७८ में बेंजामिन फ्रैंकलिन द्वारा दी गई परिभाषा (Man is a tool making animal) को सर्वाधिक उपयुक्त समझा गया। मानव उस प्राणी को कहा जा सकता है, जो एक निश्चित आकार और प्रकार

---

* प्रवक्ता — प्राचीन इतिहास, पं० कमलापति त्रिपाठी राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, चन्दौली

के औजारों के निर्माण एवं औजार को अपनी आवश्यकतानुसार प्रयोग में लाने में सक्षम था । मानव की बुद्धि क्षमता और तदनुसार उसके द्वारा किया गया व्यवहार ही उसे सृष्टि के अन्य जीवों की तुलना में प्रथम पंक्ति में खड़ा कर देता है और वह सृष्टि के सर्वाधिक बुद्धिमान् प्राणी के रूप में दिखलाई देता है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि सृष्टि पर होमोसेपियन्स के रूप में अपने पूर्ण विकास से लेकर आधुनिक समाज के निर्माण तक मनुष्य ने कितनी सीढ़ियाँ चढ़ीं। यद्यपि यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि मानव का सर्वप्रथम उद्भव कब हुआ, पर अभी तक के प्रमाणों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि मानव का उद्भव प्रतिनूतन काल में हुआ, जिसकी शुरुआत बीस–तीस लाख वर्ष ईसापूर्व में हुई । दक्षिण अफ्रीका में १८ लाख वर्ष ई० पूर्व के प्रथम मानव का अवशेष प्राप्त हुआ है ।

समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । उसका विकास अकेले रहकर सम्भव ही नहीं है। उसकी दैनन्दिन आवश्यकताएँ उसे समूह में रहने को बाध्य करती हैं और समाज मानव-समूह का पर्याय कहा जाता है । मानव समाज के प्रारम्भिक स्वरूप को जानने के लिए हमारे पास जो सामग्री उपलब्ध है, वह मूक है; क्योंकि पुरातत्त्व की कोई भाषा नहीं होती । इतिहास से साक्षात्कार करने की इस विधा में जो सामग्री उत्खनन के माध्यम से प्राप्त होती है, उसे सूचीबद्ध करके हम उसे अपनी भाषा प्रदान करते हैं और हर पुरातत्त्ववेत्ता साक्ष्यों की अपने–अपने विचार से व्याख्या करने का प्रयत्न करता है । साक्ष्य स्पष्ट करते हैं कि अपने प्रारम्भिक दिनों से लेकर आज के युग तक पहुँचने में मानव ने विकास के विभिन्न सोपानों को पार किया और इन्हीं पर चढ़ते हुए उसने अनजाने में ही समाज के विभिन्न स्वरूपों का निर्माण किया होगा । उस प्रतिनूतन काल में मानव की कल्पना करने पर हम उसे अत्यधिक विवश पाते हैं, जो सृष्टि के अन्य प्रणियों के बीच रहते हुए अपनी अस्तित्व रक्षा के लिए संघर्षरत था । एक ओर उसे अपने पेट की क्षुधा मिटानी थी और दूसरी ओर उसे अपने जीवन की रक्षा करने के लिए अनेक विशालकाय हिंसक पशुओं का सामना करना पड़ रहा था । अस्तित्व रक्षा के इस संघर्षशील दौर में समूह में रहना उसकी बाध्यता थी। इसके अतिरिक्त उसकी सहज शारीरिक

आवश्यकताएँ भी उसे साथी ढूँढ़ने को बाध्य करती थीं और यहीं से समाज निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती हुई दिखलाई देती है । यद्यपि तत्कालीन मानव के संवेग, चिन्तन, भावनाओं, स्वरूप आदि को समझने के लिए हमारे पास जो पुरातात्त्विक सामग्री उपलब्ध है, वह मूक है और यह सत्य है कि मात्र पुरातत्त्व ही तत्कालीन समाज का स्पष्ट ढाँचा बनाने में सक्षम नहीं है । उसके लिए नृतत्त्वशास्त्री, समाजशास्त्री जैसे विशेषज्ञों की सामूहिक रूप से आवश्यकता है,जो तत्कालीन मानव समाज का एक ढाँचा सम्मिलित अध्ययन के ही माध्यम से प्रस्तुत कर सकते हैं । जहाँ समाजशास्त्र मानव के अन्त:सम्बन्धों को उजागर करने का प्रयत्न करता है, वहीं नृतत्त्वशास्त्र उसके शारीरिक स्वरूप को आधार मानकर तथ्यों की व्याख्या करता है और पुरातत्त्वविद् उन्हें साक्ष्य उपलब्ध कराता है । अध्ययनों से स्पष्ट होता है कि पाषाणकालीन मानव समूहों (Band) में रहता था और इन मानव समूहों में सर्वाधिक बलशाली मानव उस समूह विशेष का प्रमुख होता था । उस मानव समूह में नेतृत्व करने जैसी कोई भावना नहीं थी । मात्र शारीरिक बलिष्ठता ही उस मानव विशेष को नेतृत्व का सहज अवसर प्रदान करती थी । निस्संदेह यह नेतृत्व का सामाजिक सिद्धान्त एक मानव से दूसरे मानव को हस्तांतरित होता रहा होगा । समाज का यह स्वरूप मानव की पारस्परिक सहभागिता के सहज स्वभाव को भी व्यक्त करता है । तथ्य बतलाते हैं कि इस प्राग् इतिहास का समय बहुत लम्बा है। उस काल में आखेट और खाद्य संग्रह जीवित रहने के मुख्य आधार थे । समूह छोटा और उनकी सम्पत्ति सामूहिक और बँटवारासापेक्ष थी और यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि शारीरिक बौद्धिक क्षमता को ध्यान में रखते हुए समूह के नेतृत्व का भार किसी व्यक्ति विशेष को दिया जाता था ।

पुरातात्त्विक भाषा में पाषाणकाल से नवपाषाण काल में मानव का प्रवेश उसे हमारे सम्मुख एक ज्यादा विकसित और बुद्धिमान् प्राणी के रूप में प्रस्तुत करता है; जिसकी आवश्यकतायें और सोच थोड़ी ज्यादा विकसित और विस्तृत दिखलाई देती हैं । निस्संदेह इस नवपाषाणकालीन मानव का समाज पाषाणकाल के मानव समूहों की तुलना में काफी परिवर्तित था एवं इस समाज का अध्ययन मात्र पुरातत्त्व या नृतत्त्वशास्त्र या समाजशास्त्र के आधार पर करना सम्भव नहीं है, बल्कि इसके अध्ययन के लिए अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ, समाजशास्त्रीय दृष्टि की भी

आवश्यकता है। नवपाषाण काल में कृषि के क्रान्तिकारी आविष्कार ने मानव समाज में परिवर्तन के कई नवीन आयाम प्रस्तुत करने का कार्य किया । पाषाण काल के समूहों में रहने वाला मनुष्य विस्तार के कारण कई स्थानीय समूह के रूप में विकसित हो गया था (multi local groups) । शायद इसका प्रमुख कारण कृषि का आविष्कार और उसके कारण मानव जीवन में आई स्थिरता थी, जिसने उसे एक स्थान पर रुक कर रहने के लिए बाध्य कर दिया । मनुष्य के स्थायित्व ने ग्रामों के उद्भव की ओर एक दिशा प्रदान की और मानव-समाज एक नये रूप में विकसित होने की दिशा में बढ़ चला । प्रचुर मात्रा में खेती और उससे जुड़े पशुपालन ने समाज में नवीन स्तरों का निर्माण किया । ऐसा प्रतीत होता है कि अपने प्रचुर कृषि उत्पादनों तथा पशुधन की सुरक्षा के लिए मानव- समाज ने नेतृत्व की आवश्यकता की अनुभूति की और इस भावना ने मुखिया-प्रथा (Chiefdom) को जन्म दिया, जिसका मुख्य कार्य उत्पादन पर अपनी पकड़ को मजबूत रखते हुए उससे प्राप्त लाभांशों को समाज के हर व्यक्ति को प्रदान करना था। दूसरे शब्दों में इस प्रथा की शुरुआती आवश्यकता समाज के आर्थिक स्वरूप को संतुलित रखने की थी । यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि समाज की मूल इकाई की नींव भी तभी पड़ी, जब मानव समाज के जीवन में स्थिरता का आगमन हुआ, और उसके बाद विश्राम के क्षणों में उसके द्वारा किया गया चिन्तन एक ओर तो उसके जीवन को विभिन्न आविष्कारों के माध्यम से सहज बनाता चला गया और दूसरी ओर उसके द्वारा किये गये विभिन्न क्रिया-कलापों ने उसे सांस्कृतिक पहचान प्रदान करने का कार्य किया। उसमें और ज्यादा जागरूकता तथा स्वातन्त्र्य अभिव्यक्ति का सुसंस्कृत समावेश होने लगा । मानव-समाज में सांस्कृतिक तत्त्वों के साथ ही हमारे अध्ययन का क्षेत्र और ज्यादा विकसित हो जाता है । अब हम उस समाज का पुरातात्त्विक, अर्थशास्त्रीय, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि अध्ययन प्रारम्भ कर देते हैं और तभी हमें उस समाज के सम्बन्ध में सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त हो पाती है ।

नवपाषाण काल का अध्ययन स्पष्ट करता है कि जो समाज आखेट और संचय की अर्थव्यवस्था से आगे नहीं बढ़ पाया था, उसमें कांस्यकालीन सभ्यताओं के उदय और विकास की पृष्ठभूमि नवपाषाण काल में निर्मित हुई और भारत में

हड़प्पा संस्कृति के उदय के साथ ही साथ एक नवीन सभ्यता का विकास हुआ। लिपि की अनभिज्ञता ने आज तक हड़प्पा संस्कृति के कुछ पहलू को अनभिज्ञ रखा है, फिर भी हमारे पास आज तक जितनी पुरातात्त्विक सामग्री उपलब्ध है, वह एक उन्नत विकसित सभ्यता का बोध कराती है। यह सभ्यता तकनीकी दृष्टि से अत्यन्त विकसित थी और इसकी अप्रतिम विशेषताओं के बारे में इतिहासकारों द्वारा विस्तार से कहा जा चुका है। यहाँ मूल प्रश्न इस संस्कृति के सामाजिक संगठन को लेकर है।यद्यपि इस बात के स्पष्ट प्रमाण नहीं हैं कि नवपाषाण काल के मुखिया प्रथा (Chiefdom) का इस काल में परिवर्तित स्वरूप कैसा था परन्तु यह तो अवश्य है कि एक विकसित नगरीय सभ्यता में सामाजिक प्रतिमान बदल गये होंगे। हड़प्पा संस्कृति के तकनीकी ज्ञान को देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि समाज अनेक वर्गों में विभाजित था, इसमें शासक और सामान्य वर्ग मुख्य रूप से था। हड़प्पा संस्कृति की धार्मिक आस्थाओं को देखते हुए यह मान्यता व्यक्त की गई है कि समाज में पुरोहित-वर्ग शक्तिशाली रहा होगा। इस संस्कृति की आर्थिक संरचना में कृषि तथा व्यापार का बड़ा योगदान था। आर्थिक क्रिया-कलाप वस्तुविनिमय के माध्यम से होते थे। हम यह तो स्पष्ट नहीं कह सकते कि इस संस्कृति में राज्य का स्वरूप कैसा था, पर यह अवश्य है कि इस नगर-सभ्यता में एक प्रमुख वर्ग अवश्य रहा होगा, जिसका अंकुश सम्पूर्ण राज्य पर रहा होगा। किसी भी संस्कृति और समाज का मूलाधार अनाज की सर्वसुलभता है और वह भी ऐसी कि वास्तविक अनाज उत्पादक की अपनी निजी आवश्यकता की पूर्ति के बाद समाज में अनाज की सुलभता हो और इस दृष्टि से हड़प्पन संस्कृति खरी दिखलाई देती है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण वर्ग विभाजन के बाद भी इस संस्कृति में ज्यादा सामाजिक विषमता नहीं रही होगी।

हड़प्पा संस्कृति के बाद वैदिक संस्कृति का काल आता है, जिसने भारतीय सामाजिक संरचना को ऐसे आयाम प्रदान किये, जिसकी निरन्तरता उस संस्कृति के ह्रास के हजारों वर्षों बाद भी आज तक चली आ रही है; यद्यपि इसमें समय-समय पर परिवर्तन होते रहे। वास्तव में भारतीय संस्कृति ऐसी संश्लिष्ट संस्कृति है, जिसमें हर युग में समयानुसार परिवर्तन होते रहे। वैदिक काल का प्रारम्भिक चरण स्पष्ट करता है कि समाज में वर्ग विभाजन के लिए स्थान नहीं था।

वैदिककालीन "व्रात्य" और "गण" जैसे शब्द बतलाते हैं कि अपने अस्तित्व की रक्षा और स्वयं को स्थापित करने के संघर्ष ने लोगों को एक ऐसे समूह के निर्माण की ओर प्रेरित किया, जिसमें कोई भी पारस्परिक रक्त सम्बन्धों से नहीं जुड़ा हुआ था। यह समूह जीवन यापन के लिए संसाधनों की खोज में लगे हुए थे और उनमें निश्चित ही भाई-चारा रहा होगा । यद्यपि इस तथ्य को सभी जानते हैं कि वैदिक संस्कृति मूल रूप से धर्म पर आधारित थी, तथापि किसी भी सन्दर्भ को आगे बढ़ाने से पूर्व इसका एक बार उल्लेख आवश्यक है । समाज के विकास का क्रमिक अध्ययन स्पष्ट करता है कि समय के साथ यह प्रारम्भिक व्रात्य और गण 'जन' के रूप में विकसित हो गये और प्रारम्भिक Band अब tribe के रूप में परिवर्तित हो गया । इस समय तक भी वैदिक समाज को एक मुक्तसमाज कहा जा सकता है; क्योंकि अभी तक व्यवसाय के चयन में तथा वैवाहिक सम्बन्धों को स्थापित करने में कोई दुराव नहीं प्रारम्भ हुआ था। इस काल में समाज में अनेक स्तर दिखलाई देते हैं, जो आर्थिक रूप से सम्पन्न थे । समाज के हर वर्ग के लोगों का प्रतिनिधित्व करते हुए पूर्व-वैदिककालीन सभा और समिति दिखलाई देती है, जो तत्कालीन समाज के हिसाब से एक स्वस्थ राजनैतिक संस्था थी । समाज में हर व्यवसाय से जुड़ा हुआ व्यक्ति इसका सदस्य होता था और सार्वजनिक रूप से अपने विचारों को व्यक्त करने का अधिकारी था ।

इतिहास साक्षी है कि उत्पादन तथा जनसंख्या वृद्धि का पारस्परिक रूप से अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । उत्पादन में बढ़ोत्तरी के साथ ही जनसंख्या वृद्धि होती है और साथ ही साथ उत्पादन प्रभावित होता है; जिसका परिणाम एक नवीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक समीकरणों के रूप में प्रस्फुटित होता है। उत्तर-वैदिककाल में प्रविष्ट होते ही वर्ण व्यवस्था की समाज पर पकड़ मजबूत होती हुई दिखलाई देती है । जो वर्ण पहले गुण अथवा व्यवसाय के आधार पर निर्धारित किये गये थे, अब जन्मना होते हुए दिखलाई देते हैं । दूसरे शब्दों में समाज वंशानुगत होता हुआ दिखता है । विभिन्न व्यवसायों से जुड़े लोग एक वर्ग विशेष रूप संगठित होने लगते हैं । समाज के दो प्रमुख वर्ण ब्राह्मण और क्षत्रिय समाज को वंश परम्परा के आधार पर वर्गीकृत करने के लिए ज्यादा

प्रयत्नशील थे । सम्भवत: वह अपने क्रिया-कलापों अथवा दूसरे शब्दों में व्यवसाय के सम्मान की लालसा में पक्षपाती होने को विवश हो गये और इस दिशा में उन्हें बुद्धिबल तथा बाहुबल से सफलता भी प्राप्त हुई। विद्वानों का मानना है कि वैदिककालीन 'विश्' सामान्य जन थे, जो बाद में वैश्य कहलाए । स्पष्ट है कि ब्राह्मण और क्षत्रियों की भाँति इनमें भी उन्नत सामाजिक स्तर को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ हो गये थे । आर्थिक संरचना में पशुपालन के महत्त्व ने उनकी सुरक्षा की आवश्यकता की ओर वैदिक मानव को प्रेरित किया और इस कारण दो या अनेक ग्रामों (समूहों) के बीच लड़ा गया युद्ध संग्राम कहलाया, जिसके उदाहरण हमें महाभारत काल तक मिलते हैं ।

छठवीं शताब्दी ई० पू० तक आते-आते ब्राह्मण और क्षत्रियों के शोषण के विरोध में सुलगी हुई चिनगारी मुखर रूप में सामने आती है । इस काल में एक नवीन विचारधारा के साथ भगवान् गौतम बुद्ध तथा भगवान् महावीर स्वामी का अभ्युदय होता है, जिन्होंने ब्राह्मण परम्परा के विरुद्ध एक नई सामाजिक संरचना की बात की, जिसमें वर्ण और जाति के लिए कोई स्थान नहीं था । इतिहास बतलाता है कि इसके पूर्व से चला आ रहा वैदिक धर्म प्रवृत्तिमूलक था, जबकि छठवीं शताब्दी ई. पू. की इन दोनों महान् विभूतियों ने निवृत्ति मार्ग की बात की। इस काल में यज्ञमूलक धर्म का विरोध हुआ है । स्पष्ट है कि इस काल में शास्त्र पर ब्राह्मणों के एकाधिकार के वर्चस्व को चुनौती दी गयी । इस काल में समाज में भौतिक परिस्थितियों में आये बदलाव ने भारतीय संस्कृति के स्वरूप को बदलने का कार्य किया । वैसे तो वर्णाश्रम व्यवस्था समाज में ब्राह्मणों के उच्चतम स्थान की बात करती है; परन्तु इस काल में अपनी उच्च आर्थिक स्थिति के कारण श्रेष्ठिवर्ग (व्यापारी वर्ग) का अभ्युदय हुआ, जिनका श्रेष्ठ सम्बोधन ही उनकी समाज में उन्नत स्थिति का द्योतक है । समाज का यह धनिष्ठ-वर्ग चूँकि शासन संचालन में राजा के ज्यादा काम आता रहा होगा, इसलिए समाज में निश्चित ही उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली रहा होगा । भारतीय इतिहास अनेक ऐसे नामों से भरा पड़ा है । इससे यह स्पष्ट होता है कि व्यवस्थाएँ चाहे जैसी दी गई हों, व्यवहारिक धरातल पर उन्हें सामाजिक बदलाव के साथ आये नवीन विचारों के द्वारा चुनौतियाँ दी जाती रहीं ।

छठवीं शताब्दी ई. पू. के बाद से लेकर ईसा की प्रथम शताब्दी और उसके बाद का भी भारतीय समाज विदेशी आक्रमणों के झंझावातों को झेलता हुआ दिखलाई देता है । यदि कल्पना की जाय तो इतिहास का यह पृष्ठ अनेक सामाजिक विषमताओं से लड़ता हुआ अपने अस्तित्व की रक्षा में प्रयत्नशील दिखलाई देता है । जहाँ एक ओर उसे अपने ही समाज में प्रदत्त व्यवस्थाओं के प्रति विभिन्न वर्ग के लोगों की चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा था; वहीं दूसरी ओर आक्रमणों के झंझावात में अपनी अस्मिता को बचाकर रखने का प्रयत्न भी करना पड़ रहा था । ऐतिहासिक उदाहरण बतलाते हैं कि यवन आक्रमणकारियों ने न केवल भारतीय समाज को नष्ट किया, बल्कि इसकी सांस्कृतिक विरासत के हनन की भी पुरजोर कोशिश की । शायद इसी कारण इस काल के हिन्दू शास्त्रकार सामाजिक व्यवस्थाओं की बात करते समय अतिशय कठोर दिखलाई पड़ते हैं और यह कठोरता उनकी तत्कालीन सामाजिक मजबूरी थी । जहाँ एक ओर तत्कालीन व्यवस्थाकार बौद्ध और जैन धर्मों के निवृत्ति मार्ग के जबाब में, अपने यहाँ भी चार पुरुषार्थों की बात करते हुये, उसमें मोक्ष की बात कहते हैं, वहीं अवतारी कृष्ण वर्णव्यवस्था में आई कुरीतियों की पुनःसमीक्षा करते हुये, उसे गुण-कर्म के आधार पर स्वयं के द्वारा सृजित बतलाते हैं । इस काल का ब्राह्मण शायद वर्षों से चले आ रहे संघर्ष से चुनौती लेने को कृतसंकल्प हो जाता है और स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा करता है कि ब्राह्मण और श्रमण परम्परा में शाश्वत विरोध है । साथ ही साथ वह आश्रमों में गृहस्थाश्रम को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घोषित करता है, ताकि समाज में संन्यास के प्रति आ रही अभिरुचि को दूर किया जा सके । समाज में बड़ी तेजी से उभर रहे वैचारिक बदलाव की परिणति स्पष्ट रूप से ब्राह्मण राजवंशों की स्थापना में दृष्टिगत होती है, जब ब्राह्मण शास्त्र छोड़कर शस्त्र ग्रहण करता है । यह भारतीय समाज में आये सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों में बदलाव का चरम उदाहरण है । समाज के लिये व्यवस्था देने वाला वर्ग ही अपनी सामाजिक व्यवस्था के विपरीत व्यवहार करता हुआ दिखलाई देता है ।

इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि भारत में मानव के उद्भव और विकास के बाद, प्राग् इतिहास काल के उपरान्त, जैसे ही हम लिखित इतिहास में प्रविष्ट होते हैं, भारतीय सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित चिंतन में निरन्तर बदलाव पाते हैं।

यह अवश्य है कि कभी इसके परिवर्तन की गति अत्यन्त मन्द, तो कभी बड़ी तीव्र दिखलाई देती है। सामाजिक परिवर्तन देश और काल की परिस्थितियों के आधार पर होते हुये दिखाई देते हैं और इसे ही भारतीय संस्कृति की निरन्तरता भी कहा जा सकता है, जिसका एकपक्षीय अध्ययन किसी भी दशा में असम्भव है । इसके सर्वांगीण स्वरूप से परिचित होने के लिये इसके बहुंआयामी अध्ययन की आवश्यकता है ।



इतिहास की कसौटियाँ और भारतीय इतिहास की पुनर्रचना के परम्परावादी आग्रह

डॉ० नीता चौबे*

पुराणों और महाकाव्यों की परम्परा में इतने श्रमपूर्वक सँजोए गए देवताओं, ऋषियों एवं राजाओं के रोचक कथावृत्तों और महान् आश्चर्यों से परिपूर्ण वृत्तान्तों को सहज ही स्वीकार कर लेना कदाचित् अधिक सुविधाजनक होता, यदि इतिहास की वैज्ञानिक दृष्टि में ऐसा सभी कुछ, जो पहले और अभी लिखा और कहा जाता रहा है, वह सब वास्तविक इतिहास न होकर, इतिहास का अंश मात्र होता । जन विश्वास और आस्थाएँ तर्क का विषय नहीं होतीं; परन्तु हमारी इतिहास-दृष्टि में, जन विश्वासों में निहित बातों को केवल इसलिए सत्य मान लेना सम्भव नहीं होगा, कि एक बड़ी जनसंख्या उसे सत्य मानती है । नि:सन्देह जन विश्वासों के स्रोत और कारण स्वयं में ऐतिहासिक प्रक्रिया से उद्भूत विषय हैं, जो अपनी उत्पत्ति और प्रसार के लिए किसी मान्यता या घटना के जनग्राही बनने के समय एवं क्षेत्र पर निर्भर करते हैं । इतिहासकार का कार्य उन घटनाओं के मूल स्वरूप और उनके जनग्राही होने के काल और परिस्थितियों के सत्य का अन्वेषण करना होता है ।

विश्व में सभी जगह मानवता ने अपनी-अपनी परम्पराओं से जुड़ी हज़ारों, लाखों कथाओं और किंवदन्तियों की रचना की है और यदि केवल उन्हीं के आधार पर अतीत और इतिहास की कोई रूपरेखा खींचनी हो, तो उसमें काल और क्षेत्र की इतनी विसंगतियाँ उत्पन्न हो जायेंगी कि उसे संयोजित करना जटिल ही नहीं

---

* अंशकालिक प्राध्यापिका, सामाजिक विज्ञान विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

असम्भव होगा। तथापि इतिहासकार भी इसके लिए स्वतन्त्र नहीं है कि वह अपनी इच्छानुसार किसी घटना और प्रक्रिया को स्वीकार या अस्वीकार कर सके। किसी भी घटना और प्रक्रिया को ऐतिहासिक तथ्य होने के लिए उसे कालक्रम, क्षेत्रीय परिधियों, जीवशास्त्रीय विधानों, पर्यावरण एवं जनसंख्यागत स्थितियों, परिस्थितियों तथा समुचित भौतिक या पुरातात्त्विक साक्ष्यों से समर्थित होना अपेक्षित है।

कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि मिथकों का इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है। इतिहास तथा मिथक के बीच एक महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध रहा है। काल के क्रम में बहुत सारे इतिहास मिथक के रूप में परिवर्तित होते रहे हैं, तो बहुत सारे मिथक भावी इतिहास का निर्माण करते रहे हैं। जैसा कि प्रसिद्ध समाजशास्त्री योगेन्द्र सिंह ने लिखा है–'सामाजिक शक्ति के सामूहिक प्रतिमान के रूप में मिथक में शक्तिशाली सामाजिक यथार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। यह मनुष्य मात्र को प्रभावित करता है तथा बहुसंख्यक समाज की सोच एवं व्यवहार को निर्धारित करता है। यह मनुष्य जाति का सामाजिक सृजन है; किन्तु अब यह एक स्वतन्त्र इतिहास के रूप में सम्पूर्ण मानव से संघर्ष कर रहा है'।[१] आगे उन्होंने लिखा है कि 'कभी-कभी हम सोचते हैं कि आधुनिक समाज पूर्णतया तर्क के क्षेत्र में रहता है और पुराण के सिद्धान्तों से मनुष्य का मोहभंग करता है। इतिहास विज्ञान और तर्क के सिद्धान्त, आधुनिकीकरण की अवधारणा के केन्द्र हैं। ....आज के मनुष्य की स्थिति का एक विरोधाभास यह है कि पुराण कभी मरता नहीं है'।[२] प्रत्येक समूह, समाज और काल का अपना पुराण होता है। आधुनिक समाज और आधुनिक विज्ञान का भी अपना-अपना मिथक है; परन्तु इसकी ग्राह्यता या अग्राह्यता बहुत कुछ लोगों की अपेक्षाओं और विवशताओं से जुड़ी होती है और यह कहना बराबर संदिग्ध रहता है कि उसकी उत्पत्ति या मूल कितना संकीर्ण और वर्गीय अथवा व्यापक है। इस दृष्टि से इतिहास की रचना में मिथकों का समावेश एक बड़ी चुनौती माना जाना चाहिए।

जहाँ तक भारतीय इतिहास का सम्बन्ध है, पुराणों और महाकाव्यों की परम्परा जन विश्वासों से इस तरह गुथी हुई है कि उसमें वास्तविक इतिहास की खोज एक अत्यन्त दुरूह विषय है। विशेषत: यह देखते हुए कि प्राचीनकाल में भारतीय इतिहास के स्वतन्त्र लेखन की इससे इतर अन्य कोई परम्परा नहीं रही।

बहुत से विद्वानों ने भारतीय इतिहास के लेखन के लिए पौराणिक कथावृत्तों को पूरी तरह अनावश्यक माना[३]; परन्तु पार्जीटर आदि विद्वानों के प्रयासों से पौराणिक परम्परा का ऐतिहासिक महत्त्व स्थापित हुआ[४] और वह इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण स्रोत के रूप में स्वीकार की गयी । इतिहास के लिए पौराणिक परम्परा के दो स्पष्ट पक्ष बनते हैं– एक उसमें निहित वंशानुचरित, जिसका सम्बन्ध राजनीतिक विकासक्रम से होता है, दूसरा उसमें निहित सांस्कृतिक और धार्मिक चेतना जो एक वर्गीय या विशिष्ट संस्कृति समूह के आग्रहों और आरोपणों को प्रतिबिम्बित करती है[५] ।

भारतीय संस्कृति और सभ्यता के विकास में जातीय तत्त्वों की विशेष भूमिका को अनदेखा नहीं किया जा सकता । यह जातीय तत्त्व राजवंशों को वैधता प्रदान करता है । ऋषियों और देवों के परिवारों को प्रतिष्ठित करता है । प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर ने मिथकों में संयोजित वंशानुक्रम को एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में देखा है[६] और वैदिक जन-समाज में भी वंशानुगत प्रवृत्तियों की जड़ें ढूँढी हैं[७] । इसके अतिरिक्त वैदिक ब्राह्मण सभ्यता और संस्कृति के प्रसार में भी जातीय तत्त्वों के निरूपण और समन्वय के उद्देश्य से मिथकों की उत्पत्ति और रचना की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है । इस प्रकार मिथकों ने सामाजिक और सांस्कृतिक विकास की महान् क्रिया सम्पादित की है और इतिहास को दिशा प्रदान की है[८] । इससे इतिहास की रचना के लिए मिथकों का महत्त्व तो स्थापित होता है; परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं लिया जा सकता कि मिथक ही वास्तविक इतिहास हैं । चूँकि मिथकों का निर्माण स्वयं में कतिपय छोटे या बड़े वर्गीय आग्रहों का परिणाम है, अतः समग्र इतिहास के लिए वे कतिपय छोटी या बड़ी परम्परा या धारा को ही परिलक्षित करते हैं और कालक्रम, क्षेत्र और परिस्थितियों के अनुसार अपना रूपान्तरण भी करते चलते हैं ।

आधुनिक काल में भारतीय इतिहास लेखन की एक बड़ी चुनौती तटस्थ और निरपेक्ष रूप से तथ्यों का उद्घाटन और मिथकों का वैज्ञानिक विश्लेषण रहा है । तर्क और विशुद्ध भौतिक परिस्थितियों एवं शुष्क व्याख्याओं ने जहाँ भारतीय इतिहास की कालसीमा तथा घटनाओं का क्रम एवं स्वरूप निर्धारित किया, वहीं इससे उन मिथकों और मान्यताओं के लिए समस्या भी पैदा हुई, जो बहुसंख्यक

समाज में स्थापित वर्गीय प्रतिष्ठा अथवा अहंकारों का प्राणरूप रहे हैं । नि:संदेह किसी समाज और राष्ट्र के लिए अपनी परम्परा की विशेषता और प्राचीनता उसके आत्मगौरव का विषय होती है, जो किसी राष्ट्र के निर्माण के आधारभूत तत्त्वों में से एक है; परन्तु यही आत्मगौरव जब वर्गीय हितों को संरक्षित करने के लिए एक राष्ट्रवादी पाखण्ड का रूप ग्रहण कर लेता है, तो वह राष्ट्र के निर्माण की किसी सम्यक् और प्रगतिशील सोच के बजाय अपने इतिहास के साथ ही छल करने लगता है । वह परम्पराओं की उत्पत्ति, स्वरूप, औचित्य, अनौचित्य की कालसीमा एवं क्षेत्रीय परिधि को ध्यान में रखे बिना उसकी मोहग्रस्तता में इतिहास को ही झुठलाने पर लग जाता है और तब वह मिथकों को ही इतिहास मानने का आग्रह कर बैठता है ।

इधर कुछ दशकों से यह बात लगातार उठाई जा रही है कि आधुनिक काल में भारतीय इतिहास लेखन ने भारत की अस्मिता के साथ खिलवाड़ किया है। भारत की संस्कृति में निहित वैश्विक आध्यात्मिक और उदार तत्त्वों की अवहेलना की है । भारत की सनातन और एकात्मक सांस्कृतिक और धार्मिक परम्परा को विघटनवादी दृष्टि से देखा है और ऐसे तत्त्वों को महत्त्व प्रदान किया है, जो भारतीय संस्कृति के लिए अपमानजनक और अस्वीकार्य रहे हैं । अत: भारतीय इतिहास को फिर से लिखने की ज़रूरत है । स्वयं को राष्ट्रवादी कहने वाला एक वर्ग अपने वर्गीय सांस्कृतिक आग्रहों को ही राष्ट्रवादी इतिहास के रूप में रखने के प्रयास में जुटा दिखाई देता है और मार्क्सवादी इतिहास लेखन के दोषों को चुनौती देते-देते ऐसे राष्ट्रवादी लेखन को भी नकार बैठता है, जो स्वयं में स्वतन्त्रता संग्राम की राष्ट्रवादी चेतना से उद्भूत एक व्यापक राष्ट्रवाद का परिणाम था; परन्तु इतिहास के प्रति जिसकी दृष्टि विशुद्ध रूप से वैज्ञानिक थी ।[१] यह एक विडम्बना है कि इस नए राष्ट्रवादी आग्रह का स्रोत वे मिथक और परम्पराएँ ही हैं, जो वास्तव में राष्ट्रवाद के नाम पर एक हिन्दू राष्ट्र के इतिहास और उसके भविष्य की कल्पना से आबद्ध हैं ।

हिन्दू राष्ट्रवादी इतिहास लेखन के कुछ आधारभूत आग्रह इस प्रकार बनते हैं— भारतीय संस्कृति की उत्पत्ति को प्राचीन सभ्यताओं की उत्पत्ति की सामान्य काल–सीमाओं में बाँधा नहीं जा सकता । भारतीय संस्कृति लाखों-करोड़ों वर्ष

पुरानी है । प्रारम्भ से ही उसका रूप एकात्म रहा है । उसने सभी विरोधी धाराओं को आत्मसात् किया है और वही एक मुख्य धारा रही है । उसका क्षेत्र प्रारम्भ से ही व्यापक रहा है। यदि भारतीय उपमहाद्वीप के बाहर नहीं तो कम से कम इसके अन्दर यह पूरी तरह व्याप्त रही है, जिसको हज़ारों ऋषियों और राजाओं का निरन्तर नेतृत्व और संरक्षण प्राप्त हुआ है । इस संस्कृति के विरोधी तत्त्व राक्षस, असुर, दानव सभी इसके सामने नतमस्तक हुए हैं । भारत दुनिया का आध्यात्मिक गुरु तो रहा ही है, भौतिक विकास में भी यह हज़ारों वर्षों तक श्रेष्ठता के ऐसे सोपानों को छूता रहा है, जहाँ अधिकांश प्राचीन सभ्यताएँ कभी नहीं पहुँच सकीं और इन सबसे बड़ा आग्रह यह है कि तुर्कों और मुगलों के हमलों और शासन से ही भारतीयों ने अपना आत्मसम्मान और अपनी श्रेष्ठता गँवायी । भारतीयों की उदारता और सहिष्णुता का इस्लामी हमलावरों ने लाभ उठाया और अन्ततः अंग्रेजों ने भारतीयों को दारिद्र्य और गुलामी की स्थिति में पहुँचाया । भारतीयों में परिलक्षित विभिन्न सामाजिक विसंगतियाँ और मानसिक दुर्बलताएँ भारत की अपनी विशुद्ध परम्पराओं में निहित नहीं रही हैं; बल्कि वे सब इन्हीं विदेशी हमलों और हमलावरों के व्यवहारों के फलस्वरूप पैदा हुईं[१०] । भारतीय इतिहास की यह परिकल्पना मिथकों की उस अवधारणा से भी मेल खाती है, जो इतिहास को सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग में बाँटती है । यद्यपि मिथकों के ही अनुसार कलियुग का प्रारम्भ भारत युद्ध के समय से ही होना कल्पित है, जिसे रोमिला थापर ने एक जन-संस्कृति के युग की समाप्ति के रूप में देखा है और वहाँ से सभ्यता को नया रूप लेते माना है[११]; परन्तु हिन्दू राष्ट्रवादी दृष्टि में यह युग-सन्धि किसी सभ्यता के विकास का द्योतक न होकर, संस्कृति के प्रदूषण का प्रारम्भ जैसी ही प्रतीत होगी ।

यह एक आत्मश्लाघा या आत्मप्रवञ्चना से अधिक नहीं है कि हर नये परिवर्तन को दोषयुक्त और अतीत की हर बात को गौरवपूर्ण माना जाय । विशेष रूप से **हिन्दू राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की यह दृष्टि, आधुनिक भारतराष्ट्र की संकल्पना के उन सिद्धान्तों के सर्वथा विरुद्ध खड़ी होती है, जो अनेकता में एकता के कारक हैं और भारत अपनी इसी विशिष्टता के लिए जाना भी जाता रहा है ।** सह अस्तित्व और सहिष्णुता की भारतीय चेतना का अतिक्रमण करते हुए यह ऐसे

हिन्दू केन्द्रित इतिहास की अवधारणा पर टिकी होती है, जिसमें ग़ैर हिन्दू और विशेषत: इस्लामी और ईसाई समुदाय विदेशी और राष्ट्रविरोधी प्रतीत होते हैं। इस्लामी हमलावरों और शासकों द्वारा हिन्दू मूर्तियों और मंदिरों का विध्वंस ही इतिहास का प्रमुख विषय और समस्या बन जाता है और उसके परे कुछ भी देख पाना सम्भव नहीं रह जाता। जबकि इसके विपरीत **इतिहास समय, स्थान और परिस्थिति के साथ मानव संस्कृति और सभ्यता के विकास में निहित गुण-दोषों के समवेत आरोह-अवरोह की प्रक्रिया है और उच्चता या लघुता किसी भी व्यक्ति और मानव समूह का स्थायी भाव अथवा एकाधिकार नहीं है।** इस तथ्य को नकार कर किसी भी इतिहास के साथ न्याय होना सम्भव नहीं है। अत: भारतीय इतिहास की पुनर्रचना का ऐसा वर्गीय और संकीर्ण परम्परागत आग्रह, राष्ट्र या समाज किसी के लिए हितकर नहीं होगा और इतिहास को उसकी अपनी कसौटियों पर ही कसा जाना अनिवार्य होगा।

सन्दर्भ :

१. योगेन्द्र सिंह, पुराण, इतिहास और तार्किकता : भारत में राष्ट्रनिर्माण और संस्कृति, समकालीन भारतीय राजनीति, आचार्य बीरबल सिंह स्मृतिग्रन्थ, पृ० २५।

२. उपरोक्त, पृ. २६।

३. वेबर, हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर, लन्दन, १९०४।

४. डॉ. महेश विक्रम सिंह, वैदिक काल के आधुनिक इतिहास-लेखन की प्रमुख प्रवृत्तियाँ, इण्डियन हिस्टोरियोग्रॉफी, प्राचीन भारत का आधुनिक इतिहास लेखन, सं. शंकर गोयल, पृ० ३१। पार्जीटर, एफ. ई., एन्शिएण्ट इण्डियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन्स, लन्दन, १९२२, नई दिल्ली, १९६२; द पुराण टेक्स्ट्स ऑफ़ द डॉयनेस्टीज़ ऑफ़ द कलि एज़, ऑक्सॅफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९१३; डी. आर. मन्कड, पुराणिक क्रोनोलॉजी, आनन्द, १९५१।

५. रोमिला थापर, जिनिएलॉजी, ऐज़ ए सोर्स ऑफ़ सोशल हिस्ट्री, पृ. ३२६-३६०, इन एन्शिएण्ट इण्डियन सोशल हिस्ट्री, ओरिएण्ट लॉगमैन, १९७८।

६. रोमिला थापर, क्लैन, कास्ट एण्ड ओरिजिन मिथ्स इन अर्ली इण्डिया,

निहाररंजन रे मेमोरियल लेक्चर, इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ़ एडवांस स्टडीज़, शिमला ।

७. रोमिला थापर, फ्रॉम लीनिएज टू स्टेट, ऑक्सॅफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९८४, पृष्ठ १८-१९ एवं आगे ।

८. रोमिला थापर, ओरिजिन, मिथ्स एण्ड द अर्ली इण्डियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन, पृ० २९४-३२५, इन एन्शिएण्ट इण्डियन सोशल हिस्ट्री, ओरिएण्ट लॉगमैन, १९७८ ।

९. उदाहरण के लिए राधा कुमुद मुखर्जी जैसे राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने भी ऐसे धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तों को अवैज्ञानिक करार दिया, जो व्यवहार के धरातल पर खरे नहीं उतरते । मिश्रित जातियों की उत्पत्ति के सिद्धान्त पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा कि यह एक सैद्धान्तिक प्रतिपादन मात्र है और वास्तव में जातियों की उत्पत्ति का ऐसा कोई स्रोत सम्भव नहीं है। राधा कुमुद मुखर्जी, द एज ऑफ़ इम्पीरियल यूनिटी, जनरल एडीटर, आर. सी. मजूमदार IV एडीशन, १९६८, पृ. ५४५-५४६. और देखिए, आर. एस. शर्मा पर्सपेक्टिव्स इन सोशल इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ़ अर्ली इण्डिया ।

१०. सीताराम गोयल, हिन्दू टेम्पल्स व्हाट हैपन्ड टू देम, वा II, द इस्लामिक एविडेन्स सैकेन्ड एन्लार्ज एडीशन, वॉयस ऑफ़ इण्डिया, न्यू देल्ही; टी. पी. वर्मा, आर्यों का आदि देश भारत 'विश्वदृष्टि : डॉ. सम्पूर्णानन्द स्मृति ग्रन्थ', वाराणसी, १९९३, पृ० ७२०-३२; के. सी. वर्मा, द आर्यन्स द वेदास एण्ड द कलियुग एरा ऑफ़ ३१०२ ई. पू., वाराणसी, १९८४; एस. पी. गुप्ता, 'मन्थन', वा. XV.4 -XVI. 1, अक्टूबर १९९४, मार्च, १९९५, पृ०, ७९-९८; द लॉस्ट सरस्वती एण्ड द इण्डस सिविलाइज़ेशन, जोधपुर, १९९५, पृ. १८०-२०१, राजाराम नवरत्न, द पॉलिटिक्स ऑफ़ हिस्ट्री, न्यू देल्ही, १९९५; लक्ष्मण सरूप, इण्डियन कल्चर, IV पृ० १४९-६९।

११. रोमिला थापर, फ्रॉम लीनिएज टू स्टेट ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९८४, पृ० १४०–१४२ ।



प्राचीन सामुदायिक संगठनों के अध्ययन की विभिन्न विधायें

डॉ० सरोज रानी*

प्राचीन सामुदायिक संगठनों का उद्भव किन परिस्थितियों एवं किन कारणों से हुआ, इसका पुष्ट साक्ष्यों से संचलित ऐतिहासिक परिपार्श्व में स्पष्टतया विवेचन किया गया है । इसके अध्ययन के लिये विद्वानों ने विभिन्न पद्धतियों का प्रयोग किया है, जिनमें भाषावैज्ञानिक, नृतत्त्वशास्त्रीय, समाजशास्त्रीय एवं ऐतिहासिक विधायें प्रमुख रूप से प्रयुक्त हुई हैं । प्रागैतिहासिक संस्कृतियों के जन्मदाता विभिन्न मानवसमूहों के जन्म, जाति, उनके मूल आदि का अध्ययन शारीरिक, भाषा सम्बन्धी एवं सांस्कृतिक विशेषताओं पर आधारित है । अतएव मानव समुदायों का अध्ययन करने के लिये विद्वानों द्वारा उपर्युक्त पद्धतियाँ प्रयुक्त हुई हैं । इसके साथ ही प्रशासनिक एवं राष्ट्रवादी दृष्टियाँ भी अनेकशः प्रयुक्त हुई हैं । आर्थिक तत्त्वों की प्रधानता को दृष्टि में रखते हुए मार्क्सवादी विवेचन की भी अपनी परम्परा है ।

इनमें सर्वप्रथम भाषाशास्त्रीय विधा के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि प्राचीन संगठनों के उद्भव और विकास का अध्ययन करने में भाषाशास्त्र अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है । मनुष्यों एवं पशुओं में प्रमुख अन्तर भाषा का ही है। भाषा को मानव संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग स्वीकार किया जा सकता है । भाषा–विज्ञान मानव संस्कृति के इसी महत्त्वपूर्ण अंग (भाषा) का वैज्ञानिक अध्ययन है । यह एक ऐतिहासिक विद्या है, इसलिये तथ्यों की पुष्टि के लिये आवश्यक है कि उपलब्ध प्रमाण ऐतिहासिक हों । भाषावैज्ञानिक अध्ययन में शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र का भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिखलायी देता है । विभिन्न

---

* प्रवक्ता– प्राचीन इतिहास विभाग, आर्य महिला महाविद्यालय, वाराणसी

भाषाओं के सम्बन्ध में तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर एक मूल भारोपीय भाषा के अस्तित्व की पुष्टि होती है । विभिन्न भाषायें इसी मूल भारोपीय भाषा से निःसृत हुई हैं। भाषाविज्ञानी इन भाषाओं पर विचार करके प्राचीन मानवीय संगठनों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों का प्रतिपादन करते हैं ।

उपर्युक्त सन्दर्भ में ध्यातव्य है कि अनेक भाषाशास्त्रियों की यह मान्यता थी कि मानव का वर्गीकरण मानवशास्त्र के आधार पर खोपड़ी की गोलाई, लम्बाई आदि के अनुसार न करके भाषा की भिन्नता के आधार पर करना अधिक उपर्युक्त है । अनेक भाषाविज्ञानियों ने भाषा-विज्ञान से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें ग्रीक पर कुर्टियस तथा मैडविग की, संस्कृत पर वेस्टरगार्ड तथा बेनकी की, स्लावी पर मिकलोसिख तथा श्लाइखर की, कैल्टिक पर जेउस की तथा रोमन पर डीज की रचनायें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । इन सभी कृतियों में भाषाओं की तुलना के आधार पर प्राचीन मानवीय संगठनों का अध्ययन किया गया है । तुलनात्मक भाषाविज्ञान अनेक प्राचीन तथ्यों का उद्घाटन करता है तथा ऐसे आधार प्रस्तुत करता है, जिनसे सभ्यता, समाज तथा संस्कृति की अनेक बातें प्रामाणिक प्रतीत होती है । विभिन्न भाषाओं का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि इन भाषाओं में शब्द-अर्थ की सुदीर्घ परम्परा अन्तर्निहित है, इसीलिये इस विधा में शब्द-व्युत्पत्ति शास्त्र का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है । विभिन्न शब्दों के निर्वचन का अध्ययन करने पर शब्दों की व्युत्पत्ति, उनकी निर्माण-प्रक्रिया तथा उनके विकास से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण तथ्यों का अनावरण होता है । भाषाविज्ञान द्वारा किसी शब्द के अर्थ-निर्वचन तथा साहित्य में उस शब्द के प्रयोग का अध्ययन करते हुए शब्दों की सुदीर्घ परम्परा का उद्घाटन किया जाता है । प्रत्येक सार्थक शब्द अपने साथ अपना एक विशिष्ट अर्थ-भाव अथवा विचार रखता है । वही अर्थ उस शब्द का प्राण अथवा सार होता है । शब्द का पूर्ण महत्त्व अर्थ पर निर्भर करता है । किसी शब्द का अर्थ कभी स्थिर नहीं रहता है; अपितु कालक्रमानुसार शनैः शनैः उसमें परिवर्तन तथा विकास होता रहता है । अर्थ-निर्वचन द्वारा अर्थ-परिवर्तन अथवा अर्थ-विकास का प्रकाशन होता है । उसके ऐतिहासिक विकास, परिवर्तन की दिशा तथा उसके मूल में स्थित कारण को स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है । इस प्रकार शब्द-अर्थ की सुदीर्घ परम्परा का

अध्ययन करके प्राचीन सामाजिक संगठन से सम्बन्धित विविध पक्षों पर प्रकाश डाला जा सकता है ।

भाषावैज्ञानिक पद्धति के अतिरिक्त प्राचीन सामाजिक संस्थाओं पर विचार के लिये प्रयुक्त समाजशास्त्रीय एवं ऐतिहासिक विधाओं का विवेचन भी अपेक्षित है । ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति के अन्तर्गत पाश्चात्त्य इतिहासकारों ने प्राचीन सामुदायिक संगठनों की व्याख्या प्राशासनिक दृष्टि से प्रस्तुत की है; किन्तु राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने राष्ट्रीयता से अनुप्राणित होकर नितान्त नवीन दृष्टि से प्राचीन संगठनों का अध्ययन किया है । इनमें एक वर्ग आर्थिक इतिहासकारों का भी है, जो इन संगठनों के विकास में आर्थिक तत्त्व की प्रधानता को इंगित करते हैं । समाजशास्त्रीय विधा का प्रयोग करते हुए अनेक प्रसिद्ध समाजशास्त्री सामाजिक प्रक्रियाओं को समझने के लिये विभिन्न सिद्धान्तों का आधार ग्रहण करते हैं, यथा— प्रमुख परम्परा, गौण परम्परा, साधारणीकरण, विशेषीकरण, संस्कृतिकरण, ग्राम्यनगर-सन्दर्भ आदि । इस दृष्टि से समाजशास्त्री **धुर्ये** का विशिष्ट योगदान दिखलायी देता है । धुर्ये प्राचीन मानवीय संगठनों के विकासक्रम के अध्ययन के साथ ही आधुनिक सामाजिक संस्थाओं पर भी विचार करते हैं । धुर्ये का विचार था कि समाजशास्त्र एवं सामाजिक नृतत्त्वशास्त्र में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है तथा इन संस्थाओं के विकास का अवलोकन करने के लिये दोनों का एक साथ प्रयोग करना चाहिए । समाजशास्त्री **एम. एन. श्रीनिवास** ने इस मत का समर्थन किया है । **के. वी. चट्टोपाध्याय, बी. के. सरकार, डी. पी. मुकर्जी** आदि अनेक विद्वान् धुर्ये के विचारों से प्रभावित दिखलायी देते हैं । धुर्ये का विचार था कि प्राचीन सामुदायिक संगठनों का अध्ययन किये बिना आधुनिक समाज के विकास की प्रक्रिया को समझना अत्यन्त कठिन है । अनेक समाजशास्त्रियों ने मुख्यरूप से दो प्रणालियों का प्रयोग किया है, समकालीन तथा द्वैकालिक; किन्तु धुर्ये ने इतिहास के परिवेश में द्वैकालिक पद्धति का प्रयोग किया है, जिससे उनके निष्कर्ष अन्य समाजशास्त्रियों से भिन्न हैं । इसीलिये सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप पर विचार के लिये धुर्ये अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक सिद्ध होते हैं ।

समाजशास्त्रीय पद्धति के पश्चात् ऐतिहासिक विधा पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि पाश्चात्त्य इतिहासकारों ने भारतीय सामाजिक संस्थाओं पर यथेष्ट प्रकाश

डाला है। पाश्चात्त्य इतिहासविदों ने प्राचीन भारतीय परम्परा का उल्लेख करते हुए बताया है कि भारत में विराट् पुरुष के विभिन्न अंगों से चारों वर्णों की उत्पत्ति सम्बन्धी धारणा का अस्तित्व नहीं था । **ई. सेनार्ट, होपकिन्स, हिल्लेब्रास्ट** आदि का विचार था कि भारतीय शूद्रों की स्थिति का निर्धारण प्राचीन विश्व के दासों की तुलना में करना चाहिए । पश्चिम के एक मूर्धन्य विद्वान् **रिजले** का कथन था कि भारत में विभिन्न प्रजातियों द्वारा जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति के कारण भारत के राष्ट्रीय स्वरूप का विकास नहीं हो पाया । इसके विपरीत भारतीय विद्वानों की धारणा है कि भारतीय समाज में बहुत पहले ही प्रजातीय सांस्कृतिक एकता की स्थापना हो चुकी थी । बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अनेक विद्वानों ने पाश्चात्त्य इतिहासकारों की आलोचना करते हुए इनके द्वारा जातिव्यवस्था का अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से विवेचन करने का उल्लेख किया है। कुछ अन्य भारतीय इतिहासकारों ने प्राचीन सामाजिक संगठनों का अध्ययन मार्क्सवादी दृष्टि से प्रस्तुत किया है । इनमें **एस. ए. डांगे, डी. डी. कौशाम्बी, भगवतशरण उपाध्याय, आर. एस. शर्मा** आदि विद्वान् उल्लेखनीय हैं । इन इतिहासकारों ने सामाजिक संस्था के विकास में आर्थिक तत्त्व को उत्प्रेरक एवं उत्तरदायी तत्त्व के रूप में इंगित किया है । ये विद्वान् समाज को मुख्यत: दो वर्गों में विभक्त करते हैं, उत्पादक वर्ग और उपभोक्ता वर्ग। इनका विचार है कि सामाजिक स्तरीकरण इस रूप में परिलक्षित होता है कि समाज में एक वर्ग विशेषाधिकारप्रदत्त वर्ग था । यही वर्ग आर्थिक व्यवस्था का नियन्त्रण करता था, इसीलिये सम्पूर्ण राजनीतिक शक्ति भी इसी वर्गविशेष के हाथों में निहित थी । द्वितीयत: दास अथवा श्रमिक वर्ग था । जो उत्पादक वर्ग के रूप में स्थित था; किन्तु इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि मार्क्सवादी दृष्टि सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं के सभी पक्षों का अध्ययन करने में सहायक सिद्ध नहीं हो सकती है ।

अध्ययन की विभिन्न दृष्टियों पर विचार करते समय नृतत्त्वशास्त्र के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि मानव सभ्यता के आदिम युग से लेकर आधुनिक युग तक मानव-जाति के समग्र अध्ययन का वह विज्ञान है, जिसके अन्तर्गत मनुष्य की शारीरिक विशेषताओं, सामाजिक व्यवस्था एवं सांस्कृतिक उद्भव तथा विकास का अध्ययन किया जाता है । इसकी सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि

प्राकृतिक-विज्ञान के रूप में यह एक साथ शारीरिक तथा सामाजिक विज्ञान दोनों है । इस प्रकार एक ओर इस पद्धति द्वारा मनुष्य की उत्पत्ति, विकास एवं शारीरिक संरचना का विश्लेषण किया जाता है तथा दूसरी ओर सामाजिक विज्ञान के रूप में मानवशास्त्र मनुष्य के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक संस्थाओं के विकास के विभिन्न पक्षों का विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है । मानवशास्त्रीय दृष्टि पर विचार करने पर इसके दो प्रकार दिखाई देते हैं । प्रथम प्रकार के अन्तर्गत विभिन्न मानव-प्रजातियों का शारीरिक दृष्टि से तुलनात्मक विवेचन किया जाता है । एक प्रजातीय को दूसरे प्रजातीय से उनकी खोपड़ी और नाक की बनावट, रक्त समूह, हाथ-पैर की लम्बाई, शरीर के रंग, आँखों का रंग, बाल, होठ, जबड़ों का ढाँचा आदि के आधार पर पृथक् किया जाता है । द्वितीय प्रकार के अन्तर्गत समस्त आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक संगठनों एवं संस्थाओं का अध्ययन किया जाता है, जिसके द्वारा कहा जा सकता है कि उक्त संस्थाओं का आदिम स्वरूप क्या था, जो विकास के विभिन्न सोपानों के पश्चात् वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हुए हैं ।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आधुनिक मानवशास्त्री किसी प्रजातीय विशेष के सम्बन्ध में शारीरिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से विचार करके तथा किसी अन्य समूह उनकी तुलना करते हुए एक सामान्य नियम अथवा सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि विश्लेषित प्रजातीय समुदाय के सदृश ही समस्त आदिम सामुदायिक संगठनों का विकास हुआ है; किन्तु किसी समूह विशेष के आधार पर मानव-सभ्यता के सम्पूर्ण विकास को रेखांकित करना उचित प्रतीत नहीं होता ।

उपर्युक्त अध्ययन पद्धतियों का विश्लेषण करने के पश्चात् संक्षेप में कहा जा सकता है कि इन सभी पद्धतियों की यदि कुछ विशेषतायें हैं, तो कुछ सीमायें भी हैं। इनके द्वारा प्राचीन सामुदायिक संगठनों के सर्वांगीण स्वरूप का प्रकाशन नहीं हो सकता; किन्तु विद्वानों ने समय-समय पर उनका प्रयोग करके प्राचीन मानवीय संगठनों के विभिन्न स्वरूपों को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है ।



सामाजिक दृष्टि से भारतीय संस्कृति का महत्त्व

डॉ० मीनालाल*

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसका जीवन समाज से ही अनुप्राणित है, विशेष रूप से भारतीय संस्कृति के परिवेश में तो यह पूर्णतः चरितार्थ होता है। जहाँ व्यष्टि और समष्टि की दोनों धारायें एक में मिलकर समीकृत हो गई हैं, अर्थात् व्यक्ति के अभाव में समाज की परिकल्पना नहीं हो सकती और समाज के अभाव में व्यक्ति की । इसीलिये महाभारतकार ने लिखा था कि सृष्टि का सबसे गुह्य रहस्य तुमको बता रहा हूँ कि मनुष्य से श्रेष्ठ इस पृथ्वी पर कुछ भी नहीं है,सच भी है ब्रह्म की सृष्टि में मनुष्य से बढ़कर कोई दूसरी उत्कृष्ट रचना नहीं हुई और संसार में जितने भी भोग्य पदार्थ हैं, वे सब मनुष्य के लिये ही हैं, मनुष्य का एक निश्चित भू–भाग पर निवास, उसके जीवन से जुड़ी हुई सभी धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक मान्यतायें और क्रियाओं ने विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं का निर्माण किया, जिससे संसार में विविध प्रकार की मानवीय संस्कृतियाँ उत्पन्न हुईं । प्राकृतिक सीमाओं से घिरे हुये विभिन्न भू–भागों के कारण विभिन्न संस्कृतियों के रहन–सहन, आचार–विचार, सामाजिक अनुबन्ध एवं जीवन-मूल्यों में विभिन्नता आई, जो स्वाभविक भी थी। इसी कारण विश्व में संस्कृतियों के अनेक मानक प्रस्तुत हुए । भारतीय संस्कृति की कुछ खास अपनी विशेषतायें हैं, जो अन्य संस्कृतियों में नहीं मिलतीं । सामाजिक दृष्टि से मनुष्य और समाज का सम्बन्ध और उसका ध्रुवीकरण सामंजस्य की भावना पर आधारित था । अर्थात् समाज और समाज की व्यष्टिगत इकाई मनुष्य में मौलिक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं समझा गया। व्यक्ति समाज की सबसे छोटी इकाई है, जो एक–एक मिल करके समाज की संरचना प्रस्तुत करती है । भारतीय मनीषियों के सामने व्यष्टि और समष्टि इन दोनों

---

* प्रवक्ता– प्रा०भा० इतिहास एव संस्कृति, महिला महा०, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

के समन्वयात्मक रूप का आदर्श बराबर दृष्टिगत रहा है । इसीलिये व्यक्ति और समाज इन दोनों की समुचित समुन्नति के लिये उन्होंने दोनों के अधिकार और कर्तव्य की सीमाएँ निर्धारित कर दीं और इसके लिये विभिन्न आचार-संहिताओं का प्रणयन किया। यहाँ समाज को ईश्वर का रूप माना गया और व्यक्ति भी परमात्मा का एक अंश माना गया, जो इस समस्त सत्ता के निर्माण का एक घटक सिद्ध हुआ, इसलिये इन दोनों में किसी प्रकार की विकृति सांस्कृतिक दृष्टि से अपराध मानी गयी है और यह कहा गया है कि परमात्मा ही यह संसार है और यह सारा संसार ही परमात्मा है, और तब व्यक्ति के जीवन का जो उद्देश्य है, उसे चार भागों में बाँट दिया गया, जिन्हें हम पुरुषार्थों की संज्ञा देते हैं । भारतीय संस्कृति में एकांगिता कभी नहीं रही है । इसलिये उसमें भौतिकता के साथ आध्यात्मिकता का पुट लगा हुआ है। संसार को (समाज को) एकदम छोड़ देना अथवा उसमें एकदम रम जाना, ये दोनों ही विचारधारायें अपने आप में अपूर्ण हैं, इसीलिये समाज में आश्रम और पुरुषार्थों की व्यवस्था की गई, साथ ही वर्ण-व्यवस्था भी कायम की गई, जिसका सीधा सम्बन्ध भी सामाजिक परिपूर्णता से था। पुरुषार्थ चार हैं– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । प्राचीन भारतीय साक्ष्यों में धर्म का अर्थ बड़ा व्यापक है। पुरुषार्थों के सन्दर्भ में इसका तात्पर्य विहित आचरण करने से है । इस प्रकार धर्म के अन्तर्गत वर्णाश्रम, धर्म-न्याय, सदाचार, नैतिकता और परकल्याण की भावना इत्यादि का समावेश है । अर्थ-पुरुषार्थ का तात्पर्य सांसारिक उपलब्धियों से है । अर्थोपार्जन या इन उपलब्धियों की सार्थकता तभी है, जबकि इनकी प्राप्ति न्यायोचित साधनों से की गई हो और उनके द्वारा दूसरों की भलाई की जाय । अर्थात् अर्थप्राप्ति के समय भी धर्म की ओर उचित ध्यान देना अभीष्ट माना गया है । काम शब्द का सामान्यत: प्रचलित अर्थ वैवाहिक सुख से सम्बन्धित इच्छायें हैं । पुरुषार्थ के रूप में काम का अर्थ विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति करना है । यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन भारतीय विचारक मनुष्य के स्वभाव से भलीभाँति परिचित थे और यह मानते थे कि अतृप्त इच्छायें मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में बाधक होती हैं । मोक्ष का तात्पर्य पुनर्जन्म और पुनर्मृत्यु के बन्धन से छुटकारा पाने से है । धर्म,अर्थ और काम का यथोचित पालन मोक्ष की प्राप्ति करवाता है ।

इन पुरुषार्थों में काम और अर्थ भौतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं और इनकी अतिकारिता रोकने के लिये धर्म की परिकल्पना की गई । इन तीनों की परिपक्वता के बाद मोक्ष की साधना शुरू होती है और व्यक्ति अपने हर प्रकार के उद्देश्यों की

प्राप्ति कर जीवन का (जन्म-मरण से मुक्त होकर) अन्तिम उद्देश्य प्राप्त करता है। यही भारतीय संस्कृति की मूल विशेषता रही है, जिसमें व्यक्ति नैतिक आचारनिष्ठ जीवन व्यतीत करता हुआ अपने निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करता था । इस दृष्टि से उसका जीवन एक नियत सरणी में बँधा हुआ था, जिसका जन्म से मृत्यु पर्यन्त हर क्षण नियत था ।

व्यक्ति की समुचित उन्नति के लिये आश्रमों की व्यवस्था की गई । आश्रम चार हैं— ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम । आश्रमधर्म का तात्पर्य इन चारों के लिये विहित विभिन्न धर्मों से है । पहले आश्रम (ब्रह्मचर्य) में मनुष्य इन्द्रिय-संयम का अभ्यास करता हुआ विद्या प्राप्त करता था । शिक्षा समाप्ति के पश्चात् विवाह संस्कार के साथ वह दूसरे आश्रम (गृहस्थाश्रम) में प्रवेश करता था। तीसरे आश्रम (वानप्रस्थ) में वह अपनी आवश्यकताओं को सीमित करता हुआ वन की ओर प्रस्थान करता था । चौथा आश्रम (संन्यास) पूर्ण त्याग की अवस्था थी ।

इसलिये भारतीय संस्कृति विश्व की अन्य संस्कृतियों में सबसे विलक्षण है, जहाँ जीवन को एक समग्र दृष्टि प्रदान की गई और इस समग्रता की रक्षा के लिये भोगवादिता और उसका त्याग । इन दोनों चरम बिन्दुवों को पुरुषार्थों के माध्यम से जोड़कर पूर्णता के बिन्दु पर स्थापित किया गया, जहाँ इसी जीवन में व्यक्ति सांसारिक भोगों का उपभोग करता हुआ, अन्त में इनसे निर्लिप्त होता हुआ, जरा–मरण, दु:ख, व्याधि आदि भौतिक अपचारों से मुक्त हो जाता है । इन्हीं सरणियों में कसा हुआ भारतीय व्यक्ति का जीवन नियमित ढंग से जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त अबाधगति से चलता रहता था । इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अनेक सामाजिक नियामक बिन्दुवों का स्थिरीकरण किया गया, जिसके लिये भारतीय सामाजिक वर्ण–व्यवस्था कायम की गई, जिसका उद्देश्य पारस्परिक मनोमालिन्यता से हटकर सामंजस्य की भावना तथा व्यक्ति के गुण और कर्म के ऊपर आधारित थी । वर्ण चार थे – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र । जो लोग धर्म की व्यवस्था को जानते थे, कर्मकाण्ड और यज्ञानुष्ठान में पारंगत थे और दान ग्रहण करते थे, वे ब्राह्मण कहलाये । जो युद्ध करते थे, भूमि के स्वामी थे और राजनीति में अधिकार के साथ सक्रिय भाग लेते थे, वे क्षत्रिय हुए। जो वणिक्, कृषक और शिल्पी थे, वैश्य कहलाये और ऊपर के तीन वर्णों की सेवा का कार्य करने वाले शूद्र कहे गये ।

भले ही बाद के ऐतिहासिक युगों में इस अवस्था का उद्देश्य न समझने के कारण समाज इससे लाभान्वित नहीं हुआ और इसकी विकृतियों से पीड़ित हुआ; किन्तु इसका उद्देश्य बड़ा पवित्र था एवं इसका लाभ भी भारतीयों को मिला। यद्यपि आधुनिक राजनैतिक अथवा धार्मिक परिवेश में इसका दुरुपयोग किया गया हो, जो समाज के निजी स्वार्थ के कारण उद्भव हुआ हो; परन्तु यह सच है कि लगभग पाँच हजार वर्षों तक भारतीय वर्ण–व्यवस्था भारतवर्ष की सामाजिक धुरीकरण की धुरी रही है और आज भी किसी न किसी रूप में समाज में विद्यमान है ।

समाज और व्यक्ति इन दोनों घटकों को नियमित करने के लिये भारतीय मनीषियों ने राज्यसंस्था की व्यवस्था की, जो इन दोनों की नियामक थी; क्योंकि सामाजिक विकृतियों के कारण समाज में मात्स्यन्याय और अन्य विकृतियों की सम्भावनाओं से उत्पन्न बुराइयों का निराकरण करने के लिये राजसत्ता से अतिरिक्त अन्य कोई दूसरी संस्था हो ही नहीं सकती थी और यहीं समाज में राज्य की उत्पत्ति और राजसंस्था का उदय हुआ ।

भारतीय संस्कृति में राज्य का महत्त्व प्रारम्भ से ही रहा है, जो उसके नियामक तत्त्वों की सुरक्षा में प्रधान कारण रहा है और इसीलिये राजा ईश्वर का स्वरूप माना गया, जिसकी आज्ञाओं का निषेध व्यक्ति और समाज दोनों के लिये दण्डनीय था; परन्तु राजा भी सामाजिक अनुबन्धों से जुड़ा हुआ था, जिसकी सुरक्षा उसका प्रधान दायित्व था । सामाजिक संस्था को बाह्य और आन्तरिक उत्पीड़नों से बचाना उसका प्रधान कर्तव्य था, जिसके सहयोग से भारतीय संस्कृति कभी सुरक्षित और कभी विकृत भी हुई है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थों की सिद्धि, व्यक्ति का सर्वोत्कृष्ट विकास और इन उद्देश्यों की सिद्धि के लिये भारतीय समाज की सुरक्षा का अद्भुत सामंजस्य एक साथ समन्वित होकर प्रस्तुत हुआ है । जिसमें अनेक जाति, धर्म, आचार आदि की विभिन्नता परिलक्षित होती है । हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक का भू–भाग राजनैतिक दृष्टि से भले ही समय की सीमाओं में बँधकर अलग–अलग परिभाषित होता हो; किन्तु धार्मिक सूत्रों से बँधा हुआ वह आज तक सम्पूर्ण भारतवर्ष को एकसूत्रता में पिरोये हुए है और यही भारत की मौलिक एकता है, जो संसार में अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई पड़ती ।



Probing Historical Basis of Mythological Expositions of Early Kosalan Settlements

*Dr. Mahesh Vikram Singh**

The early history of Kosala and the whole panorama of literature developed around it in the later ages pose one of the biggest riddle in history of India. Whether it were the actual happenings or course of events which remained in the memories of people to be inscribed or translated into corresponding literature in later ages with partial or full accuracy or it was a coincidence of some events and circumstances which gave impetus to such imaginations to be put into such poetic forms of mythological making. One must thank Parziter[1] and some others[2] who argued to give some credence to the Purāṇic records for the reconstruction of early Indian history which were otherwise totally dismissed as mere fables by scholars like Weber[3] and others. This also gave confidence to those who were willingly ready to accept as true as much is possible in the traditions.[4] It made Kosala a pivotal centre for restructuring the history of pre-Buddhist India on the basis of Purāṇas and the great epic Rāmāyaṇa supplemented also by the other epic Mahābhārata and the like traditions presented in the Plays, Poetry and the Stories.

According to the tradition, the history of India is believed to have started with Manu Vaivaśvạta whose son Ichchhavāku posted himself in Kosala to begin the line of the solar dynasty of kṣatriya

* Professor,Department of History, M.G. Kashi Vidyapeeth, Varanasi (U.P.)

Ichchhavāku kings of Kosala which runs down to about 102 kings ending with more historically known king Prasenjit, a contemporary of Buddha, and a few of his successors to be finally overtaken by Magadhan imperialism under Mahāpadmananda by the 4th Cen. B.C[5]. Given all the excuses for some overlapping of names here and there in the genealogical lists provided by different Purāṇas and supplemented by the epics, Parziter and many other have settled the date of the 'Bhārata war' in the middle of the 10th cen. B.C. i.e. 950 B.C.[6] which falls during the time of Brihadbala as the king of Kosala coming at number 76 in the list of Kosalan Ichchhavakus from Manu.[7] This takes the history of Kosala at least sixteen centuries earlier to it counting an average period of 18-20 years for each king and thus the beginning of the Kosalan dynasty will have to be dated from about 26th or 27th century B.C. in which Rāma appearing at number 61[8] in the genealogy may be dated to 14th-15th century B.C.. Further, following the line of the Purāṇas and the epics one may also believe that even before the rise of Magadhan empire and its sway over almost whole of the Jambudvīpa under the Mauryas, this land had already seen an empire under the Kosalan kings, among whom a good many happened to be chakravartins performing a number of Aśvamedh and other great Vedic sacrifices, protecting the brāhmaṇ seers and priests from demons viz. Rākṣasas, Asuras, Daityas and Dasyus, promoting the varṇāśrama dharma and taking the Vedic culture alaround the jambudvīpa or Āryāvarta under their victorious campaigns with Ayodhya and later Śrāvasti as their seat of power.[9]

Should we admit such narratives and classics composed in the post-Vedic times with enough mixing of their contemporaneous or other post-Vedic references in the main body of events without any testimony of the facts gathered from the Vedic literature of the same tradition which

is supposed to have been composed during those very times of which the narratives claim to belong to and should we set aside the circumstantial and archaeological evidences showing a contradictory state of things is the basic question to be pondered over first. And secondly, it does also require us to find appropriate reasons for the narratives having been related to the Ichchhavākus and Kosala as their seat of power if the actual Kosalan history does not fit into the accounts of these narratives for want of supporting evidences and that particularly with the case of Rāma who became an avatāra of Viṣṇu for the Hindus for all time to come.

Those scholars who are inclined to believe in the Purāṇic conception of Indian history or traditions have been approaching the problem from various counter positions. While some have been speculating about a very early date of the origin of the Vedic culture, say about 4th millennium B.C.. on the basis of references to positions of stars and planets or constellations in the epics as well as on the mention of a very early date of Bhārata war in the Aihole Inscription of a very late date i.e., of 634 A.D,[10] some others have been arguing for quite an early date of composition of the whole corpus of Vedic literature supposing at the same time loss or unavailability of a bulk of that in due course of time for reasons more than one.[11] Some others have even been pondering over the relationship of Indus valley civilization with the Vedic Aryan culture and civilization and have been suggesting both of them as belonging to one and the same people advancing many arguments in its support such as the contermination of space and time and discovery of horse and sacrificial altars at some Harappan civilization sites. etc.[12] Recently Prof. S.R. Rao has even claimed to have read some Vedic names and terms also in the Harappan script.[13] A few have also

followed the theory of disappearance and reappearance of old river Saraswati in the Rajasthan desert for more than once and have suggested the composition of Rigvedic hymns on the banks of this river at an earlier-stage of its existence etc.[14] Some may even be inclined to believe in the theory of 'Khaṇḍa pralaya' as responsible for evaporation of all the subsequent material evidences for answering the non-availability of appropriate material finds in the interregnum between the developed state of Indus civilization and 6th cen. B.C. material culture.

In our present state of knowledge we may either accept or reject or even go on debating the concept of Indo-Aryan emigration and Aryan and Dravidian racial divide at the early stage of Vedic formations but there can be no denial of the fact that the whole of the Indus valley civilization stands out independent of the Vedic stream and could hardly be put into the chronological frame if we consider the date of the origin of the Vedic culture or even Rigvedic period anterior to it[15]. Even after pushing back the total period of Indus civilization to earliest limits i.e. in and around 4th to 3rd millennium B.C.[16] there can be found no match with the people of Aśvamedha culture and predominantly sacrificial character of the Vedic Aryans with that of the Indus valley civilization in which both horse and sacrificial altars are wanting in its full length and breadth in the real sense of things[17] and demanding so much of mind twisting to prove anything contrary to that. Further as we know, the nature of the subsequent development in the later Vedic times, as can be depicted from its contemporary literature, markedly show a progress of Vedic Aryans from a pastoral to agricultural economy as well as the social formations from the state of band, tribe and chiefdom forms respectively to a finally stratified society.[18] There can be hardly any depth in the argument that the Vedic literature refers to the rural-

village groups in the main which forms the other part of the same urban Indus civilization. It is foolish to think about the Vedic literature as a product of materially underdeveloped or rural resource folks of one and the same well developed urban civilization whose script is yet to be deciphered and has no continuity in whatsoever form in the posterity or the Vedic literature. Again, the later Vedic literature is quite indicative of a east-ward and southward march of the centres of Vedic culture which is more logically supported by the archaeological evidences related to its real material forms connected with the emergence and spread of PGW and NBP wares in the corresponding areas in their proper chronological sequence in the 2nd half of the 2nd millennium B.C. and the Ist millennium B.C.[19] Whereas the Indus valley civilization ending at any point of time no later then the first half of the 2nd millennium B.C. confines itself to the westernmost area of present U.P. in all its geographical probabilities and has nothing to do atleast with the Purāṇic Kosalan history or settlements if the latter is believed to be true partially or fully.

Depending upon the testimony of the Pre-Buddha or Vedic literature as well as on the archaeological information corroborated by sources and notices outside India the history of Vedic Aryans or Indo-Aryans begins from the north-western or Punjab region of India and in any case after the fall of the Indus valley civilization in and around first quarter of the 2nd millenium B.C.[20] Its nucleus seems to be shifting from Punjab to Kuru-Pānchāla region in the later Vedic period from about 11th-10th Cen. B.C. and from there onward it expands eastward so as to cover the mid-Ganjetic plains and Himalayan foot-hills and southward to cover Rajasthan, Gujrat, Malwas and perhaps also upper Godavari region by 6th Cen. B.C. to enter into a more pronounced

period of the sixteen Mahājanpadas. As far as our present knowledge about the nature of settlements in the Kosalan region in the pre-Buddhist period permits us to maintain is that no pre-6th Cen. B.C. PGW-NBP or any developed structures have been found underneath till now[21] and in any case the state of civilization in Kosalan region seems to be posterior to that of the Kuru-Pānchāla complex. Although we find mention of Kosala in Śatapatha and Aitareya Brāhamaṇas and that also of Ayodhya as the capital of Kosala in the Atharvaveda which quite understandably refers to situations in the last phase of Vedic period immediately before the age of Buddha. Excavations at the major early Kosalan sites like Ayodhyā and Śrāvasti have clearly shown that no cultural sequences can be dated back to pre-6th Cen. B.C. and it is only at Kosambi and Śringaverapur near Allahabad, where some signs of pre-6th Cen. B.C. settlements i.e. of about 8th Cen. B.C. and 10th to 11th Cen. B.C. respectively are available[22] to indicate some isolated expansion of the Vedic people to this eastern region so early or contemporaneous to the Kuru-Panchāla complex.

However, one can not totally reject the name of certain 'rishis' and kings as ahistorical which find place in the Kosalan genealogy provided by the Purāṇas or those occurring in the epics composed in the Buddha period because a number of them also occur here and there in different contexts in the contemporary Vedic literature as well,[23] of course, in a different geographical setting, to say in the northern Punjab and other westward areas. But for those names which occur in post-Bhārata war list, neither of the great or celebrated kings including Daśaratha and Rāma of the Pre-Bhārata war list have any sequence of being Kosalan kings recorded by the Purāṇas nor the deeds attributed to them have anything to do with regard to Kosalan kingdom, let alone their hyperbolic

achievements of being a chakravartin and the lord of the whole land etc. .This makes us to dismiss the whole narrative about the Kosalan Ichchhavākus of the pre-Bhārata war as fictitious or imaginary. The most one can gather as of real historical value from it is the reference to certain Vedic kings and 'rishis' who seems to have gained importance for overpowering or subdueing the demons and for setting the values of Aryan culture[24] so as to remain in the memory of the later generations besides a few names of post-Bhārata-war kings like Hiraṇyanābha and Prasenjit who did make the history of Kosala real from the time of their existence from about 6th century B.C..

II

It would be certainly fascinating to learn what made the Ichchhavākus and particularly Rāma the hero of Hindu or Brāhmaṇical believers and what made Kosala to be conceived as their seat of power. We may atleast know about Trasadasyu and Sudasa who occur at no. 21 and 50 respectively in the Purāṇic genealogy of Kosalan kings also as two celebrated kings of Bharata Jana (clan) in the Rigveda[25] and the latter in the Rigveda is connected with the famous 'dasarājña yuddha' (the battle of ten kings) fought at the bank of Parushṇi (i.e. Rāvī)[26]. The pretext of this war in the Rigveda is the appointment of Vasishtha as the royal priest of king Sudasa in the place of Viśvāmitra, who being disgraced organised a group of ten kings (five Aryan and five non-Aryan) to fight against Sudāsa. In the Rigveda Viśvāmitra is said to be originally a Rājanya of kusija kula (family) of the same Bharata jana to which king Sudāsa is belonging to be of Tritsuta kula, whereas Vasishtha is known to be a progeny of a brāhmaṇa. The victory of Sudāsa in this battle does not only make him a hero among the Aryan Janas but presumably also

becomes the reason for naming the land under his sway as 'Bhārata' which eventually becomes the name of the whole land in later times when the cultural trends initiated by this clan spreaded over the whole of this land under the leadership and patronage of later kings, as one should not also loose sight of the cultural significance of the victory and defeat in this battle. The later traditions tell us about the ensueing feud between rishi Viśvāmitra and rishi Vasishtha in which the latter is always shown as the royal priest of the kings of Ayodhya and the former claiming for this post on the basis of the priestly qualities attained by his rigorous austerities but failing on the account of being of kṣatriya origin as against Vasishtha who is said to be of brāhmaṇa origin[27]. During the course of this struggle we are also told about Viśvāmitra's efforts of creating a parallel world. The feud, however, concludes in the later traditions by agreeing to the theory of the superiority of birth over the 'karma' in the final analysis which may signify the most important cultural and ethical question underlining this struggle being settled in the favour of caste-lineage as against the virtues and karma.[26] This may be assumed as to have become a reason for Sudāsa, the early patron of this trend for finding a place in the genealogy of the Ichchhavākus of Kosalan kings of the Purāṇas who are unmistakeningly projected as great patron of this Brāhmaṇical Culture.[29]

The historicity of Rāma and his connection with Kosala is another important question arising out of the contradictions in the traditional notion and actual state of things perceived from historical data. The story of Rāma is mainly a story of the Aryan victory over the non-Aryan demons, the Rākṣasa king Rāvaṇa and his supporters. The cause of battle in the story is the abduction of Sītā by Rāvaṇa, and the Vānarās, another non-Aryan tribe, is also depicted as being won over to the side of Rāma

before settling the scores with the Rākṣasas.[30] But from historical stand point, taking the geographical area of the whole episode into account, it does not seem probable that any historical entity like Rāma could have really belonged to that very Kosalan region and have marched upto modern SriLanka in the pre-Bhārata war age when that region fails to produce even an iota of developed civilization, not to say of the Aryan expansion to that region and beyond by that time. If the story of Rāma has any historical significance and in any case was over before the Bhārata-war, it leaves us to ponder over some region in the north-west, i.e. beyond Kuru-Pānchāla complex, as the original place and also an early Vedic stage of the Aryan culture as can be depicted from the Rigveda for the whole episode. We all agree atleast to the gradual enlargement and mixing of interpolations in original piece of Rāmāyaṇa from time of its composition in the later periods itself[31] and it would not be totally impossible to consider that the story of Rāma may have been a symbolised, expanded and personified version of the actual events connected with the early days of Ārya-Rākṣasa/Asura conflicts, particularly considering different versions of Rāma's story found in different traditions like Buddhist and others. It is interesting to remember that Rāma is either a noble or king or a synonym of the great god Indra in the Rigveda[32] who is master of rain and dasyuhantā,[33] destroyer of enemies presumably non-Āryans. While god Indra is conceived as carrying his seven-coloured bow, Rāma of the Rāmāyaṇa is also a great archer who succeeds in breaking the 'Śiva-dhanusha' (the benefected bow of God Śiva) to marry Sītā. Sītā in the Rigveda is the term for furrow[34] connected with agriculture and in the Rāmāyaṇa as well Sītā originates from plough-land and disappears in the land at the end. As the Rāmāyaṇa also tells us that the very 'Śiva-dhanusha' placed for the

'svayamvara' orginally belonged to Rāvaṇa, who had received it as a boon from lord Śiva, easily the great god of the non-Aryans, Rāmā's breaking of Śiva-dhanusha for winning over Sītā in the Rāmāyana may also symbolise taking over of agriculture, originally a non-Aryan mode of living by defeating or destroying the weapons or defences of the non-Aryans. The Brāhmaṇa literature of the Vedic period clearly says that both the Devas and Asuras were the creation of Prajāpati. While the Devas took 'vāṇī' (speech) as their boon, the Asuras occupied the land and finally with the strength of 'vāṇī' the Devas also succeeded in taking over the land from the Asuras. To this we may also add speculations about the existence of the popular places and rivers of the Kosalan tradition eg. Ayodhya and Sarayu, originally in north Punjab or in the viccinity of Afghanistan with names like Harayu etc. as suggested by some scholars[35] and which is not an improbable proposition considering the practice of adoption of the names of earlier places etc. for new places signifying some cultural affinity of the people concerned, of the same or different periods of time.

Now coming to the question of reasoning with Kosala being conceived as the centre of the lchchhavāku kings, as the great upholder of Vedic-Brāhmaṇic culture and its values in the later traditions, we may gather some clues in this regard from the more established events and conceptions of history. Firstly, it can well be derived from the contemporary Brāhmaṇical literature that with the eastward expansion of the Vedic Brāhmaṇa culture during the later Vedic times, Kosala seems to had become the last frontier of relatively pure Vedic practices, because the regions beyond it are referred to as of mixed origin in the Baudhayana Dharmasūtra[36], considered to have been composed in 5th-4th cen B.C. According to it, Adarśan or Vinaśana (the point of the disappearance of

Saraswati river in Punjab) in the west, Kalaka Vana (Rajmahal hills or black mountain in Bihar) in the east, Himalaya in the north and Pariyātra or Paripātra (Vindhyas) in the south formed the boundaries of Āryāvarta, but the regions of Avanti, Anga, Magadha, Surashtra, Dakshiṇāpatha, Upavrita, Sindha and Sauvira were of mixed origin. Though the boundaries of Āryāvarta go on expanding in the subsequent dharmaśāstras ie. Manu Smriti[37] and Vishṇu Dharmasūtra[38], but for tracing the seat of Vedic Brāhmaṇa culture at a very late point of time, Kosala seems to had left enough historical memory so as to be cônnected with earlier events occurred in whatever form and at whatever place in the remote past.

It is quite known from both Brāhmaṇical and Buddhist literature that Kosala figured as one of the most important Mahājanapadas in the 6th cen. B.C. ruled by Prasenjit, a contemporary of Buddha, said to be of Ichchhavāku kṣatriya dynasty of kings. The Kosalan cities Śrāvasti, Ayodhyā, Sāketa, Kapilavastu, Setavya, Rāmagrāma, Pippalivana, Kuśinārā, Pāvā, Devadaha and some minor towns named Ichchhanangala, Ukkaṭṭha, Ekasālā, Opasāda, Nagaravinda, Sālavatika, Mandalakappa etc. were profusely referred to in the Buddhist literature of the period[39] which naturally give shine to the region. It is important to note here that the cities in the foothills of Himalaya incorporated into the Kosalan region belonged mainly to the Gaṇa kṣatriyas (republics) including, of course, the Śākyas, Koliyas, Mallas, Kalamas and Moriyas who were autonomous clans in their own right maintaining difference in the forms of polity and the social organization of the plains of Kosala patronized by Kosalan kings. Most of the towns named in the plains i.e. in the area of actual control of the Kosalan ruler show a predominant brāhmaṇa habitation or are being offered as grants to some learned

brāhmaṇa teacher or priests by the king. So we find Ichchhanangala [40] as a village of kosabu brāhmaṇas. Another brāhmaṇa village named Ukkatthā[41] is known for a famous brāhmaṇa scholar Pauṣkarasati who is said to be master of all the income, plenty and prosperity of that village conferred on him by Prasenjit[42]. So are the villages Ekasāla and Opasāda[43], the latter belonging to another famous brāhmaṇa Chanki who was offered the income of the village by Prasenjit as a gift. Nagaravinda is another village of the brāhmaṇas in Kosala[44] and the great brāhmaṇa scholar Lohickha is said to be the master of the village Sālavatika[45] which was gifted to him by the Kosalan king Prasenjit for his subsistence. Then we also hear about Maṇḍalakappa[46] known for the residence of brāhmaṇa woman disciple of Buddha named Dhañajāni. It is again curious to explain that in his sojourn in Kosalan region Buddha is commonly referred to as visiting the brāhmaṇa villages in the countryside, whereas he is received by setthis in the major cities like Śrāvasti. It somewhat shows a domination of brāhmaṇa habitation in the Kosalan region and the king Prasenjit is not only shown as offering gifts of village etc. quite frequently to the brāhmaṇa āchāryās and priests but as also engaged in organising big sacrifices[47]. Prasenjit's respect for the great preacher of his times Buddha and somewhat special favours given to him at occasions[48] do tell us about the enlightened and accommodative behaviour of this great king but it does not preclude his own affinity to Brāhmaṇical religion and practices which remained his religion althrough his life[49]. One must also note that offering gift to brāhmaṇas was not unknown to other regions, specially Magadha[50] which was predominantly a non-Vedic region[51], but the case seems to be just reverse as we may infer that while Kosala being predominantly a Brāhmaṇical region and its king Prasenjit acknowledging the tide of time offers his

respect to Buddha and the Samgha showing the wisdom of his polity, the kings of Magadha appear to be enlightened enough to oblige the brāhmaṇas also to uphold a balance in their social polity in their own land of heterodox leanings. This point is further proved by the references to the eastern brāhamaṇas as Satakulika or low grade brāhmaṇas and those to the northern brāhmaṇas as Uddichha or high brāhmaṇas in respect of origin and deeds in the contemporary Buddhist literature[52] Paṇiṇi also calls the brāhmaṇas of north as 'pure' brāhmaṇas[53]... And in the present context one should not fail to include Kosala also in the northern region. The Satakulikas of Jātakas can also be taken as the Sarayupariyans of the later ages who lay beyond the eastern boundaries of Kosala.

Further, we notice that king Prasenjit is complaining to Buddha about some disagreement prevailing among the ministers of his court[54] and we also hear about one of his ministers named Kala objecting to enormous offerings to the Buddhist saṁgha[55] which may be indicative of the displeasure of brāhmaṇas in regard to the secular policy of this enlightened king. Soon we also know about overthrowing of Prasenjit by his own son Vidudabha said to be under the influence of his brāhmaṇa ministers and annihiliation of the Śakyas of Kapilavastu as a whole[56] Whatever might have been the pretext of this heinous event, one thing becomes quite clear that the successor of Prasenjit did not carry any further the enlightened policy of his predecessor and eventually failed to enhance or preserve the power of Kosala in the face of growing Magadhan imperialism armed with all the required socio-political zeal for an empire building. We may here refer to the Purāṇas who include Kosala as well, of course with the name Ichchhavākus, in the list of janas or vaṁsas overpowered by the Magadhan king Mahạpadmananda to conclude their own history of Kosala.

Lastly, it may also be assumed that with these memories of the historical Ichchhavākus of Kosala of 6th-4th centuries B.C. the composers of such portions of epics and the early Purāṇas including as well the Raghuvaṁśa of the great poet Kālidāsa which were composed after passing away of the Mauryan empire, were bound to be fascinated by the happenings of their own times i.e. of post Maurya and particularly those of Gupta times, when not only the importance of Kosalan region seems to had been re-established but the total horizon of political and socio-religious activities of the Vedic-Brāhmaṇa culture had expanded far and wide. Firstly, it were the brāhmaṇa Śungas, the overthrowers of the Mauryas, who succeeded in retrieving Sāketa or Ayodhya from the hands of Mlechhas[58], the Bactrian Greeks, and making it again an important political and cultural centre and later it were the great Guptas who seems to have made the triangle of Ayodhya/Sāketa, Sarnath and Prayaga as their centre of gravity[59] for beholding the 'varṇāśrama dharma', proclaiming themselves to be great bhāgavatas and taking the flag of brāhmaṇical culture to various hinterlands, to south and even to the south east island countries including ŚriLanka. Thus this historical importance of Kosala for the Brāhmaṇical tradition and culture added with the new fervour of 'brāhmaṇized bhakti cults' by that time protected and encouraged by favourable political powers seems to have become the major source of inspiration of the Purāṇas and such literature which put Ichchhavākus and the Kosala on the map of traditional history of India.

References

1. Pargiter, F.E., Ancient Indian Historical Traditions, Oxford University Press, London, 1922; Motilal Banarasidas, New Delhi

1962; The Purana Texts of the Dynasties of the Kali Age, Oxford University Press, 1913.

2. D.R. Mankad, Puranic Chronology, Anand, 1951.

3. Weber, History of Indian Literature, English Translation by John Munn, Trubner & Co.. London. 1904.

4. Lala Sitaram, Ayodhyā Kā Itihāsa (Hindi), Hindustani Academy, Allahabad, 1932; Vishuddhananda Pathak, History of Kosala, Motilal Banarasidas, Varanasi, 1983; S.N. Pradhan, Chronology of Ancient India, Calcutta University. 1927.

5. Brahmāṇḍa Purāṇa, III, 63.8.214; Vāyu P.88-213. Matsya P. 12. 25-57; Viṣṇu P.IV, Chs. 2-4; Brahma Purāṇa, Chs 7&8; Bhāgavata P. IX. 12.8.

6. Ancient Indian Historical Traditions, pp. 179-183.

7. Bhāgavata Purāṇa, IX. 12.8; Viṣiṇu, P. IV 4.112.

8. See foot note 5 above.

9. See V. Pathak, History of Kosala, pp. 115 ff.

10. A.D. Pusalkar, The Vedic Age, 1951, p. 272.

11. K.C. Verma, The Aryans, the Veda and the Kaliyuga Era of 3102 B.C., Varanasi, 1984.

12-14. S.P. Gupta, 'Manthan', Vol, XV. 4-XVI-1, Oct. 94-March, 1995, pp. 79-98; The 'Lost' Sarasvati and the Indus civilization, Jodhpur, 1995, p.180-201, and other articles in 'Manthan'; S. Rajaram Navaratna, The politics of History, N. Delhi, 1995; Keonraad Elst, Indigenous Aryans, N.Delhi, 1993; David frawley, The Myth of the Aryan Invasion, 1994; T.P. Verma, Aryoṅ Kā Ādidleśa Bhārata, Viśvadṛṣṭi: Dr. Sampurṅananda Smriti Grantha, Varanasi, 1993, pp. 720-32; Harshanarayana, 'Āryoñ Kā Mūlasthāna, ibid, pp. 733-43; Lakshman Sarup,

Indian Culture, IV. pp. 149-69; A.D. Pusalkar, ABORI. XVII. pt. 4, pp. 385-95; S.V. Venkateshwar, The Cultural Heritage of India, III. pp. 53-63 besides M.M. Ganganath Jha in D.R. Bhandarkar commemoration volume, pp. 1-2; D.S. Triveda, ABORI. XX. pp. 48 ff; L.d. Kalla, POC, VI. pp. 723-24; K.M. Munshi, The Glory that was Gurjardesa, I, Sec. II; Sampurnananda, Āryon Kā Ādidēśa, Allahabad, V.S. 2003.

15-16. Pt. K.C. Chattopadhyaya has refuted all the arguments put forward in the favour of Vedic Aryans being the auther of Indus Civilization. See. Studies in Vedic and Indo-Iranian Religion and Literature, II. ed. by Vidya Niwas Mishra, Varanasi, 1978, pp. 41-49.

17. Ram Sharan Sharma, Ārya Sanskriti Kī Khoja, N. Delhi, 1995.

18. R.S. Sharma, 'Material Culture & Social Formations in Ancient India, McMillan, 1983.

19. Ibid.

20. References to 'Boghaz koi' in Asia Minor, Al-Amarna in Syria and the dating of Zend-Avesta and Rigveda can not easily be shirked aside.

21. See R.S. Sharma, Material Culture.... p. 106 and others.

22. See Indian Archaeology: A Review. Vol.....

23-24. Mention of Sudāsa, Rāma, Ichchhavāku, Māndhātā, Trasadasyu & Purukutsa in Rigveda and other important kings in the later Vedic literature like Śatpatha Brāhmaṇa etc. 'Hiraṇyanābha Kausalya as a reputed sacrificer-Śatpatha Brāhmaṇa, V.4.4; Śankhyāyana Srauta Sūtīa, XVI. 9.13; Taittirīya Saṁhītā, V. 6.5.3; Kāthaka Saṁhitā, XXII. 3; Panchaviṁsha Brāhmaṇa, XXV. 16.3; See Vedic Index, Macdonell & Keith, Vol . I. p. 190. See also V. Pathak, op cit, pp. 124, 127, 129, 132 ff, 146, 147, 153, 420 cf, H.C. Raichaudhari, Political History of Ancient India, pp. 100,102 & others.

25-26. Rigveda III. 53. 9-13; VII. 18.6-7, 21-23; VII. 33,83.

Rigveda, III. 33. 11

27. Mahābhārata, I, Ch. 175 & IX. Ch. 40; V. Pathak, op. cit. pp. 132 ff.

28. G.S. Ghurye, Caste & Race in India, Bombay, 1969, p. 67 ff. cf. V. Pathak. op. cit., pp. 140. ff.

29. See V. Pathak, op. cit., Ch. IV. pp. 115 ff.

30. Vālmīki Rāmāyaṇa, IV, Ch. 5; Mahābhārata, III. 280. 11

31. H.C. Raichaudhari, PHAI. p.3; Shankar Goyal, Recent Historiography of Ancient India, Jodhpur, 1997, p.3.

32. Rigveda, "प्र तद्युः शीमे पृथवाने वेने प्र रामे वोचमसुरे मधवत्सु ....॥" X.93.14 :

33. Rigveda, I. 101.5; I. 104.5; I.103.3-4; I.51.

34. R.S. Sharma, Material Culture ... p.25 (foot note 34); Rigveda, IV. 57. 6-7.

35. 'Historical Rāma Distinguished from God Rāma' by Shyam Narain Pande, Paper presented in the 58th session, Indian History Congress, Bangalore, 1997.

36. Baudhāyana Dharmasūtra, I.1.2.14-15.

37. Manu Smriti, II.22.

38. Refer to Ram Gopal, India of Vedic Kalpasutras, Delhi, 1959, p. 102.

39. V. Pathak, op. cit. pp. 49 ff, pp. 70-71.

40. Anguttara Nikāya (Pali Text Society), Pt. III, p.30, 341; Dīgha Nikāya,Ambattha Sutta (Bombay University Publication), Pt. I, p. 97.

41. Dīgha Nikāya, Ibid, p. 97.

42. Ibid.
43. Majjhima Nikāya (Sarnath edition), p. 394; see also Saṁyukta Nikāya (Sarnath Hindi Edition), Pt. I., p. 96.
44. Majjhima Nikāya (Pali Text Society), Pt. III, p.290.
45. Lihiccha Sutta - Dīgha Nikāya (Bombay University Press), Pt. I. pp. 257 ff.
46. Majjhima Nikāya (Sarnath Hindi Edition), p. 421.
47. Refer to V. Pathak, op. cit, pp. 226 ff.
48. Ibid.
49. Ibid.
50. Kūtadanta Sutta, Dīgha Nikāya (Sarnath Hindi Edition), pp. 48 and 210.
51. Refer to foot notes 36 above.
52. Jātaka (ed. Fousboll), VI, p. 554 -G. 2200; I. p.343.
53. Aṣṭādhyāyi, V.4. 10- India as known to Paṇiṇi, V.S. Agarawal, p. 78.
54. Kachchhapa Jātaka (ed. Fousboll), II, p. 359; Deepavaṇsha, I. p. 481 - V. Pathak, op. cit. p. 316; Atthakaraṇa sutta, Saṁyukta Nikāya (Pali Text Society), Pt. I, pp. 74 ff., see also Majjhima Nikāya (Sarnath Hindi ed.) p.365 .
55. SeeV. Pathak, op. cit. pp. 223, 316; Deepavansha, I. p. 572.
56. V. Pathak, op. cit, pp. 234 ff.
57. Shankar Goyal, Recent Historiography of Ancient India, p. 9.
58. Sachchidananda Tripathi, Śungakālīna Bhārata, Varanasi, 1977; CHI., II, p. 95.
59. Refer to Shankar Goyal, op. cit., pp. 263, 264.



मनुष्य और उसकी स्वतन्त्रता

आनन्द मिश्र*

भाषा, समाज, राजनीति, धर्म एवं संस्कृति की अभिव्यक्ति मानवीय चेतना के अन्तर्वैयक्तिक आयाम से जुड़ी हुई है। मनुष्य नितान्त अपने लिये नहीं है, केवल 'स्वनिमित्त सत्' नहीं है । मनुष्य केवल 'स्वनिमित्त सत्' इसलिये नहीं है; क्योंकि वह संसार में अकेला नहीं है । अकेला न होने के बावजूद वह संसार का सन्दर्भ-बिन्दु स्वयं है तथा अनेक अर्थों में वह जिस जगत् में रहता है, वह स्वयं उसके द्वारा विनिर्मित जगत् है । जगत् निर्माण की उसकी यह प्रक्रिया वस्तुतः उसकी स्वयं की निर्मिति एवं अभिव्यक्ति की प्रक्रिया है । भाषा, समाज, धर्म, संस्कृति एवं राजनीति व्यक्ति के इसी आत्माभिव्यक्ति एवं आत्मनिर्मिति के ढंग हैं । स्पष्ट है कि भाषा एवं मनुष्य, समाज एवं व्यक्ति, धर्म और मनुष्य, संस्कृति और व्यक्ति, राज्य और व्यक्ति—इन सभी युग्मों में प्राथमिक एवं मूल व्यक्ति है, वही साध्य है । प्राथमिक, मौलिक एवं साध्य होते हुए भी व्यक्ति के साथ दुःस्थिति यह है कि वह अपने ही नियमों से नियामित, साधनों से साधित, उत्पादनों से उत्पादित होने लगता है । अर्थात् ऐसा लगने लगता है कि उपर्युक्त युग्मों में मौलिक, प्राथमिक और कदाचित् साध्य भाषा, समाज, संस्कृति, धर्म और राज्य हों, न कि व्यक्ति और यही मनुष्य के साथ विडम्बना है, विरोधाभास है।

ऐसा नहीं है कि अपनी इस विडम्बनापूर्ण दुःस्थिति का या इस विरोधाभास का अहसास व्यक्ति को नहीं होता और वह इससे उबरने की चेष्टा नहीं करता। एक दृष्टि से देखा जाय, तो भाषा, समाज, राजनीति, धर्म, सभ्यता और संस्कृति इन सबके विकास के पीछे यही अहसास और चेष्टा छिपी है। हम कह सकते हैं कि

---

* प्राध्यापक, दर्शन विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

भाषा, समाज, धर्म, सभ्यता, संस्कृति और राजनीति का इतिहास वस्तुतः व्यक्ति से इसके द्वन्द्व का इतिहास है । जब भाषा का एक रूप व्यक्ति की आत्माभिव्यक्ति एवं निर्मिति में सहायक कम और बाधक अधिक होने लगता है, तो उसका दूसरा रूप सामने आता है और इसी तरह तीसरा या चौथा । विभिन्न भाषाओं के विकास के स्वरूप को समझाना निश्चित रूप से भाषा-वैज्ञानिकों का काम है; पर किस तरह मनुष्य जिसके लिए भाषा एक माध्यम एवं साधन रहती है, कैसे स्वयं उसको साधन और उपकरण बना लेती है, यह बात उस प्रसिद्ध अभिकथन से सहज ही स्पष्ट होती है, जिसमें कहा गया है, कि **यह भाषा है जो हमको बोलती है न कि यह हम हैं जो भाषा बोलते हैं ।** जो भाषा के साथ है वही समाज, धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति के साथ है । व्यक्ति किस तरह स्वयं इनसे नियामित, अधिशासित और नियन्त्रित होने लगता है, ऐसा लगता है मानो व्यक्ति ही साधन हों और वे सब साध्य । समाज, धर्म, सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में भी व्यक्ति के साथ उनके इस द्वन्द्व को देखा जा सकता है। इनके विकास का इतिहास मानों व्यक्ति के साथ इनके समायोजन का इतिहास होता है । एक समाज या सामाजिक व्यवस्था, धर्म या धार्मिक प्रणाली, सभ्यता या सांस्कृतिक प्रतिरूप नष्ट होती है और उसका स्थान दूसरी लेती है; क्योंकि व्यक्ति की आकांक्षाओं और स्वप्नों एवं मूल्यों को दूसरी व्यवस्था अच्छे ढंग से अभिव्यक्त करती है ।

इस तरह मानव–संस्कृति का इतिहास द्वन्द्वात्मक रहा है, इस द्वन्द्व का एक छोर तो व्यक्ति या व्यष्टि रहा है और दूसरा छोर समाज, राज्य या समष्टि । व्यक्ति और समष्टि के बीच का यह अन्तर्द्वन्द्व तब तक चलता रहेगा, जब तक हम एक ऐसे आदर्श सामञ्जस्य और समन्वय की स्थिति में नहीं पहुँच जाते, जहाँ व्यष्टि और समष्टि के बीच का यह विरोध एकदम से समाप्त हो जाय और जहाँ व्यक्ति की आकांक्षाओं की पूर्ण अभिव्यक्ति हो, ऐसी स्थिति जहाँ व्यक्ति के आत्मनिर्माण एवं आत्मरूपायन तथा अभिव्यञ्जन की प्रक्रिया पूर्ण हो । हम कह सकते हैं कि इसी आदर्श की ओर बढ़ना समस्त सभ्यता एवं संस्कृति का मौलिक लक्ष्य रहा है और ऐसी स्थिति में हम सहज ही समझ सकते हैं कि विभिन्न सभ्यताओं, संस्कृतियों, सामाजिक व्यवस्थाओं एवं राजनीतिक प्रणालियों का महत्त्व साधनमूलक है, प्रणालीमूलक है । इनका कार्य वह अनिवार्य संसाधन और व्यवस्था स्थापित करना है, जो व्यक्ति को अपनी नियति के अन्वेषण और निर्माण में सहायता कर

सके। दूसरी तरह से कहें तो हम कह सकते हैं कि मनुष्य का एक मौलिक एवं तात्त्विक स्वरूप है । इस तात्त्विक स्वरूप का पर्येषण ही मनुष्य की नियति है । अब इस स्वरूप के अन्वेषण या रूपायन की प्रक्रिया के मध्य विभिन्न सामाजिक समूहों, सभ्यता-संस्कृतियों और राजनीतिक प्रणालियों का जन्म होता है । स्वस्वरूपानुसन्धान की व्यक्ति की इस यात्रा को केवल कुछ ही सामूहिक, सामाजिक या राजनीतिक प्रणाली केवल कुछ ही अर्थों में सहायता और गति प्रदान कर पाती है । जैसा कि पीछे संकेत किया गया है, इनमें से अधिकांश असफल होती हैं और इनकी असफलता का कारण मौलिक लक्ष्य की विस्मृति होती है ।

उपर्युक्त बातों के आलोक में हमें स्वतन्त्रता पर होने वाली किसी तरह की चर्चा के मध्य कुछ बातों के लिये सतर्क होना चाहिए । हम जब स्वतन्त्रता की बात करते हैं, तो स्वतन्त्रता के विभिन्न अर्थों को स्पष्ट करना चाहिए; क्योंकि जैसा कि हमने देखा, मनुष्य की मौलिक और तात्त्विक स्वतन्त्रता अलग है और सामूहिक चेतना का सन्दर्भ रखकर जो स्वतन्त्रता के विभिन्न प्रकारों यथा सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक या नागरिक स्वतन्त्रता की बात की जाती है, वह अलग है । मौलिक एवं तात्त्विक स्वतन्त्रता ही वह साध्य है, जिसके लिये राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक या नागरिक स्वतन्त्रता साधनभूत होती है । दुर्भाग्य से हम अभी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक या नागरिक स्वतन्त्रताओं को ही नहीं परिभाषित कर पाये हैं उनको सुरक्षित करने की बात तो दूर है । या कहिए कि दुर्भाग्य से व्यक्ति अभी उन मूलभूत आवश्यकताओं और जीवन रूपों के लिये ही स्वाधीन नहीं हो पाया है, जो उसके स्वस्वरूप रूपायन और अभिव्यञ्जन के लिये आधारभूत हैं, अर्थात् मूलभूत स्वतन्त्रता की बात तो दूर, साधनभूत स्वतन्त्रता ही अभी उसे उपलबध नहीं हो पायी है ।

जहाँ तक मौलिक एवं तात्त्विक स्वतन्त्रता की बात है, वह आरम्भ से ही दार्शनिकों के अध्ययन का प्रिय विषय रहा है । पूर्व एवं पश्चिम — दोनों जगह इस विषय में पर्याप्त विवाद रहा कि मनुष्य का मूलस्वरूप स्वतन्त्र है या नहीं। ईश्वरवादी और प्रत्ययवादी दर्शनों में मानवीय अस्तित्व और स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में तार्किक अवधारणा नियतवाद की ही हो सकती है । मानवीय स्वतन्त्रता किस तरह भ्रामक है, इसे स्पिनोजा ने बहुत अच्छे ढंग से स्पष्ट किया है । व्यक्ति को

उसकी स्वतन्त्रता का भास उसी ढंग का है जैसे कि कोई पत्थर मनुष्य द्वारा फेंका जाय और रास्ते में यह समझे कि मैं अपनी गति से इच्छानुसार चल रहा हूँ । इस तार्किक विश्व में सब कुछ तार्किक ढंग से ईश्वर द्वारा नियोजित है, फलत: मानवीय इच्छा की स्वतन्त्रता की इसमें कोई संभावना नहीं । यद्यपि ईसाई धर्म के आभा क्षेत्र में आने वाले दार्शनिकों के द्वारा इस बात को सिद्ध करने के अनेकश: प्रयास हुए कि सर्वज्ञ, सर्व–सशक्त और दयालु ईश्वर की सत्ता एवं मानवीय स्वतन्त्रता में कोई विरोध नहीं है । पर जैसा कि बाद में अस्तित्ववाद के पोषक दर्शनिकों ने सिद्ध किया कि यदि हम मनुष्य को मूलत: स्वतन्त्र मानते हैं, तो हमें जगत् की व्याख्या में ईश्वर को लाने की जरूरत नहीं । सार्त्र ने अपनी रचनाओं (The Transcendence of the Ego और Being & Nothingness) में मनुष्य के इस तात्त्विक स्वतन्त्र स्वरूप की विस्तार से दार्शनिक व्याख्या की है । सार्त्र के अनुसार मनुष्य स्वतन्त्र है; बल्कि हम कह सकते हैं कि स्वतन्त्रता और मनुष्य दोनों पर्याय हैं । ऐसा इसलिये है कि मानवीय सत्ता स्वयं के लिये सत्ता है – चेतना है और चेतना स्वभावत: अतिक्रमणशील और नि:स्वभाव है। कोई ईश्वर नामक सत्ता नहीं है, जिसने मनुष्य को बनाया है और न मनुष्य का कोई दिया हुआ प्रदत्त स्वरूप या स्वभाव है । मनुष्य वह है जैसा वह अपना निर्माण करता है। समाज, धर्म,राज्य मनुष्य को इस सम्बन्ध में कोई आदर्श या मापदण्ड नहीं दे सकते हैं कि वह अपने को कैसे ढाले, किन रूपों में निर्मित करे । यह वह है जिसे यह निर्धारित करना है कि वह अपने को कैसे बनाता है । वह न केवल अपनी सत्ता को बल्कि जगत्–मात्र को अर्थान्वित करता है और इस अर्थ में वह न केवल अपना बल्कि जगत् का निर्माता है । इस तरह अस्तित्ववादी दर्शन का मूल स्वर ही है व्यक्ति की मौलिक एवं तात्त्विक स्वतन्त्रता को प्रतिस्थापित करना । मनुष्य की मूलभूत स्वतन्त्रता पर अतिशय जोर देने के बावजूद सार्त्र मानव जीवन एवं समाज की जैसी तस्वीर प्रस्तुत करता है वह निराशावादी है[१]। स्वतन्त्र होने के बावजूद सार्त्रीय दर्शन में मनुष्य व्यर्थ की वासना है । सार्त्र कहता है कि स्वतन्त्रता मनुष्य के लिये अभिशाप रूप है, मनुष्य स्वतन्त्र होने के लिये अभिशप्त है । वह अपनी स्वतन्त्रता के लिये अभिशप्त है; क्योंकि वह अपनी सत्ता का स्वयं आधार नहीं है, मनुष्य हर चीज के लिये तो स्वतन्त्र है, पर स्वतन्त्र न रहने के लिये स्वतन्त्र नहीं है[२]। साथ ही

इस स्वतन्त्रता का साम्मुख्य जब व्यक्ति को होता है, तो उत्तरदायित्व जन्यक्लेश का भयंकर ताप जैसा उसे महसूस होता है । स्वतन्त्रता के इस दु:श्चिन्तित और अभिशप्त रूप को यदि हम छोड़ भी दें तो सबसे अधिक समस्या जो आती है, वह यह कि एक मनुष्य की स्वतन्त्रता के सम्मुख दूसरे मनुष्य की स्वतन्त्रता खड़ी है । एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता या तो दूसरे की स्वतन्त्रता का अपहरण करती है, या स्वयं अपहृत होती है । इस तरह दूसरा मनुष्य सार्त्र के दर्शन में 'नरक' है, उसका 'मूल पाप' है[३]। इस तरह समस्त सामाजिक एवं अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों की इस रूप में परिणति होती है कि या तो व्यक्ति किसी 'अन्य' को साधन बनाता है अथवा वह स्वयं किसी अन्य का साधन बनता है ।

इस तरह जिस स्वतन्त्रता को मनुष्य का तात्त्विक स्वरूप बताया गया, उसकी रक्षा अन्तर्वैयक्तिक एवं सामाजिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में मुश्किल हो जाती है । वस्तुत: सम्पूर्ण पश्चिमी राजनीतिक प्रणाली के समक्ष मूल प्रश्न यही रहा है कि किस तरह दो व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की स्वाभाविक टकराहट को रोका जाय । राज्य का उदय भी वहाँ इसी निमित्त माना गया है । आधुनिक पश्चिमी लोकतन्त्र का इतिहास देखा जाय तो आरम्भ से ही इसके सामने यह समस्या रही है कि लोकतन्त्र के स्वीकृत आदर्शों **'समानता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व'** में किस ढंग से समुचित समन्वय स्थापित किया जाय । यदि हम वर्तमान विश्व की राजनीतिक प्रणालियों पर ध्यान दें, तो कहीं लोकतन्त्र के आदर्शों में **स्वतन्त्रता** पर तो कहीं **समानता** पर और कहीं एक अर्थ में **बन्धुत्व** पर जोर दिया गया है । अमेरिका सहित अन्य पूँजीवादी देशों में **स्वतन्त्रता** के आदर्श पर, समाजवादी देशों में **समानता** पर और इस्लामी लोकतन्त्र में **बन्धुत्व** के आदर्श पर जोर दिया गया है । जब हम भारतीय संविधान पर इस दृष्टि से नजर डालते हैं, तो इसका मूल उद्देश्य स्वतन्त्रता और समानता के आदर्शों के बीच उचित तालमेल बनाना ही लगता है । संविधानसभा के समक्ष स्वीकृत उद्देश्य, उसकी प्रस्तावना, नीतिनिर्देशक सिद्धान्तों का समावेश, संविधान संशोधनों की प्रवृत्ति यह दरशाती है कि भारतीय संविधान ऐसे दोहरे लक्ष्य की ओर अग्रसर है, जिसमें न केवल व्यक्तियों की पूर्ण स्वतन्त्रता सुरक्षित हो; बल्कि एक समाजवादी ढंग का समाज निर्मित हो सके, जहाँ व्यक्तियों के बीच असमानता कम से कम हो और उनमें आपसी बन्धुत्व हो । मार्क्सवादी

और समाजवादी प्रभावों के कारण भारतीय संविधान में समानता और बन्धुत्व की भावना को सुरक्षित करने के लिये जो तत्त्व हैं और उनको आधार बनाकर शासन एवं न्यायपालिका के इधर जो कुछ निर्णय आये हैं, उनसे आज देश के कुछ वर्गों में यह बात घर करती जा रही है कि इस राजनीतिक प्रणाली में कहीं न कहीं कुछ ऐसा है, जिससे उनकी स्वतन्त्रता अपहृत हो रही है । वस्तुतः जब लोगों में स्वाभाविक ढंग से समानता आती है तब तो नहीं, पर जब समानता लाने के राज्य के नियोजित प्रयास होंगे, तब स्वतन्त्रता और समानता के आदर्श परस्पर टकरायेंगे ही। समानता और बन्धुत्व के नाम पर स्वतन्त्रता को सीमित करने का राज्य का अधिकार उस सांविधानिक व्यवस्था से कुछ और अधिक पुष्ट हो जाता है, जिसमें राज्य को व्यक्ति की नागरिक स्वतन्त्रता तक में युक्तियुक्त निर्बन्धों के द्वारा कटौती के अधिकार दिये गये हैं। दूसरी तरफ **स्वतन्त्रता** के आदर्श पर ही जोर दिया जाय, जैसा कि पूँजीवादी देशों की प्रणाली के साथ है, तो वहाँ भी कहा जा सकता है कि आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक विषमता पर आधारित समाज में स्वतन्त्रता की बात बेमानी हो जाती है और ऐसे समाज में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अर्थ दलितों, पिछड़ों, अल्पसंख्यकों या दूसरे वंचितों के शोषण की स्वतन्त्रता हो जाती है । इस दृष्टि से देखा जाय तो जिस मानवीय स्वतन्त्रता की बात विभिन्न राजनीतिक प्रणालियाँ और उनके संविधान करते हैं, वे उसके साथ न्याय करने में अक्षम रहते हैं । यहाँ यह बात स्पष्ट कर देनी चाहिए कि व्यक्ति की मौलिक एवं तात्त्विक स्वतन्त्रता अलग है और राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक, धार्मिक या नागरिक स्वतन्त्रता अलग । राज्य, राजनीतिक प्रणालियाँ, विभिन्न सांविधानिक व्यवस्थाओं का स्वरूप ही ऐसा होता है कि वे अपनी साधनमूलक स्थिति से स्वयं साध्य बन जाते हैं और व्यक्ति साधन हो जाता है । व्यक्ति की मूलभूत स्वतन्त्रता के आदर्श के साथ वे न्याय नहीं कर पाते ।

यहाँ मैं आधुनिक लोकतान्त्रिक राजनीतिक प्रणाली के सन्दर्भ में एक बात और करना चाहूँगा कि लोकतान्त्रिक राजनीतिक प्रणाली यह भ्रम पैदा करती है कि मानो उसने व्यक्ति की स्वतन्त्रता की समस्या हल कर दी, पर देखा जाय, तो उसने स्वतन्त्रता के मौलिक आदर्श के बारे में भ्रमित ही किया है । उसने ऐसा भ्रम पैदा किया मानो राजनीतिक स्वतन्त्रता ही मौलिक स्वतन्त्रता हो और वह स्वयं में साध्य

हो; पर हम ऊपर कही बातों से सहज ही समझ सकते हैं कि राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, वैचारिक, धार्मिक स्वतन्त्रता केवल साधनभूत स्वतन्त्रता ही है, व्यक्ति की मौलिक एवं तात्त्विक स्वतन्त्रता आत्मिक स्वतन्त्रता है, उसके आत्मा की स्वतन्त्रता है, वही लक्ष्यभूत स्वतन्त्रता है[४]। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, नागरिक—इन स्वतन्त्रताओं को तात्त्विक और साध्यभूत स्वतन्त्रता मानने के पीछे पश्चिम की ऐहिकतावादी, भौतिकवादी और कदाचित् दैतवादी दृष्टि रही है। मनुष्य और उसके जीवन का चरम लक्ष्य ऐहिक और भौतिक सुखों की पूर्ण उपलब्धि मानने के कारण ही राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक स्वतन्त्रता को पश्चिमी दृष्टि ने चरम लक्ष्य या साध्य माना; क्योंकि यह स्वतन्त्रता ऐहिक सुख-सम्पन्नता का सोपान हो सकती है । पर जैसा कि ऊपर हमने देखा व्यक्ति की मौलिक एवं तात्त्विक स्वतन्त्रता उसके आत्मा की स्वतन्त्रता है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता उसके आत्मरूप होने के कारण है, चैतन्यरूप होने के कारण है। चेतना स्वभावत: निरन्तर अतिक्रमणशील है । वह निरन्तर अपने को नये-नये रूपों में रूपायित करती है और फिर उनका अतिक्रमण करती है । चेतना की यह अतिक्राम्यता ही उसकी स्वतन्त्रता है । व्यक्ति की मूलभूत स्वतन्त्रता उसके इसी आत्म या चेतना की स्वतन्त्रता है। इसी अर्थ में कहा गया है, मनुष्य और उसकी स्वतन्त्रता में कोई अन्तर नहीं है—Man is free. Man is freedom । अपने इसी मौलिक स्वरूप का साक्षात्कार—अपनी निजभूत मौलिक स्वतन्त्रता में अभिरमण—मानवीय जीवन का चरम लक्ष्य है, और यही उसकी नियति है ।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. Sabhajit Mishra, The Anguished Freedom, GDK Publications, Delhi, 1979, p. 172.

2. Infact we are a freedom which chooses, but we do not choose to be free. We are condemned to freedom, as we have said earlier, thrown into freedom or, as Heidegger says, 'abandoned'.

   Jean Paul Sartre, Being and Nothingness, translated by Hazel E Barnes, Washington Square Press Publication of Pocket

Books, New York, 1966, p. 623

3. 'My original fall is the existence of the Other'.

Being and Nothingness, p. 352.

'Hell is the other people'.

Jean Paul Sartre; 'No Exit' in No Exit and Three Other Plays, tr- Stuart Gilbert, New Vintage Books, 1971, p. 47

४. मूलभूत स्वतन्त्रता तो स्वयं आत्मा की स्वतन्त्रता है, सत्ता की स्वतन्त्रता है। इस तात्त्विक स्वतन्त्रता के स्वरूप के लिए देखें, के०सी० भट्टाचार्य का लेख The Subject as Freedom .

साथ ही देखें– R.K. Tripathi –Freeedom in Problems of Philosophy and Religion, Centre of Advanced Study in Philosophy, B.H.U. Varanasi, 1971.



महात्मा गाँधी और सामाजिक न्याय
(अस्पृश्यता-निवारण के सन्दर्भ में)

डॉ० (श्रीमती) महिमा मिश्रा*

महात्मा गाँधी ने जहाँ एक ओर भारतीय स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिये राजनीतिक आन्दोलन चलाया, वहीं दूसरी ओर वास्तविक स्वतन्त्रता हेतु सामाजिक जागृति के लिये महत्त्वपूर्ण प्रयास किया । इसके लिये उन्होंने अनेक सामाजिक सुधार किये । सामाजिक सुधार के क्षेत्र में उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान भारतीय हिन्दू समाज में सदियों से व्याप्त अस्पृश्यता-निवारण के सन्दर्भ में है, जहाँ उन्होंने समाज के अस्पृश्य वर्ग को शान्तिपूर्ण ढंग से सामाजिक न्याय दिलाने के लिये प्रयत्न किया ।

सामाजिक क्षेत्र में गाँधी जी के विचार व्यावहारिक अनुभवों पर आधारित हैं । अतः अनुभवजन्य क्रमिक परिवर्तन भी है और उनके बाद के विचार उनके पूर्व के विचार से न केवल संशोधित वरन् कभी-कभी पूर्णतया भिन्न भी हैं ।

गाँधी जी के अनुसार किसी भी देश की स्वतन्त्रता का अर्थ तब तक पूर्ण नहीं हो सकता है, जब तक कि वहाँ सामाजिक समानता न हो । रचनात्मक सुधार के कार्यक्रम हमारी स्वतन्त्रता की लड़ाई के एक अपरिहार्य भाग हैं । उनका मानना था कि गुलामी के लिये न केवल ब्रिटेन बल्कि हम स्वयं उत्तरदायी हैं । जब तक राष्ट्रीय चरित्र समुन्नत एवं बलवान् नहीं होगा, हमारी स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं होगा ।[१]

---

१. यंग इण्डिया अंग्रेजी साप्ताहिक विचार-पत्र, २५ मई, १९२१; जीवतराय भगवानदास कृपलानी, 'महात्मागाँधी : जीवन और चिन्तन' (प्रकाशन विभाग, १९७८), पृ० ४१२,

---

* प्राध्यापिका-इतिहास, हिन्दू डिग्री कालेज, जमानियाँ, गाजीपुर (उ.प्र.) सम्प्रति-प्राध्यापिका, हरिश्चन्द्र महाविद्यालय, वाराणसी

हिन्दू समाज वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित रहा है और कालान्तर में इसका स्थान जाति प्रथा ने लिया । आरम्भ में महात्मा गाँधी जाति प्रथा के समर्थक थे ।

उन्होंने कहा कि जाति प्रथा में स्वराज का बीज निहित है । यह एक स्वाभाविक प्रथा है । जाति केवल संयम रखने का साधन है । यह हमारे भोगों की परिसीमा निश्चित करती है ।[२] किन्तु जैसे-जैसे उन्होंने भारत का भ्रमण किया और समीप से समाज को देखा, तो उन्होंने अनुभव किया कि जाति व्यवस्था निश्चित ही हिन्दू धर्म की उन्नति में बाधक है ।[३]

वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में गाँधी जी के विचार मौलिक थे । वे इस व्यवस्था के समर्थक थे । उनके अनुसार वर्णव्यवस्था पारिवारिक सिद्धान्तों का विकास मात्र है[४]। शास्त्रों में चार वर्णों का प्रतिपादन है । जान या अनजान में वर्ण समस्त जगत् में देखने को मिलते हैं । जगत् के कल्याणार्थ ईश्वरविषयक ज्ञान देने वाला, अनेक प्रकार के भयों से प्रजा की रक्षा करने वाला, उनके पोषण के लिये खेती–व्यापार करने वाला और इन तीन वर्गों की नौकरी करने वाला, ये चार विभाग होने चाहिये । इनमें ऊँच–नीच का भेदभाव नहीं होता है[५] । यह व्यवस्था शक्ति का दुर्व्यसन रोकने हेतु है[६]।

जब देश के आन्दोलन का नेतृत्व महात्मा गाँधी के हाथ में आया और उन्होंने भारत को समीप से देखा, तो उन्हें सामाजिक जटिलता का ज्ञान हुआ, तो उन्होंने जाति व्यवस्था नष्ट करने एवं आदर्श वर्णव्यवस्था या खानदानी (परम्परागत) पेशे के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया[७] ।

---

२. गुजराती, मराठी मासिक पत्रिका, भारत सेवक अंक, अक्टूबर, १९१६, सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, भाग १३, पृ० ३०–३५

३. यंग इण्डिया, २० अक्टूबर, १९२७

४. पूर्वोद्धृत, २९ दिसम्बर, १९२०

५. हरिजन बन्धु (गुजराती); हरिजन सेवक (हिन्दी) २६, जनवरी, १९३६

६. महादेव भाई की डायरी (गुजराती), भाग ३ (नवजीवन प्रकाशन), १६ जुलाई, १९५१

७. नलिनी पंडित, गाँधी (दिल्ली, १९९३), पृ० २०३

महात्मा गाँधी वर्णाश्रम व्यवस्था से सामाजिक पुनर्गठन करना चाहते थे। वे आनुवंशिक पेशे के सिद्धान्त को मानते थे; क्योंकि इसमें व्यक्ति अपना कार्य कुशलतापूर्वक और कम समय में कर सकेगा और जो समय बचेगा, वह देश के लिये लगायेगा[८] ।

वर्णाश्रम की स्थापना व्यक्ति के भौतिक सुख के लिये नहीं, अपितु उसके आध्यात्मिक कल्याण के लिये हुई है । इसीलिये आनुवंशिक पेशा अर्थोपार्जन का लाइसेन्स न होकर सामाजिक दायित्व समझा जाना चाहिये[९] ।

गाँधी जी के अनुसार वर्णाश्रम व्यवस्था में चारों वर्णों के व्यवसाय भले अलग हों; लेकिन कोई व्यवसाय छोटा या बड़ा नहीं है । उन्हें एक-सी प्रतिष्ठा प्राप्त है[१०]। उन्होंने विभिन्न वर्णों के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं, जैसे ब्राह्मण जन्म से होते हैं; किन्तु ब्राह्मणत्व जन्म से नहीं होता है[११]। आदर्श क्षत्रिय तो वह है, जो बिना तलवार चलाये रक्षा करे । ब्राह्मण वह है, जिसने ईश्वर को पहचान लिया है[१२] । वैश्य का धर्म धन अर्जित कर उसमें से अपने जीवन-यापन के लिये रखकर शेष समाज कल्याण में लगाना है[१३] । शूद्र वह है, जो नौकरी करके आजीविका चलाता है । उनके अनुसार जितने व्यक्ति नौकरी करते हैं, सभी शूद्र हैं[१४] । वेदाध्ययन पर किसी वर्ण का एकाधिकार नहीं है । एक बढ़ई अपना पेशा करते हुये संस्कृत का पंडित हो सकता है[१५] ।

वर्णाश्रम का सच्चा अर्थ सेवा धर्म है । सेवा में सौदे की सम्भावना नहीं है। शारीरिक श्रम करना सभी वर्णों का धर्म है । जो श्रमरूपी यज्ञ नहीं करता, वह

---

८. पूर्वोद्धृत, पृ० २१८
९. पूर्वोद्धृत, पृ० २१८
१०. पूर्वोद्धृत, यंग इण्डिया, २९ दिसम्बर, १९२०
११. यंग इण्डिया; नवजीवन (हिन्दी) १९ मार्च, १९२५
१२. नवजीवन (गुजराती), २० जुलाई, १९२४
१३. हरिजनबन्धु (गुजराती), १९ मार्च, १९३३
१४. नवजीवन (हिन्दी), २३ जून, १९२४
१५. नलिनी पंडित, पूर्व उद्धृत,पृ० २१८

चोरी करता है । जो कहते हैं कि श्रम करना शूद्रों का कार्य है, वह धर्म नहीं जानते हैं[१६] ।

वर्णाश्रम तथा कालान्तर में जाति प्रथा पर आधारित हिन्दू समाज में सदियों से शूद्रों को अन्त्यज या अस्पृश्य माना जाने लगा । यह हमारी धार्मिक, सामाजिक कुरीतियों, बाह्याडम्बर एवं अज्ञानता का एक घृणित उदाहरण है । महात्मा गाँधी ने समाज में व्याप्त अस्पृश्यता की भावना का खुलकर विरोध किया।

हिन्दू धर्म का मूलाधार वेद है और अस्पृश्यता वेद निहित नहीं है[१७] । हिन्दू धर्म में यह बात कहीं नहीं है कि जो लोग हमारी सेवा करते हैं, उन्हें छूने से पाप होता है[१८]। जन्म से कोई अस्पृश्य नहीं होता है । अन्त्यज अस्पृश्य नहीं हैं । जब तक हम मिलकर एक नहीं हो जाते हैं, तब तक हम स्वराज्य के योग्य नहीं हो सकते हैं[१९]।

अस्पृश्यता मानव समाज के एक वर्ग को सामाजिक सेवा की सीमा से पृथक् कर देती है । इसलिये यह एक अमानवीय संस्था है[२०] ।अस्पृश्यता हमारी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक है[२१] । ईश्वर के अनुग्रह और साक्षात्कार पर किसी जाति और राष्ट्र का एकाधिकार नहीं है । जो धर्म अन्याय, असत्य पर आधारित होता है, उसका विलुप्त हो जाना अवश्यम्भावी है[२२] ।

हमें शास्त्रों का जाल फैलाकर उन्हें मूर्ख नहीं बनाना चाहिये । उन्हें गन्दे स्थानों पर होने के लिये बाध्य करना, अपने कुओं से पानी न भरने देना, अपनी पाठशालाओं में न आने देना, निश्चित रूप से हिन्दू शास्त्र सम्मत नहीं है[२३] ।

---

१६. हरिजन बन्धु, १६ अप्रैल, १९३३

१७. आज (हिन्दी) , २९ मई, १९२१

१८. गोधरा के अन्त्यज परिषद् में दिये गये भाषण का अंश, ५ नवम्बर,, १९१७ रामनाथ सुमन (सम्पा०) समाज सुधार : समस्यायें और समाधान (गाँधी जी), वाराणसी १९६९, पृ० ५८३.

१९. पूर्वोद्धृत.

२०. यंग इण्डिया, १ दिसम्बर, १९२१

२१. पूर्वोद्धृत, ५ जनवरी, १९२२

२२. कृपलानी, पूर्व उद्धृत,पृ०४१४

२३. नवजीवन (गुजराती), १४ अगस्त, १९२१; १५ नवम्बर, १९२१

महात्मा गाँधी का विचार था कि अस्पृश्य यदि कोई है, तो वह हमारे बुरे विचार हैं, बुरी वासनायें हैं । हमारे ये कुविचार ही हमसे बुरे से बुरे कार्य कराते हैं । हमें इन अस्पृश्यों को नष्ट कर देना चाहिए[२४] ।

अस्पृश्यता एक अपरिमार्जनीय कलंक है और जब तक यह अभिशाप बना रहेगा, तो हम बड़े पाप की सजा से मुक्त नहीं हो सकते हैं[२५] । अस्पृश्यता हिन्दू धर्म के शरीर पर एक अतिवृद्ध व्याधि है[२६] । अछूतों के लिये एक अलग वर्ण बना देना हिन्दू धर्म के माथे पर एक कलंक है[२७] । अस्पृश्यता से हिन्दू धर्म चौपट हो रहा है। अब इस झगड़े में या तो अस्पृश्यता का नाश हो जायेगा या हिन्दू धर्म का विनाश हो जायेगा[२८] ।

महात्मा गाँधी ने अपने अन्दर की वेदना को स्पष्ट करते हुए कहा कि यद्यपि मैं दुबारा जन्म नहीं लेना चाहता; किन्तु यदि पुनः जन्म लेना पड़े, तो मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के रूप में नहीं; अपितु अतिशूद्र के रूप में जन्म लूँ, ताकि उनके दुःख, कष्ट और तिरस्कार का भागीदार बनते हुए मैं अपने को और उन्हें इस स्थिति से उबारने का प्रयत्न कर सकूँ[२९] ।

महात्मा गाँधी के मतानुसार अस्पृश्यता एक मानसिक स्थिति है। यह कोई पदार्थ नहीं है । इसी कारण निवारण इतना आसान नहीं है । अस्पृश्यता निवारण जो आन्दोलन है, वह किसी वर्ग को प्रसन्न करने के लिये नहीं है, वरन् यह अन्तःकरण को शूद्र करने के लिये हैं[३०] । अस्पृश्यता की समस्या हमारी प्रगति में बाधक है । इसे दूर करने के लिये हमें अथक प्रयास करना चाहिए[३१] । उच्च

---

२४. हरिजन सेवक, २७ अप्रैल, १९३६

२५. इण्डियन रिव्यू, फरवरी १९१६; सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, भाग १३, पृ०२३४

२६. नवजीवन (हिन्दी), २ जनवरी, १९२१

२७. गोधरा, ५ नवम्बर, १९१७; रामनाथ सुमन , पूर्व उद्धृत पृ०५८४

२८. यंग इण्डिया; नवजीवन (हिन्दी), ३ नवम्बर, १९२७

२९. कृपलानी, पूर्व उद्धृत पृ०४१५

३०. नवजीवन (गुजराती), ८ दिसम्बर, १९२१

३१. यंग इण्डिया, २२ सितम्बर, १९२१

हिन्दुवों के लिये एक प्रायश्चित्त है[३२] । अस्पृश्यता निवारण का कार्य मन्दिर बनाने जैसा है। इसके लिये हिन्दुवों को अपने प्राणों की बाजी लगानी होगी और बहुत बड़ा भाग त्याग करना होगा[३३] ।

महात्मा गाँधी ने देखा कि समाज में अस्पृश्यों की स्थिति इतनी दयनीय है कि वे इस संघर्ष में सम्मिलित नहीं हो सकते हैं । उनमें इतनी हीन भावना है कि उन्होंने इसे विधाता का विधान मान लिया है । अत: गाँधी जी ने इस आन्दोलन के लिये आवश्यक सभी तरह के बलिदान के लिये सवर्ण हिन्दुवों का आह्वान किया[३४] । उन्होंने कहा कि अस्पृश्यता का निवारण कृत्रिमता से नहीं, वरन् इस पाप से मुक्ति शुद्ध हृदय से निकली भावना से हो सकती है[३५] ।

अस्पृश्यता निवारण के लिये गाँधी जी ने सवर्णों से प्रार्थना करते हुए कहा कि वे अन्त्यजों को पका भोजन न दें । ‍न्हें इसके स्थान पर सूखा अनाज दें । उन्हें, फटे–पुराने और गन्दे वस्त्र न दें । जहाँ पर उनके पारिश्रमिक कम हों, उनमें वृद्धि कर दी जाय और जो कुछ भी उन्हें दिया जाय, प्रेमपूर्वक दिया जाय[३६] ।

नलिनी पण्डित का कहना है कि महात्मा गाँधी ने अस्पृश्यता निर्मूलन के लिये अधिकांश ब्राह्मण कार्यकर्त्ताओं को लगाया । इन प्रगतिशील ब्राह्मणों का उदाहरण देकर ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेतर के बीच खाईं को कम करने का प्रयास किया। परिणामस्वरूप ब्राह्मणों की श्रेष्ठता की भावना समाप्त होने लगी[३७] ।

महात्मा गाँधी ने ऐसे सुधारकों से विशेषकर दो बातों को व्यावहारिक रूप देने के लिये कहा । प्रथम, प्रत्येक हिन्दू एक हरिजन को परिवार का सदस्य मानकर

---

३२. नवजीवन (हिन्दी), २६ दिसम्बर, १९२४

३३. यंग इण्डिया, १ मई , १९२४

३४. कृपलानी, पूर्व उद्धृत, पृ०४१३, ४१४

३५. महादेव भाई की डायरी; भाग ४,५ 'मई, १९१८; बीजापुर के अछूत परिषद् में दिये गये भाषण का अंक ।

३६. नवजीवन (गुजराती), १६ नवम्बर, १९२१

३७. नलिनी पंडित, पूर्व उद्धृत, पृ०२०९

रखे, द्वितीय प्रत्येक धनवान् हिन्दू एक हरिजन युवक या युवती को उच्च शिक्षा दिलाये, जिससे उनके अन्दर चेतना आ सके[३८] । महात्मा गाँधी ने स्वयं एक हरिजन परिवार को अपने आश्रम में रखा और उस परिवार की लड़की को उन्होंने अपनी बेटी के रूप में अपना लिया[३९] ।

अगस्त, १९३२ मे ब्रिटिश प्रधानमन्त्री मैक्डोनाल्ड ने साम्प्रदायिक मामले में जो निर्णय दिया, उसमें हरिजनों के लिये भी अलग से निर्वाचक मंडल बनाने की बात कही गयी । वास्तव में यह दलित वर्ग को शेष हिन्दू समाज से अलग करने का प्रयास था । यरवदा जेल में रहते हुये गाँधी जी ने इस निर्णय का कड़ा विरोध किया। उनका कहना था कि हरिजनों की राजनीतिक समस्यायें, हिन्दुवों की राजनीतिक समस्या से भिन्न नहीं हैं । उन्हें अलग समुदाय बनाने की आवश्यकता नहीं है । उन्होंने माँग की कि दलित वर्ग के प्रतिनिधियों का चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर आम निर्वाचन मण्डल द्वारा होना चाहिये । अपनी माँग को पूरा किये जाने के लिये २० सितम्बर, १९३२ में आमरण अनशन पर बैठ गये । अन्ततः विभिन्न राजनीतिक विचारधारा के नेताओं के मध्य २५ सितम्बर को पूना समझौता हुआ, जिसमें दलित वर्ग के लिये पृथक् निर्वाचन मण्डल के स्थान पर सुरक्षित सीट एवं आम निर्वाचन मण्डल का प्राविधान किया गया और उनके लिये प्रान्तीय विधान मण्डलों से सुरक्षित सीटों की संख्या ७१ से बढ़ाकर १४७ कर दी गयी[४०] ।

आगे के एक वर्ण को गाँधी जी ने पूर्णतया अछूतोद्धार में लगाया । ७ नवम्बर, १९३३ को वर्धा से गाँधी जी ने अपनी हरिजन यात्रा प्रारम्भ की और आगे २९ जुलाई, १९३४ के मध्य ९ महीने में उन्होंने देश की लगभग १२,५०० मील की यात्रा की। इस बीच में इन यात्राओं के दौरान उन्होंने सभी व्यक्तियों से

---

३८. महादेव भाई की डायरी, भाग-२, ५ नवम्बर, १९३२

३९. नवजीवन, (हिन्दी—गुजराती), २ जनवरी, १९२१; यह लड़की दूधा भाई की सुपुत्री लक्ष्मी थी। रामनाथ सुमन, पूर्वोद्धृत, पृ०५९३

४०. कृपलानी, पूर्व उद्धृत पृ०१५१-१५२ , १५७; सुमित सरकार, आधुनिक भारत (नई-दिल्ली, १९९१), पृ०३७१-३७२; विपिन चन्द्र, भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष (दिल्ली, १९९०) पृ०२६३, २६४

हरिजनों के कल्याणार्थ हरिजन कोश में धन दान देने की भी अपील की । इन यात्राओं से अस्पृश्यता निवारण को व्यापक समर्थन मिला । यद्यपि इस बीच अनेक स्थान पर गाँधी जी को कट्टरपंथियों और सामाजिक प्रतिक्रियावादियों के विरोध का भी सामना करना पड़ा । गाँधी जी को कई स्थानों पर काले झण्डे दिखाये गये । अप्रैल और जुलाई १९३४ में बक्सर, जसीडीह और अजमेर में सनातनियों ने हरिजन सभाओं में उत्पात मचाया । प्रतिक्रियावादियों ने गाँधी जी के पुतले जलाये और २५ जून को पूना में उनकी कार को लक्ष्य कर बम भी फेंका गया[४१]; किन्तु गाँधी जी अपने मार्ग से विमुख नहीं हुए ।

महात्मा गाँधी ने समाज में अस्पृश्य समझे जाने वाले, अन्त्यज लोगों के लिये हरिजन शब्द का प्रयोग किया । जो कालान्तर में बहुत ही लोकप्रिय हुआ। उन्होंने स्वयं कहा कि ऐसा मैं अपने मित्रों के कहने पर कर रहा हूँ और यह शब्द मुझसे पूर्व नरसी मेहता एवं अन्य सन्तों ने किया है[४२] । गाँधी ने स्वयं कहा, 'मैं तो मन, वचन और कर्म से अपने को हरिजन मानता हूँ[४३] ।''

१९३२ में हरिजनों के कल्याण के लिये महात्मा गाँधी ने 'हरिजन सेवक संघ' नामक संस्था की स्थापना की । आज भी यह संस्था अपना कार्य कर रही है । इसमें विशेषकर राजनीतिक आन्दोलन से दूर रहने वाले वे लोग सम्मिलित थे, जो मानव कल्याण की दृष्टि से अस्पृश्यता के विरोधी थे । घनश्यामदास बिड़ला को इस संघ का अध्यक्ष एवं अमृतलाल ठक्कर (ठक्कर बापा) को प्रधानमन्त्री बनाया गया । महात्मा गाँधी ने साबरमती आश्रम हरिजन सेवक संघ को दे दिया और सितम्बर १९३३ में वर्धा चले गये[४४] ।

---

४१. कृपलानी, पूर्व उद्धृत पृ०१५७, १५८; सुमित सरकार, पूर्व उद्धृत पृ०३७२; विपिन चन्द्र, पूर्व उद्धृत पृ०२६५

४२. यंग इण्डिया, ६ अगस्त, १९३१; 'हरिजन' शब्द की प्राचीनता के सम्बन्ध के लिए द्रष्टव्य आर०डी० पराड़कर (सम्पा०) मोरोपन्त ग्रन्थावली : हरिजन; हरिजन सेवक, १० मार्च, १९३३

४३. हरिजन बन्धु, हरिजन सेवक, २४ मार्च, १९४६

४४. कृपलानी, पूर्व उद्धृत पृ०१५२–१५७, ४४४

हरिजन सेवक संघ के कर्त्तव्यों में हरिजन बस्ती को स्वच्छ रखने, उनके लिये स्वच्छ जल की व्यवस्था करने, हरिजन बच्चों के लिये पाठशालायें स्थापित करने आदि सम्बन्धी बातों को सम्मिलित किया गया[४५]।

गाँधी के अनुसार एक सच्चे हरिजन सेवक में हरिजनों से कुटुम्ब के समान सच्चा स्नेह, शरीर एवं मन पर चोट सहन करने का धैर्य व साहस, अपने शरीर की रक्षा मात्र भोजन पर जीवन निर्वाह कर सकने का सामर्थ्य होना चाहिए[४६]।

गाँधी जी ने अस्पृश्यता विरोधी आन्दोलन का प्रचार करने के लिये फरवरी १९३३ से 'हरिजन' नामक अंग्रेजी साप्ताहिक विचार-पत्र निकालना प्रारम्भ किया, जिसमें वे हरिजनों की मानवताविरोधी एवं लज्जाजनक स्थिति का वर्णन तथा कट्टरपंथी हिन्दुवों के तर्कों का खण्डन करते थे[४७]। शीघ्र ही 'हरिजन सेवक' नामक हिन्दी साप्ताहिक विचार-पत्र एवं 'हरिजन बन्धु' नामक गुजराती साप्ताहिक पत्र का भी प्रकाशन प्रारम्भ हो गया[४८]।

हरिजन सेवक संघ की एक इकाई 'हरिजन उद्योगशाला' की स्थापना दिल्ली में की गई। जहाँ पर हरिजन नवयुवकों को स्वावलम्बी बनाने के लिये नि:शुल्क व्यावहारिक प्रशिक्षण दिया जाता था[४९]।

गाँधी जी का विचार था कि हरिजनों को प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाय[५०]। सरकार हरिजनों के पानी के लिये कुयें खुदवाये[५१]। उन्होंने इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य बताते हुये कहा कि प्रत्येक सवर्ण को जो सामाजिक, नागरिक एवं धार्मिक अधिकार मिले हैं, वे सभी हरिजनों को भी मिलने चाहिए[५२]।

---

४५. हरिजन सेवक, १० अगस्त, १९३४

४६. हरिजन; हरिजन सेवक, १७ मार्च, १९३३

४७. कृपलानी, पूर्वोद्धृत, पृ०१५३

४८. रामनाथ सुमन, पूर्वोद्धृत, पृ०७

४९. दिल्ली हरिजन उद्योग शाला के दीक्षान्त समारोह पर दिये गये भाषण (२७ जुलाई, १९३९), का अंक,हरिजन; हरिजन सेवक, ५ अगस्त, १९३९; हरिजन सेवक, १ मार्च, १९४२

५०. हरिजन, हरिजन सेवक, २५ मार्च, १९३४

५१. हरिजन, १५ सितम्बर, १९४६

५२. हरिजन सेवक, ३ अगस्त, १९२७

गाँधी जी के ही प्रयासों से कांग्रेस के राँची अधिवेशन में हरिजनों का समान अधिकार सम्बन्धी मसविदा सम्मिलित हुआ । नलिनी पंडित के अनुसार इस घोषणा से सामाजिक न्याय का आग्रह किया गया[५३] ।

अस्पृश्यता–निवारण के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा मंदिरों में हरिजनों के प्रवेश पर रोक थी । अम्बेडकर और समाजवादी नेता मन्दिर प्रवेश को वह प्राथमिकता नहीं देते थे, जो गाँधी जी देते थे । उनका कहना था कि हरिजनों की अन्य अयोग्यताओं को कम किये बिना ही उनके मन्दिर प्रवेश के अधिकार से बढ़कर इनकी मनोदशा में परिवर्तन लाने वाली कोई अन्य बात नहीं हो सकती[५४]। वास्तव में उनके मंदिर प्रवेश करने से नहीं, वरन् उनके मंदिर प्रवेश पर लगी रोक से धर्म का अपमान होता है[५५] । मंदिर में सभी वर्गों के लोग आपस में प्रेम, सेवा एवं सभ्यता की उपलब्धियों का आदान–प्रदान करते हैं, स्वभावत: इन सबसे वंचित रह जाते हैं[५६]।

गाँधी जी मानते थे कि मंदिरों में शूद्रों के प्रवेश से रोक हट जाय और अस्पृश्य माने जाने वाले लोग मंदिरों में जाने लगें, तो उसके साथ ही इस भ्रम का अन्त हो जायेगा कि इस कुप्रथा को धार्मिक मान्यता प्राप्त है और इससे जुड़ा कलंक मिट जायेगा[५७] । मंदिर प्रवेश एक ऐसा आध्यात्मिक कार्य है, जो अस्पृश्यों के लिये आजादी का सन्देश होगा । उन्हें विश्वास हो जायेगा कि भगवान् के सामने वे बहिष्कृत नहीं हैं।... मंदिर उनके लिए खुल जाय तब भी वे उनमें जाँय या न जाँय,सवर्ण हिन्दुवों का तो परम कर्त्तव्य है ही कि उनके लिये मंदिर प्रवेश पर लगी रोक को हटवाकर ही दम लें[५८] ।

---

५३. नलिनी पंडित, पूर्वोद्धृत, पृ०२०९
५४. कृपलानी, पूर्वोद्धृत, पृ०— १५४
५५. यंग इण्डिया, १४ जनवरी, १९२६
५६. वही, २९ दिसम्बर, १९२०
५७. कृपलानी, पूर्वोद्धृत, पृ०४१५–४१६
५८. कृपलानी, पूर्वोद्धृत, पृ०१४६

मंदिर प्रवेश की दिशा में काम होने लगा। इलाहाबाद, बनारस, कलकत्ता और देशी रियासतों के कई नगरों में अछूतों के लिये कई मंदिर खोल दिये गये[५९]। गाँधी जी ने स्वयं निर्णय किया कि वे उन मंदिरों में नहीं जायेंगे, जिनमें हरिजनों के प्रवेश पर रोक लगी रहेगी[६०]।

१९३७ में जिन प्रान्तों में कांग्रेस विजयी हुई, वहाँ हरिजनों के लिये मंदिर प्रवेश सम्बन्धी कानून बने। ये कानून ही भारतीय संविधान में अस्पृश्यता निवारण के प्राविधानों की पृष्ठभूमि बने[६१]।

महात्मा गाँधी ने हरिजन कार्यकर्ताओं को भी स्वयं में सुधार लाने के लिये प्रेरित किया और कहा कि उन्हें स्वयं हरिजनों में स्वच्छता का प्रचार करने, हरिजनों के गन्दे माने जाने वाले कार्यों की सुधारी हुई पद्धति अपनाने, मांस त्याग न कर सकें, तो कम से कम मदिरा तथा गो-मांस का त्याग करने, बच्चों को पाठशाला भेजने एवं माता-पिता को रात्रिकालीन पाठशालाओं में भेजने एवं हरिजनों में परस्पर छुआछूत को मिटाने का कार्य करना चाहिए[६२]।

महात्मा गाँधी ने कार्यकर्त्ताओं के समक्ष हरिजन बस्तियों को स्वच्छ रखने का व्यावहारिक कार्यक्रम रखा, जो भंगी मुक्ति आन्दोलन कहलाया। गाँधी जी स्वयं दिल्ली में भंगी बस्ती में रहने का आग्रह करते थे। फलस्वरूप उनसे मिलने वालों को उन बस्तियों में जाना पड़ता था[६३]।

हरिजनों के कल्याणार्थ जीवन की बाजी लगा देने के उपरान्त भी गाँधी जी ने किसी भी पद पर जातिगत अथवा वर्गगत विशेषताओं की दुहाई देकर नियुक्त होने की इच्छा की निन्दा की। उच्चतम पद पाने के लिये अपने को योग्य बनाने को गाँधी जी उचित मानते थे और प्रेरित किये जाने के पक्ष में थे[६४]।

---

५९. पूर्वोद्धृत, पृ० १५२, १९३६ में त्रावनकोर रियासत के राजा द्वारा इस सम्बन्ध में एक आदेश शन, पृ०२९८ उद्धृत नलिनी पंडित, पूर्वोद्धृत, पृ०२१५

६०. कृपलानी, पूर्वोद्धृत, पृ०४१६

६१. नलिनी पंडित, पूर्वोद्धृत, पृ०२१५

६२. महादेव भाई की डायरी, दूसरा भाग (नवजीवन संस्करण), १४ नवम्बर, १९३२

६३. हरिजन सेवक, ३१ मार्च १९४६; कृपलानी, पूर्वोद्धृत, पृ०१५३, ४१७

६४. हरिजन, १४ अप्रैल, १९४६

अन्त में हम कह सकते हैं कि महात्मा गाँधी ने सामाजिक न्याय के क्षेत्र में जो अनेकानेक कार्य किये, उनमें अस्पृश्यता निवारण प्रमुख कार्यक्रम था । स्वतन्त्रता के पश्चात् संविधान निर्माताओं ने अस्पृश्यता निवारण के लिये जो कानून बनाया, उसमें सभी दलित आन्दोलनों का योगदान है, तथापि महात्मा गाँधी के अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन का सर्वाधिक योगदान है । गाँधी जी ने उस वर्ग से सम्बन्धित न होते हुए भी उस वर्ग की पीड़ा को महसूस किया और शान्तिपूर्ण ढंग से हरिजनों की वास्तविक भूख, आत्मसम्मान के साथ जीने, समान नागरिकता, मनुष्यवत् व्यवहार, भय से मुक्ति, समान शिक्षा, समान अवसर, को सन्तुष्ट करने का क्रान्तिकारी कार्य कर दिखाया । यही कारण है कि महात्मा गाँधी का यह आन्दोलन दूसरों की तुलना में अधिक सौम्य, प्रभावशाली एवं देशव्यापी रहा ।



वर्तमान समस्यायें और गाँधी

शैलेश कुमार मिश्र*

जब हम आधुनिक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में गाँधी चिंतन पर विचार करते हैं, तो इस बात की आवश्यकता है कि हम गाँधी के उस तत्त्व को पकड़ें, जो चिरंतन और शाश्वत है और जो साम्प्रतिक है, उसे छोड़ दें । ठीक वैसा ही कार्य करना पड़ेगा, जो कोजेवे ने हीगेल के साथ किया । गाँधी वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में बड़े ही भविष्यद्रष्टा थे । **'हिन्द स्वराज'** में उल्लिखित विसंगतियाँ २०वीं शताब्दी के अंत में भविष्यनिर्दिष्ट दस्तावेज के रूप में सामने आती हैं । यद्यपि इसके पहले भी **दासत्वस्की, बर्कहार्ट, हर्जन** आदि ने इस तथ्य को पकड़ा था । दासत्वस्की का एक उपन्यास है 'The Devils' । २०वीं शताब्दी में विज्ञान, विवेक, तकनीकी प्रगति आदि विचार, जिनके आधार पर साम्राज्यवादी शक्तियों ने शासन किया, यह सब दासत्वस्की के उपन्यास में उभरकर सामने आया है।

यह समस्यायें क्या हैं ? पहली समस्या है संशयग्रस्तता । आज का मनुष्य संशयग्रस्त है । एक सामान्य संशय है । जैसे किसी व्यक्ति की जिज्ञासा होती है और वह प्रश्न पूछता है । दूसरा वह संशय है जिसकी अगर सीमा बढ़ जाय, तो मनुष्य पागल हो जाता है । जैसे यह संशय है कि ताला बन्द किया या नहीं । पुन: देखने के बाद फिर संशय । इसको कम्पल्सन न्यूरोसिस कहते हैं । यूरोप के आधुनिक चिंतन का प्रारंभ संशय से हुआ, यह प्रारम्भ **देकार्त** से होता है । यह Radical doubt है । जैसे अगर कोई कहे कि मैं जगा हूँ, तो तुरंत प्रश्न उठेगा कि कैसे मालूम हो सकता है, आप स्वप्न देख रहे हों। यह संदेह तब उत्पन्न होता है, जब आस्था और विश्वास का दूसरा केन्द्र न रहे । **सूरदास** ने कहा है - 'निराधार मन चक्रित धावै' । सत्ता किसकी मानी जाय; इस सम्बन्ध में देकार्त ने कहा कि

---

* प्राध्यापक, सामाजिक विज्ञान विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

सत्ता संदेह करने वाले की है । मैं संदेह कर रहा हूँ, तो मैं बिल्कुल अकेला हूँ । अत: आधुनिक सभ्यता में संशय के साथ निर्वासन की शुरुआत हुई । ईश्वर में आस्था घट गयी । मनुष्य अकेला तो हुआ; लेकिन विज्ञान ने उसे शक्ति दे दी । उसका अहंकार बढ़ गया । इस प्रकार संशय का एक स्वरूप सामने आया कि आस्था के सारे केन्द्र हट गये ।

अब मनुष्य ही स्रष्टा है । मनुष्य की परिभाषा Homofeber के रूप में की गयी । अब मनुष्य सृष्टि नहीं रह गया । विज्ञान, प्रविधि और संशय इन तीनों ने अहंकार और आत्म-निर्वासन को जन्म दिया । इस बात पर जोर दिया कि मनुष्य के लिए किसी कार्य को कुशलता से करना ही लक्ष्य है । बुद्धि की परिभाषा दी गयी कि बुद्धि वह है जो आपको लक्ष्य तक पहुँचने का साधन बताये । विज्ञान ने जिस बुद्धि पर बल दिया वह Instrumental Reason है । इसमें ध्येय प्रधान नहीं होता, कुशलता प्रधान होती है । इस संशय का एक रूप यह हुआ कि हमारे पास कोई ध्येय नहीं है । जीवन का ध्येय है कि आप जीते रहें । जब जीवन का कोई ध्येय नहीं होता है तो एक ही लक्ष्य होता है कि इस मांसल देह को हम बचाये रखें । अत: भोगप्रधान संस्कृति होती चली गयी । सारा विश्व मनुष्य के लिए साधन बन गया ।

मनुष्य ने प्रकृति को भी एक साधन माना और भोगप्रधान वृत्ति में इसका दोहन प्रारम्भ किया । **गैलीलियो** कहता था 'Nature will reveal its secret providing to ask the question in the language nature understand' प्रकृति अपने रहस्य को उद्घाटित करेगी बशर्ते आप उस भाषा में पूछें जिसे प्रकृति समझती है। वह भाषा गणित है, अत: सारी राजनीति, विज्ञान, संस्कृति सब गणितीय हो गया। **देकार्त** ने कहा कि 'Object is to control nature. Nature should be put on the rack. To be exploited, to be mastered, to be controlled'.

इस भोगप्रधान वृत्ति ने प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक मनुष्य का साधन माना। इन सारी अवधारणाओं ने आधुनिक सभ्यता को रोगग्रस्त बना दिया । इसने मनुष्य और प्रकृति के बीच संतुलन को नष्ट कर दिया । **मार्क्यूज, एडार्नो, हैबरमार्क्स** आदि ने इस तरफ इशारा किया था । विज्ञान ने सारे जीवन को उपनिवेश बना दिया । उपनिवेश वह होता है जहाँ आप दोहन करते हैं ।

विज्ञान के इसी क्रम में Quantum Machenics ने विज्ञान की सारी निश्चयात्मकता समाप्त कर दी। उसने यह धारणा रख दी कि जो द्रष्टा है, वही दृश्य का निर्धारण करेगा। एक बार पुनः यूरोप में देकार्त से लेकर आज तक आती हुई सारी धारणा उलट गयी। पदार्थ की अवधारणा बदल गयी। कार्यकारण सम्बन्ध समाप्त हो गये। Quantum Machenies ने यह स्थापित किया कि यूरोप का चिंतन कितना निर्धन है। उसने कहा कि जो वेदान्त में कहा गया है कि हर चीज हर चीज से सम्बन्धित है, वह सही है; इसलिए **स्रोडिंगर** (वैज्ञानिक) वेदान्त पढ़ने लगा था। गाँधी जी कहते थे– ''I am involved in entire world.'' यह जो प्रकृति है, वह अलग नहीं है। इस अवधारणा ने और संशय उत्पन्न कर दिया।

इन सबने अकेलेपन की वृत्ति को जन्म दिया। आधुनिक समय की समस्याओं का रूप १९वीं शताब्दी के चिंतकों ने भी खींचा है। लगभग २०० वर्ष पहले जर्मन कवि **होल्डरलिन** ने इसका चित्र खींचा और कहा कि यह होकर रहेगा। होल्डरलिन की एक कविता का अंग्रेजी अनुवाद है : We are between Gods who have vanished and Gods who are yet to be born, we are in the darkness between Gods who have vanished. हम उस अँधेरे में खड़े हैं, उन कुल देवताओं के बीच, जिनमें से कुछ तो मर गये और कुछ वे हैं, जो अभी उत्पन्न ही नहीं हुए हैं। इसी को **Mathew Arnold** ने कहा कि "We are caught between two worlds, a world which is dead and a world which is powerless to be born" हम दो संसारों के बीच है। एक संसार जो मर चुका है और एक संसार जो अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है।

गाँधी जी ने इस संस्कृति को 'हिन्द स्वराज' में शैतानी करार दिया है; क्योंकि यह उपभोग प्रधान है। यह सभ्यता उन आवश्यकताओं को जन्म देती है, जिनका जीवन-यापन के लिये और मनुष्य के आत्यन्तिक कल्याण से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसमें गरिमा का झूठा प्रदर्शन है। गाँधी जी ने कहा कि यह शैतानी इसलिये है; क्योंकि इसमें आसुरीभाव है। आसुरीभाव वह है जो उपभोग प्रधान है। किसी भी भागवतभाव को वह टिकने नहीं देता। रावण के मन में थोड़ी देर के लिये आया कि 'खरदूषण मो सम बलवन्ता। इन्हें को मारे विन भगवन्ता' ॥ उसे लगा कि भजन करना चाहिए। फिर उसे लगा कि 'भजन होइ नहिं तामस देहा'।

गाँधी जी ने कहा कि इस सभ्यता ने मनुष्य का अमानवीकरण कर दिया है। उनका मानना था कि इस सभ्यता ने मनुष्य में जो ईश्वर की दी हुई शक्ति और क्षमता थी, उसके प्रयोग से वंचित करना शुरू कर दिया है। **इवान इलिच** ने भी इस ओर संकेत करते हुए कहा कि हम एक नई प्रकार की निर्धनता के आदी हो गये हैं । इस सम्पन्नता में निर्धनता यह है कि हम ईश्वर की दी हुई क्षमता का प्रयोग नहीं कर रहे हैं। जो प्राकृतिक क्षमता हमारे भीतर थी, उससे हम वंचित होते जा रहे हैं ।

इसके अतिरिक्त एक निर्धनता है, संवेदात्मक निर्धनता । हम संवेदनाशून्य होते जा रहे हैं । आज मनुष्य की संवेदना मात्र दिखावे की संवेदना है। मनुष्य और प्रकृति का जो साहचर्य था, उसका बोध हमारे भीतर नहीं हुआ । कवियों तथा अन्य लोगों ने इसे विभिन्न प्रकार से चित्रित किया है । T.S. Iliot ने अपनी कविता "The Waste Land" में बखूबी चित्रित किया है । गाँधी जी कहते थे कि हर मनुष्य को हर मनुष्य में अनुरागयुक्त रूप में मिलना चाहिए । इसलिए गाँधी जी के आश्रम में आश्रमवासियों के लिए कुछ नियम थे । उस नियम के अनुसार गाँधी जी सामूहिक जीवन का संचालन करते थे ।

गाँधी जी के सारे चिन्तन का अधिष्ठान करुणा है । अगर हम यह कहें कि हमारा कर्तव्य आपकी रक्षा करना है, तो कर्तव्यबोध से कार्य नहीं होता । गाँधी के सारे चिन्तन में मातृशक्ति की अवधारणा है । उनका कहना था कि करुणा तब तक महाकरुणा नहीं बनती, जब तक आप सारे संसार को मातृवत् नहीं देखते । इसके लिए गाँधी बाइबिल की एक उक्ति कहा करते थे "Love thai neighbour as you love thaiself", जिस प्रकार तू स्वयं को प्यार करते हो, उसी प्रकार अपने पड़ोसी को प्यार करो । यह बड़ी कठिन साधना है। मनुष्य अमूर्त मनुष्य से तो प्रेम कर सकता है, वह मानवाधिकार पर भाषण देगा, प्रस्ताव पास करेगा; लेकिन जो बगल का पड़ोसी है, उससे स्नेह करने पर पता चलेगा कि यह कितना कठिन है। यहाँ स्वदेशी का विचार भी है । पहले व्यक्ति को अपने पास जो संसाधन हैं, उनसे अपनी आवश्यकता पूरी करनी चाहिए, फिर आप बाहर जाइए । प्रश्न यह है कि व्यक्ति का पड़ोसी उसे किस रूप में देखता है। अगर वह भला मानस माने, तब सफलता है। यह संवेदनात्मक निर्धनता तभी समाप्त होगी, जब करुणा का प्रयोग

होगा । अधिकार और कर्तव्य की भाषा बोलने से समाज की समस्याओं का कोई समाधान नहीं होगा । इसलिए गाँधी न व्यक्तिवादी थे, न समिष्टवादी थे । अगर कर्तव्य मानकर कोई त्याग किया जाय, तो वह त्याग नहीं है । करुणा के वशीभूत होकर कोई कार्य किया जाय, जिसमें माता की करुणा के सदृश सहज भाव हो, वह त्याग है । आधुनिक समय में करुणा और सहजता दोनों समाप्त हो गयी हैं। गाँधी जी ने अपने जीवन में करुणा और सहजता के निरन्तर प्रयोग से हेगेल की इस मान्यता को निरस्त किया कि दार्शनिक पीछे देखते हैं। वह सभ्यता को समझते हैं; किन्तु बदल नहीं सकते । गाँधी कर्मयोगी थे ।

उनमें सहजता ऐसी थी कि अपने विचारों के प्रति उन्मादियों की भाँति कोई आग्रह नहीं था । गाँधी जी बार-बार कहते थे कि मैंने अभी सत्य को पाया नहीं है, मैं उस पथ पर हूँ जो सत्य की ओर ले जाता है । हेडेगर भी कहता था- 'I am on the way' गाँधी और हेडेगर दोनों यह मानते थे कि सत्य का स्वरूप धीरे-धीरे प्रकट होता है । सत्य को जितना अनुभाषित करेंगे, उतना ही हम अपने को समझने में सहायक होंगे ।

वस्तुत: आज की समस्याओं के मूलतत्त्व को गाँधी ने पकड़ा । उनका न केवल समाधान प्रस्तुत किया; बल्कि अपने जीवन में उनको प्रयोग करके प्रमाणित भी किया । यह सही है कि जीवन में जो कल्याण की अवधारणा है, वह ऐसे ही महापुरुषों के आदर्शों पर चलने से सम्भव होती है; लेकिन यह भी जानना चाहिए कि कल्याण की हमारी अवधारणा क्या है ? अगर हम यह समझते हैं कि गाँधी मार्ग पर चलने से ऐन्द्रिक सुख प्राप्त होगा, तो हम इस दिवास्वप्न में न रहें।



डॉ. अम्बेडकर और नव बौद्ध आन्दोलन : देश और दलितों के लिए दार्शनिक आधार की तलाश

डॉ. रजनीश कुमार शुक्ल*

उन्नीसवीं शताब्दी में महात्मा ज्यातिबा फूले ने सत्य-शोधक समाज के माध्यम से जाति-व्यवस्था और जन्म के आधार पर श्रेष्ठता के निर्धारण के विरुद्ध एक प्रभावशाली आंदोलन खड़ा किया। जातिविरोधी संघर्ष की यह परम्परा छत्रपति साहू जी, महात्मा पेरियार तथा आगे चलकर डॉ. अम्बेडकर तथा उनके बाद विभिन्न प्रकार के अम्बेडकरवादी आन्दोलनों में स्पष्टत: दिखाई देती है। अम्बेडकर के पूर्व का दलित आन्दोलन अपनी सम्पूर्ण प्रखरता के बाद भी स्थायी और वर्धनशील आकार ग्रहण करता हुआ नहीं दिखाई देता है; क्यों कि इस आंदोलन में सामाजिक प्रश्नों के प्रति जागरूकता के होते हुए भी विषमता को तोड़कर समरस समाज निर्माण की प्रबल आकांक्षा को पर्याय रूप देने के लिये, जिस अवधारणात्मक संरचना की आवश्यकता थी, वह तब तक संरचित नहीं हो सकी थी।

डॉ. अम्बेडकर ने अवधारणात्मक समाजदृष्टि को स्पष्ट करते हुए १९१६ में कोलम्बिया विश्वविद्यालय के मानवशास्त्र-विभाग में अपने व्याख्यान में 'कास्ट्स इन इण्डिया' में भारतीय जातियों की संरचना को स्पष्ट किया, जो दलित आन्दोलन की दार्शनिक अवधारणा की पूर्वपीठिका बनी। वे कहते हैं कि जाति एक स्वयं मर्यादित संस्था है, उसमें भोजनादि सामाजिक व्यवहारों पर बंधन डाले जाते हैं। विवाह बन्धन से ही जाति सुरक्षित रह सकी है । जाति के अन्तर्गत विवाह का बन्धन भूतकाल में भी कठोर था और आज भी है। इसका फलितार्थ निकालते हुए

---

* प्राध्यापक, तुलनात्मक-धर्म-दर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. अम्बेडकर सिद्ध करते हैं कि 'जाति के अन्तर्गत विवाह ही जाति-व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए कारणीभूत है और यह व्यक्ति समूह से न निर्मित होकर वर्ण-समूह से बनता है। वर्ग चेतना में परिवर्तन होने का आधार श्रद्धा है। अपने-अपने दड़बों में बन्द ये जातियाँ औरों के लिए अपने दरवाजे भले ही बन्द रखती हों, पर इन सबके बीच एक सांस्कृतिक एकता अवश्य है; क्योंकि एक प्रकार की बृहद् और गंभीर सांस्कृतिक एकता रखने वाले समाज का अत्यन्त छोटा हिस्सा जाति है। यह शुरुआत एक और प्रथम जाति से होती है और अनुकरण तथा बहिष्कार से जाति की संख्या बढ़ती जाती है । बाद में एम. एन. श्रीनिवासन ने संस्कृतिकरण की अवधारणा से इसे स्पष्ट किया।

बाबा साहब ने हिन्दू समाज में चल रहे सुधारात्मक आन्दोलनों की व्यापक समीक्षा की और वे कहते हैं कि आज तक के समस्त सुधार आन्दोलन (यह लेख उन्होंने १९३५ में लिखा था) केवल जाति की अन्तर्वर्ती समस्याओं को ही सुलझाने के लिए हुए हैं । अत: ये पारिवारिक सुधार आन्दोलनों से कुछ अधिक महत्त्व नहीं रखते । हिन्दू-समाज की सकल पुनर्रचना का आन्दोलन अभी तक शुरू नहीं किया गया है और 'विधवा-विवाह', 'बाल-विवाह', 'शराब-बन्दी' इत्यादि के जो आन्दोलन सुधार कार्यक्रम के रूप में स्वीकृत किये गये हैं, वे सभी व्यक्ति और 'परिवार' के साथ ही सरोकार रखते हैं। डॉ. अम्बेडकर का यह अभिकथन अत्यन्त कठोर अनुभव के धरातल पर खड़ा है; क्योंकि १९२७ में उन्हें महाड सत्याग्रह तथा १९३० में काला राम मन्दिर सत्याग्रह में समाज सुधार के पुरोधाओं का, जिसमें युग-पुरुष गाँधी भी शामिल हैं, प्राप्त उपेक्षा का अनुभव अत्यन्त प्रत्यक्ष था। वे मानते हैं कि हिन्दू समाज की पुनर्रचना के लिए एक बड़े और प्रभावशाली आन्दोलन की आवश्यकता है; किन्तु यह जाति तोड़ने से कम किसी अन्य शुरुआत से सम्भव नहीं है । यह 'अन्तर्जातीय विवाह' के एकमात्र साधन के उपक्रम से प्रारंभ होती है; किन्तु यह कठिन है; क्योंकि हिन्दू समाज में जाति और विवाह इन दोनों को मनुष्यकृत होने तथा मनुष्य-कर्म होने के बाद भी अत्यन्त पवित्रता तथा धार्मिकता का रूप दिया गया है। अत: इसे तोड़ना कठिन है और इसकी शुरुआत नीचे से संभव नहीं है, अत: ऊपर से होनी चाहिए; किन्तु ऊपरी वर्ग हिन्दू समाज की पुनर्रचना के प्रश्न उठाना ही नहीं चाहता है। यत: चातुर्वर्ण्य

व्यवस्था ही जातिवादी जड़ता का दार्शनिक आधार है और इस दार्शनिक आधार को तर्क-बुद्धि से अधिक धार्मिक विश्वास का अवलम्बन प्राप्त है। अत: इसको खण्डित करना है, तो धर्म पर ही प्रहार करना होगा। इसीलिए धर्म को डॉ. अम्बेडकर ने सामाजिक पुनर्रचना के क्रान्तिकारी माध्यम के रूप में ग्रहण किया ।

यहाँ यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि डॉ. अम्बेडकर धर्म को स्पष्ट रूप से दो हिस्सों में देखते हैं, प्रथम - देशधर्म, द्वितीय-उपासनाधर्म । देशधर्म की दृष्टि से प्रखर राष्ट्रवादी विचारों को प्रस्तुत करते हुए स्पष्टत: दलित वर्ग को हिन्दू संस्कृति के अनिवार्य भाग के रूप में मानते हैं और इस देश के मूल और आदिम निवासी के रूप में दलितों की भारतीय राष्ट्रीयता को प्रभावी और पुख्ता बनाते हैं। यही कारण है कि १९३५ में जब उन्होंने धर्म परिवर्तन की घोषणा की, तो उसके पश्चात् ईसाई और इस्लाम धर्म से उनको लगातार आमन्त्रण और प्रलोभन प्राप्त होते रहे; किन्तु बिना किसी जल्दबाजी के १९३५ में मानसिक धर्म परिवर्तन के बाद २१ वर्षों के सोच-विचार तथा विविध अनुभवों को सहेजने के पश्चात् उन्होंने प्रत्यक्ष धर्म-परिवर्तन किया।

१७ दिसम्बर, १९४६ को संविधान-निर्मात्री-सभा की बैठक में उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद की ताकतों और कमजोरियों की विस्तृत चर्चा की, जिससे भारतीय राष्ट्रीयता के प्रति उनकी अटूट निष्ठा को समझा अथवा देखा जा सकता है। उन्होंने उस बैठक में कहा था कि 'हम लोगों में आपस में कलह जारी है, मैं जानता हूँ कि मैं खुद भी कलह करने वालों में एक दल का नेता हूँ। इतना सब होते हुए भी मुझे इस बात का पूरा विश्वास है कि समय आने और हालात बदल जाने पर कोई ऐसी बात नहीं हो सकती है, जो इस देश को एक राष्ट्र बनने से रोक सके । हमारी जाति-पाँति और हमारे मत-मतान्तरों के होते हुए भी मुझे यह कहने में जरा भी हिचक नहीं होती कि किसी-न-किसी रूप में हम एक राष्ट्र बनकर रहेंगे'।

इससे यह स्पष्ट है कि डॉ. अम्बेडकर भारत की सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के एकात्म के भविष्य के प्रति पूरी तरह से निश्चिन्त थे। उनकी चिन्ता का विषय दलितों के उपासनाधर्म को लेकर के ही था। उपासनाधर्म की खोज में उन्होंने भारत में प्रचलित सभी मतों की परीक्षा की । ईसाई धर्म में सीरियाई और इजावा, नाडार

और गैर नाडार के बीच ऊँच-नीच के अन्तर तथा उसका भारत के प्रति बाहरीपन उन्हें खला और इस्लाम की परीक्षा में, अशरफ और अजलाफ के श्रेणी विभाजन और अरजल वर्ग के रूप में दलित भाव की स्वीकृति के कारण उन्हें यह भी रुचिकर नहीं लगा। सिख्खों में सिख्ख और मजहबी सिख्ख का भेद भी उन्हें स्वीकार्य नहीं था। भारत में प्रचलित सभी धर्मों में इन रोगों को देखकर उन्होंने हिन्दू समाज की व्यापक पुनर्रचना के प्रश्न पर लम्बे समय तक विचार किया और भारत की प्राचीन संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण धारा के रूप में श्रमण-संस्कृति, जो उस काल-खण्ड में भारत में प्रायशः लुप्त हो चुकी थी, को जागृत और प्रचारित करने का निश्चय किया। डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण समाज की पुनर्रचना के स्वप्नद्रष्टा थे । सुधार के छोटे उपायों के स्थान पर सम्पूर्ण नये ढाँचे को गिराकर नई इमारत खड़ी करना चाहते थे; किन्तु इसके लिए उन्हें पुरानी नींव की आवशकता थी और कुशीनारा के खण्डहरों से निकली बुद्धवाणी उन्हें इस नींव के रूप में दिखाई दी। बुद्ध के धम्म पर किसी वर्ग का स्वामित्व नहीं था । यह धम्म अपने ही देश में परायों के द्वारा पालित-पोषित था । अतः इसको स्वीकार करके समाज-रचना के आन्दोलन को खड़ा करना सरल था।

धर्म के सम्बन्ध में अम्बेडकर की कुछ अपनी मान्यताएँ थीं । वे मानते हैं कि व्यक्ति के सद्गुणों का विकास, यही सच्चे धर्म का अन्तिम उद्देश्य है । उन्होंने धर्म की इस भारतीय परिभाषा के साथ सहमति प्रकट की कि, जिससे प्रजा को धारण किया जाता है वह धर्म है तथा इसमें आधुनिकता का पुट देते हुए बन्धुत्व, समता और स्वतन्त्रता के सद्गुणों के विकास का माध्यम माना।

१९५१ में 'महाबोधि' पत्रिका में प्रकाशित एक लेख में उन्होंने लिखा है कि हिन्दू धर्म एक ऐसा धर्म है, जो नैतिकता पर आधारित नहीं है। यह एक शक्ति का पृथक्करण है, जो सामाजिक आवश्यकताओं पर आधारित है। बौद्धधर्म नैतिकता है, यह वास्तविक धर्म है। यदि नैतिकता नहीं है, तो बौद्धधर्म, धर्म नहीं है। ईश्वर के स्थान पर यहाँ नैतिकता है। अन्य धर्म में जहाँ ईश्वर है, वहाँ बौद्धधर्म में नैतिकता। इसी लेख में कहते हैं कि धर्म व्यक्ति के सामाजिक दाय का अंग है, व्यक्ति का जीवन सम्मान और अभिमान से लगा हुआ है। इसे पूर्णतः त्यागना आसान नहीं है। इस लेख में उन्होंने स्पष्ट किया है - 'मेरा धर्म सही है या गलत

है' ऐसा कहा जा सकता है । इसलिए धर्म में यदि कोई गलती है, तो उसे सुधारा जाना चाहिए और सुधारा जाना संभव न हो तो उसे बदल देना चाहिए।

किन्तु धर्म-परिवर्तन की सर्वविध संभावनाओं के साथ ही यह भी मानते हैं कि जिस प्रकार धर्म बदला जाना संभव है, समूह में बदला जाना संभव है । उस प्रकार से देश का परिवर्तन संभव नहीं है । चूँकि देश का परिवर्तन संभव नहीं है, अत: देश के अनुकूल और अनुरूप धर्म ही अपेक्षित है। इसलिए नवम्बर १९५६ में सारनाथ भाषण में उन्होंने स्पष्ट आह्वान किया कि अछूत और दलित ऐसे धर्म को अपनायें, जिसमें मानव और मानव में कोई भेद न हो, समानता और भ्रातृत्व के अधिकार प्राप्त हों। इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अछूतों के, दलितों के मूल दर्द को समझा था। दलितों की स्थिति का सुधार एक ऐसी दार्शनिक अवधारणा की स्थापना से ही संभव था, जो उन्हें शास्त्रविहीनता और धर्मविहीनता से मुक्त करे, शताब्दियों की गुलामी से मुक्ति दिलाये, और यह बौद्ध-धर्म में सर्वविध संभव दिखाई दिया। बाबा साहब ने तत्कालीन सामाजिक समस्याओं के समाधान और सर्वस्वीकार्य समाज की स्थापना के चार सूत्र निकाले–

१- व्यवस्था-परिवर्तन

२- सद्भाव-निर्माण

३- संघर्ष

४- अहिंसक सम्बन्धों का विकास

ये चारों सूत्र बौद्ध-धर्म के सार्वदेशिक और सार्वकालिक विकास की महनीय यात्रा से निगमित होते हैं। बाबा साहब की यह दृष्टि राजसत्ता के दखल के अल्पकालीन लक्ष्यों से पूरित नहीं होती है। यह एक दीर्घकालीन लक्ष्य है और नवबौद्ध आन्दोलन इसका साधन है। बाबा साहब के काल में यह भी प्रश्न उठा था कि दलितों का उत्थान धम्म की अपेक्षा धर्मविहीन वैज्ञानिक और बौद्धिक सामाजिक आंदोलन के माध्यम से सहजता से हो सकता है। इसका विरोध करते

हुए २० नवम्बर, १९५६ को काठमांडू में हुए विश्व बौद्ध भ्रातृत्व सम्मेलन में उन्होंने कहा था कि जब तक व्यक्ति का हृदय परिवर्तन नहीं होता, तब तक संसार का सुधार असम्भव है। यदि लोग हृदय से साम्यवाद के कायल हो सकते हैं और निष्ठापूर्वक आचरण करने के लिए तैयार हैं, तो निश्चय ही यह व्यवस्था स्थायी होकर रहेगी; किन्तु साम्यवाद जोर-जबरदस्ती पर आधारित है और जोर-जबरदस्ती पर आधारित कोई व्यवस्था स्थायी नहीं हो सकती । इसके विपरीत बौद्ध-धर्म पूर्णतया जनतांत्रिक है। बुद्ध ने संघ को भी पूर्णतया जनतांत्रिक बनाया तथा जनतंत्र ही व्यक्ति के सम्मान का रक्षक हो सकता है। इस प्रकार अम्बेडकर ने अपने अनुयायियों को लोकतंत्रात्मक राज्य से संवाद और संसक्तता बनाने के लिए लोकतंत्रात्मक आध्यात्मिक धम्म की ओर प्रेरित किया।

अब प्रश्न यह है कि बुद्ध-शासन में दीक्षित होने के दो माह बाद ही डॉ. अम्बेडकर का परिनिर्वाण हो गया, अन्यथा भारत में बौद्ध-धर्म के पुनर्जागरण का यह आन्दोलन किस दिशा में जाता, इसके बारे में अंदाज लगाना कुछ कठिन है। बाबा साहब १९१६ में कोलम्बिया विश्वविद्यालय में दिये गये शुरुआती व्याख्यान से २० नवम्बर, १९५६ के अन्तिम व्याख्यान तक एक ऐसी दार्शनिक पृष्ठभूमि की तलाश में जुटे हुए थे, जो अनुभव से विकसित होती है और प्रत्यक्ष से परीक्षित होती है। शायद यह धम्म का नया रूप होता; क्योंकि अपनी पुस्तक (Buddha and his Dhamma) में वे एक ऐसी स्थिति की कल्पना करते हैं, जिसमें पुनर्जन्म की भी आवश्यकता न हो और बुद्ध के विचारों में उसके सूत्र तलाशने की कोशिश स्पष्टतः परिलक्षित होती है; क्योंकि महाड और कालाराम मन्दिर के बाद उन्होंने हिन्दू धर्म में परिष्कार के प्रयास छोड़े और समूल परिवर्तन के लिए नये धम्म-संघ की स्थापना की।



आचार्य नरेन्द्रदेव : एक समाजवादी दृष्टिकोण

डॉ० रीता सिंह*

भारत में समाजवादी विचारधारा को, जो पूँजीवादी और उदारवादी विचारधारा की भाँति विश्वव्यापी है । भारतीय परिस्थितियों और भारतीय समाज एवं संस्कृति के सन्दर्भ में पुनः व्याख्या करने का महत्त्वपूर्ण कार्य गत ६० वर्ष में हुआ । इस कार्य को करने में मुख्य रूप से डॉ० लोहिया, डॉ० आचार्य नरेन्द्रदेव, श्री जयप्रकाश नारायण एवं गाँधी जी का नाम उल्लेखनीय है । ये विचारक लोकतन्त्र तथा समाजवाद जैसे नये तत्त्वों को भारतीय भूमि के अनुकूल बनाने में सैद्धान्तिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे । भारतीय समाजवाद की विचारधारा, रीति-नीति पर गाँधी जी के विचारों एवं कार्यों का बहुत प्रभाव पड़ा।

आचार्य नरेन्द्रदेव जी ने पहले इस विचार को प्रतिपादित किया कि समाजवाद केवल रोजी-रोटी या सम्पत्ति के स्वामित्व का सवाल नहीं है, वरन् मूलतः एक नई और उन्नत मानव संस्कृति का अभियान है । नैतिक और आध्यात्मिक विशिष्टता प्राप्त करने का प्रयत्न करना वर्ग संघर्ष का अविच्छेद्य अंग है । इस बात पर समाजवाद के प्रमुख नेताओं ने निरन्तर जोर दिया है । मार्क्स ने लिखा कि मजदूरों के लिये मजदूरी में वृद्धि होना उतना आवश्यक नहीं, जितना कि वर्ग-संगठन, एकता तथा अपने उद्देश्यों के लिये त्याग आवश्यक है । रोजा लक्जमबर्ग ने एक अवसर पर कहा कि समाजवाद रोटी-मक्खन का सवाल नहीं है, यह एक विश्वव्यापी सांस्कृतिक आन्दोलन है । यदि मजदूर वर्ग को इतिहास ने समाजवाद का उपकरण बनाया है, यदि समाजवाद की स्थापना करना उसका इतिहासनिर्दिष्ट काम है, तो इसमें सन्देह नहीं कि मजदूर वर्ग को बौद्धिक तथा

* प्रवक्ता– समाजशास्त्र विभाग, वसंत कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी

नैतिक दृष्टि से इस कार्य को संपन्न करने के लिये अपने को तैयार करना होगा। यह कार्य शिक्षा-दीक्षा के बिना सम्भव नहीं है । नया समाज वर्गविहीन होगा और उसका आधार सच्ची स्वतन्त्रता, समानता, समाज के न्याय और भाई–चारा होगा। यह आदर्श एक नई संस्कृति को जन्म देगा । इस अवस्था में मजदूरों को सांस्कृतिक शिक्षा की ओर भी ध्यान देना चाहिए ।

आचार्य नरेन्द्रदेव जी मूलतः मार्क्सवादी चिन्तक थे । वे मार्क्स, एंजिल्स, रोजा लुक्समबर्ग के साथ-साथ लेनिन से भी प्रभावित थे । कार्ल मार्क्स के समाजवादी चिन्तन का उन्होंने गहन अध्ययन किया । वे मार्क्स के समस्त सिद्धान्तों को उसी रूप में स्वीकार नहीं करते थे ।

वे वास्तव में एक वैज्ञानिक समाजवादी थे । आपका कहना था कि हमारे सामने जो कार्य है, उसे हम तभी पूरा कर सकते हैं, जब हम समाजवाद के सिद्धान्तों और उद्देश्यों को अपना लें और मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक पद्धति को समझ सकें तथा उसे अपने क्रिया-कलापों का आधार बनाने का प्रयत्न करें ।

नरेन्द्रदेव जी मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद से सहमत थे । उनका कहना था कि पूँजीवाद की एकाधिकार प्रवृत्ति पूरे समाज पर हावी होती जा रही है । ऐसे में समाज के पास एकमात्र विकल्प है कि वह वैज्ञानिक समाजवाद को अपनाये । भारत की आर्थिक, सामाजिक समस्याओं का निराकरण वर्ग-संघर्ष के द्वारा ही सम्भव है । आचार्य जी ने अपने ऊपर पड़े गाँधी जी के प्रभाव को कभी नकारा नहीं; किन्तु वर्ग-संघर्ष के प्रति अपनी आस्था को भी समाप्त नहीं कर सके। वर्ग संघर्ष उनकी दृष्टि में समाजवाद के दर्शन का अभिन्न अंग है । १९५० में अपने एक लेख में उन्होंने कहा कि सत्याग्रह को स्वीकार करने से मार्क्सवाद के किसी सिद्धान्त को कोई क्षति नहीं पहुँचती और उससे मार्क्सवाद और गाँधीवाद का समन्वय नहीं होता । मार्क्सवाद को हिंसा का शौक नहीं है । यदि अहिंसा के उपायों से लक्ष्य की प्राप्ति हो, तो इससे बढ़कर दूसरी बात नहीं । इससे ऐसा प्रतीत होता है; कि वर्ग-संघर्ष और सत्याग्रह एक-दूसरे के विरोधी हैं । आप गाँधी के सम्पर्क में आये अवश्य थे; किन्तु मार्क्सवाद को गाँधी की शिक्षा के अनुरूप बनाने की कोशिश नहीं की ।

आचार्य नरेन्द्रदेव जी मार्क्सवादियों के दर्शन के आधार पर भारत में समाजवाद नहीं लाना चाहते थे और न वे इसके पक्षधर ही थे । वे तो भारतीय समाज को जिस युग चेतना और आदर्श से परिचित कराने का प्रयास कर रहे थे, उनका आधार राष्ट्रीयता, जनतन्त्र और समाजवाद था । वे आर्थिक और सामाजिक समानता के आधार पर समाज की रचना करना चाहते थे । आचार्य जी की दृष्टि में स्वतन्त्रता का तात्पर्य आर्थिक और सामाजिक समानता की व्यवस्था करना था और समाज को शोषण-विहीन बनाना था । इसके लिये उन्होंने कभी-कभी नेहरू की भी कटु आलोचना की, जब वे लोकहित की बातों में टालमटोल कर रहे थे।

आचार्य जी का यह मानना था कि समाजवाद एक नैतिक दर्शन है; किन्तु समाजवाद की प्राप्ति वर्ग-संघर्ष के अभाव में नहीं की जा सकती । समाजवाद को लाने के लिये एक सुसंगठित और नियोजित क्रान्ति की आवश्यकता होगी । भारत की गरीब, भूखी और शोषित जनता न्याय पाने के लिये अनन्त काल तक हृदय परिवर्तन का इन्तजार नहीं करेगी । वे सत्त्वहारों का सत्यहरण के मार्क्सवादी संकल्प के निकट थे । उनका कहना था कि इस देश के किसान विद्रोह कर जमीदारों की जमीन पर कब्जा कर लेंगे और किसी को कोई मुआवजा नहीं देंगे । उन्होंने नि:संकोच और वर्ग-विहीन समाज के उद्देश्यों को स्वीकार किया और उस समय जब भारत के राजनीतिक रंगमंच पर सत्ता का हस्तांतरण हो रहा था, तो एक अवसर ऐसा आया, जब उन्होंने अहिंसा सम्बन्धी नीति के सिवा कांग्रेस समाजवादी दल की नीतियों और विचारों से अपनी पूर्ण सहमति व्यक्त की । अहिंसा पर सहमति होने की दशा में वे कांग्रेस समाजवादी दल का सदस्य बनने को तैयार थे।

नरेन्द्रदेव जी को बल प्रयोग से कोई नैतिक आपत्ति नहीं थी । वास्तव में कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं, जब बल प्रयोग को वर्जित नहीं किया जा सकता, साथ ही साथ यह भी कहते थे कि बल प्रयोग सभी प्रकार के बदलाव के लिये आवश्यक भी नहीं है । बाद में नाभिकीय प्रौद्योगिकी विकास, बम, विनाशकारी शस्त्रों के निर्माण हो जाने पर वे जीवन के अन्तिम दिनों में इस मत के हो गये थे कि सामाजिक क्षेत्र में बल प्रयोग निषिद्ध हो जाना चाहिए । नैतिक आधार पर नहीं, बल्कि तार्किक आधार पर हिंसा का पूर्ण परित्याग करने की बात से यह विदित होता है कि नरेन्द्रदेव जी इस विषय में सचेत थे कि वैज्ञानिक आविष्कारों, शिक्षा व मानव के प्रयास ने समाज को प्रगति की एक उच्चतर अवस्था पर लाकर

खड़ा कर दिया है, जिसमें कतिपय मौजूदा स्थापनायें और मान्यतायें निरर्थक हो गयी हैं । ऐसे में मानव को सतर्क और सचेत रहने की आवश्यकता है ।

वे सामाजिक क्रान्ति को नई चेतना, मूल्य, आदर्श के साथ चलाने के पक्ष में थे; पर वे, आर्थिक क्रान्ति को भी कम महत्त्व नहीं देते थे; क्योंकि आर्थिक क्रान्ति के अभाव में एक वास्तविक और वैज्ञानिक समाजवाद की स्थापना सम्भव नहीं है । उन्हीं के शब्दों में जब तक श्रमिक और किसान अपने वर्ग हितों के आधार पर संगठित नहीं होते और जब तक उनका आर्थिक संघर्ष पूर्ण स्वाधीनता के आन्दोलन से नहीं सम्बद्ध हो जाता, किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन की अपेक्षा नहीं की जा सकती है।

उस समय परिवर्तनवादियों के मध्य दो विचार पनपे । एक मत के लोगों का यह मानना था कि यदि व्यक्ति में परिवर्तन होगा, तो समाज को बदलना सरल होगा । दूसरे मत के मानने वालों का कहना था कि समाज को बदले बिना व्यक्ति में परिवर्तन सम्भव नहीं है । नरेन्द्रदेव जी व्यक्ति और समाज के प्रश्न पर किसी एक का पक्ष लेने को वे तैयार नहीं थे । वे मानव को सर्वोपरि मानते हुए भी दोनों में बदलाव चाहते थे, साथ ही दोनों की एकात्मीयता में विश्वास करते थे । आपका कहना था कि व्यक्ति और समाज दोनों में परिवर्तन आवश्यक है; किन्तु अलग-अलग या आगे-पीछे नहीं, वरन् साथ-साथ होना चाहिए । जैसे— परिस्थितियाँ मनुष्यों को बनाती हैं, वैसे ही मनुष्य परिस्थितियों को बनाता है । नैतिकता की उत्पत्ति के लिए सामाजिक प्रणाली और मनुष्य के क्रियाकलापों में साथ-साथ परिवर्तन जरूरी है ।

इस कथन के साथ यह भी जानना आवश्यक है कि आचार्य जी ने समाजवाद की मानवीय व्याख्या की है । वे मानवीय गुणों को विशेष महत्त्व देते थे । मार्क्सवाद के जनतांत्रिक और मानवीय तत्त्वों का वैज्ञानिक विश्लेषण भी किया है । वे मानवता-वाद को समाजवाद की रीढ़ भी कहते थे । आपका कहना था कि 'समाजवाद' एक सांस्कृतिक आन्दोलन है, जिसके केन्द्र में मानव है । समाजवाद में मानव सर्वोपरि है । मानव के उत्थान और प्रगति को कम करने वाला कोई भी दर्शन व सिद्धान्त समाजवाद को स्वीकार नहीं है; क्योंकि मानव के

विकास में ही समाज का विकास समाहित है । वास्तव में समाजवाद की इकाई एक व्यक्ति है । प्रत्येक व्यक्ति का उत्कर्ष समाजवाद में ही संभव है । एक व्यक्ति के विकास का तात्पर्य है दूसरे व्यक्ति की भी उन्नति । आपका कहना है कि समाजवाद प्रचलित समाज का संगठन करना चाहता है, जिससे वर्तमान परस्पर विरोधी स्वार्थों वाले शोषण और शोषित, पीड़क और पीड़ित वर्गों का अन्त हो जाय । वह सहयोग के आधार पर संगठित व्यक्तियों का ऐसा समूह बन जाय, जिसमें एक सदस्य की उन्नति का अर्थ स्वभावतः दूसरे सदस्य की उन्नति करते हुए जीवन व्यतीत कर सके ।

समाजवाद शोषण से जीवन्त समाज बनाना चाहता है, साथ ही साथ मजदूरों में नैतिकता की बात भी करता है ।

आचार्य जी का कहना है कि 'समाजवाद' की लड़ाई मजदूर वर्ग से नैतिक उत्कर्ष की अपेक्षा करती है । यदि हम नैतिक आधार पर पूँजीवाद को घृणित बताते हैं, तो हमको नैतिक स्तर पर समाज को एक नवीन दृष्टि देनी चाहिए । नैतिकता के अभाव में समाजवाद की कल्पना भी सम्भव नहीं है । व्यक्ति के नैतिक मूल्य ही उसको अलग व्यक्ति से जोड़ते हैं, परस्पर सहयोग की भावना को जन्म देते हैं, जिससे एक ऐसे समाज की रचना होगी, जिसमें एक व्यक्ति दूसरे का हक न छीन। यदि हम पूर्ण रूप से नैतिक समाज न बना पायें, तो अवश्य विकृत समाज बनेगा।

भूदान और सर्वोदय आन्दोलन के विषय में आचार्य जी का यह मानना है कि इस आन्दोलन ने जनता के अभिक्रम को तथा सामाजिक चेतना को बढ़ाया है और गरीब किसानों की एक बड़ी संख्या में अपने से गरीब तथा भूमिहीन किसानों के साथ भूमि की हिस्सेदारी की भावना पैदा की है । इस तरह ये आन्दोलन किसानों में सामाजिक एकजुटता को बढ़ा रहे हैं । आशा की जाती है कि इस आन्दोलन से तद्-विषयक कानून निर्विलम्ब बनाने में मदद मिलेगी और यदि सरकार ऐसा नहीं करती है, तो इससे सामूहिक सत्याग्रह का मार्ग प्रशस्त होगा। यह दल व्यक्तिगत संपत्ति के अपरिमित अधिकार पर किये गये आक्रमण का इसलिए स्वागत करता है कि यह सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में सहायक है। साथ ही संतोष की बात यह है कि भूदान आन्दोलन के प्रभाव से किसानों ने कुछ गाँवों में अपनी पूरी भूमि का स्वामित्व एवं प्रबन्ध स्वेच्छा से ग्राम समुदाय को

हस्तांतरित कर दिया है । इससे यह स्पष्ट होता है कि नरेन्द्रदेव जी ने भूदान आन्दोलन को समाजवाद का विरोधी नहीं माना । बल्कि उनका विचार था कि समाजवाद और भूदान एक-दूसरे के पूरक और सहायक हो सकते हैं । इसके साथ ही उन्होंने इस बारे में सचेत भी रहने को कहा कि पूरक पर ही निर्भर नहीं हो जाना चाहिए; क्योंकि पूरक कभी मूल का विकल्प नहीं हो सकता ।

नरेन्द्रदेव जी वैज्ञानिक पद्धति में पूर्ण विश्वास रखते थे । सतत विकासमान समाज विश्लेषण में वे दृढ़तापूर्वक वस्तुनिष्ठ थे । समाज की नई अवस्था को स्वीकार करने और बदली हुई परिस्थिति के अनुरूप साधनों में परिवर्तन करने को, वे सदा तैयार रहते थे । अपनी इस विशेषता तथा सोच के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बदली हुई स्थिति में हिंसक उपायों को सदा के लिए छोड़ देना जरूरी है; किन्तु जैसे गाँधी जी अब तक गाँधीवादी बने रहे, उसी तरह नरेन्द्रदेव जी अन्त तक मार्क्सवादी बने रहे ।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि नरेन्द्रदेव का समाजवाद केवल आर्थिक आन्दोलन नहीं है, यह सांस्कृतिक पुनर्निमाण का आन्दोलन भी है; क्योंकि यह एक वास्तविक मानव-संस्कृति के लिए उतना नहीं प्रयत्नशील है, जितना कि एक नई आर्थिक व्यवस्था के लिए है । भारत में गाँधी का 'सर्वोदय समाज' और नेहरू का 'लोकतांत्रिक समाजवाद' तथा लोहिया, जयप्रकाश एवं नरेन्द्रदेव का 'आर्थिक व नैतिक समाजवाद' सिर्फ विचारों और भाषणों तक ही सीमित होकर रह गया । भ्रष्टाचार ने पूरे समाज को निगल लिया है । नरेन्द्रदेव जी का यह मत है— यदि हम पूर्ण रूप से नैतिकता का विकास नहीं करेंगे, तो वह विकृत समाज होगा । हमारे सामने तांडव करता दिख रहा होगा । ऐसे में मजदूर, किसान व सामान्य जनता की नैतिकता भी किसी पड़ाव पर रुकेगी, यह कहना मुश्किल है । एक तरफ बड़ी विदेशी कम्पनियों का जाल, दूसरी तरफ व्यक्ति की आवश्यक आवश्यकताओं में निरन्तर असुरक्षा एवं कमी समाजवाद को लाने में कहाँ तक सफल हो पायेगी ? इस देश में कौन समाजवाद लायेगा? समाजवाद का स्वप्न क्या स्वप्न ही रह जायेगा ? हमें इस प्रश्न का उत्तर स्वयं ढूँढ़ना होगा । नकारात्मक विचारों से देश के साथ-साथ अपना भी उत्कर्ष सम्भव नहीं है । अतः हमें वैयक्तिक स्वार्थों से ऊपर उठकर एक मानवीय समाजवाद की स्थापना के लिए प्रयासरत होना होगा ।



सांस्कृतिक बोध एवं सामाजिक दायित्व

डॉ० नन्दिनी वर्मा*

संस्कृति व्यक्ति की अस्मिता से जुड़ी है । सामान्य रूप से संस्कृति से तात्पर्य किसी समूह से सम्बन्धित व्यवहारों, प्रतिमानों, अभिवृत्तियों, मान्यताओं, प्रतीकों मूल्यों, मानकों, कला-कौशल और अन्य क्षमताओं के ऐसे समुच्चय से है, जिन्हें उस समूह के सदस्यों ने अपने सामाजिक जीवन को सुचारु रूप देने के लिए अर्जित, विकसित और संचित किया हो और उनकी विशेषताओं के आधार पर अन्य समूहों से अपनी अलग पहचान बनायी हो ।

उपर्युक्त तत्त्वों को मूर्त रूप देने के लिए जिन वस्तुओं का सृजन किया जाता है, वे भी संस्कृति का अंग मानी जाती हैं । वस्तुत: इसमें सम्पूर्ण मानव-निर्मित पर्यावरण आ जाता है, जिसे सामाजिक जीवन की धरोहर के रूप में युगों तक सुरक्षित रखा जाता है और निरन्तर अधिक सम्पन्न बनाने का प्रयास किया जाता है । कभी-कभी वर्तमान को अधिक सार्थक बनाने के लिए अतीत की संस्कृति से प्रेरणा ली जाती है।

आदिम युग से मानव ने एक रचयिता की भूमिका का निर्वहन किया है। उसने अपनी स्वयं की पहचान, व्यक्तित्व के विकास तथा मानवीय सम्बन्धों की निरन्तरता को कायम रखने के लिए समाज का निर्माण किया है । समाज, समय के साथ-साथ अन्त:सम्बन्धों का एक ऐसा जाल बनता गया, जिसे प्राथमिकताओं एवं वर्जनाओं जैसे मूलभूत तत्त्वों को केन्द्र मानकर के कुछ प्रतिमानों का निर्माण किया गया, जिनसे व्यक्ति नियन्त्रित होता रहा एवं संयमित आचरण के लिए

---

* प्रवक्ता– प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व, वसंत कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी

अपनी स्वयं की स्थिति का निर्माण करता रहा । भारतीय समाज ने परम्पराओं, वर्जनाओं, प्रतिमानों एवं दायित्वों को ध्यान में रखते हुए एक ऐसे सांस्कृतिक परिवेश का निर्माण किया, जिसमें जहाँ एक ओर मानवीय सामाजिक मूल्यों को निश्चित सांस्कृतिक स्वरूप में बाँधने का प्रयास किया गया, वहीं दूसरी ओर प्रतीकों एवं अर्चनाओं के माध्यम से व्यावहारिक पक्ष को सम्बल प्रदान किया गया ।

संस्कृति एक व्यापक अर्थ में अपने में मानवीय अस्तित्व के समस्त पहलुवों को समाहित करती है । दर्शन के साथ-साथ समाज में भारतीय संस्कृति द्वारा एक ऐसी व्यवस्था का स्वतः निर्माण दृष्टिगत होता है, जिसमें व्यक्ति अपने स्वयं के विकास के साथ-साथ समाज के दायित्वों के प्रति भी पूर्णतः सजग है । भारतीय संस्कृति की विलक्षणता यह है कि उसमें सामाजिक व्यवस्था स्वतः स्फूर्त है, जिन्हें विभिन्न अवधारणाओं के माध्यम से स्पन्दनशील भी बनाया गया है । यदि इतिहास की दृष्टि से भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का विश्लेषण किया जाय, तो जो परिदृश्य स्पष्ट होता है, उसके अनुसार व्यष्टि एवं समष्टि के मध्य सम्बन्धों के निर्माण, मानवीय हित को सर्वोपरि रखते हुए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसी अवधारणा की स्थापना तथा पुरुषार्थ के माध्यम से समाज के प्रति अपने दायित्वों का उद्देश्यपूर्ण निवेदन विभिन्न युगों की मूल विशेषता रही है ।

समाज निरन्तर परिवर्तनशील है । इस मूल भावना की पृष्ठभूमि में व्यक्ति एवं समाज का आपसी सम्बन्ध एवं स्वरूप सदैव से परिवर्तन के निर्धारक कारक रहे । इतिहास साक्षी है, जब भी व्यक्ति, वर्गों या समुदाय द्वारा असामान्य एवं अनधिकार चेष्टायें की गयीं, तो जो परिवर्तन हुए, उन्होंने समय के साथ-साथ न केवल समाज के स्वरूप को बदला, वरन् मानवीय अस्तित्व को भी प्रभावित किया है । राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक स्वरूपों में प्रत्यक्ष बदलाव, गंगाघाटी में द्वितीय नगरीकरण की प्रक्रिया के साथ-साथ स्पष्ट रूप से प्रभावित होता दीखता है । परम्परागत सामाजिक सम्बन्धों के नियामक कारक के रूप में व्यवसायीकरण का सर्वोत्तम उदाहरण प्राचीन-काल के श्रेणी, श्रेष्ठि या उन बड़े-बड़े व्यापारिक समुदायों के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है, जिसमें वर्ण एवं वर्ग-व्यवस्था के वर्चस्व पर अपना विशिष्ट प्रभाव छोड़ा है । कहीं न कहीं इसी प्रभाव की निरन्तरता

प्राचीनकाल से आधुनिककाल तक विभिन्न चरणों में सशक्त रूप से अपनी जड़ें जमाती रही है । यदि कहा जाय कि नैतिक प्रतिमानों का भी निर्धारण पूँजीवादी प्रवृत्तियों से प्रभावित होता रहा, एवं विदेशी शासकों के समय धन तथा सत्ता की लोलुपता ने संरचनात्मक रूप से परिवर्तित करने में अहम् भूमिका निभायी, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी ।

वस्तुत: मध्यकाल से विशेषकर दसवीं शताब्दी से भारतीय समाज के समक्ष सांस्कृतिक विकल्प के रूप में ऐसे समुदाय सशक्त रूप से दृष्टिगत होते हैं, जिनके भीतर मूल्य, आदर्श, प्रतिमान एवं आचार, व्यवहार प्रक्रियात्मक रूप से भिन्न रहे । सरल संस्कृति के भीतर सांस्कृतिक विकल्प साधारणतया सर्वविदित और सुपरिचित होते हैं तथा उनके बारे में समाज की व्यापक सहमति पायी जाती है; परन्तु जटिल संस्कृति के अन्तर्गत व्यवहार के वैकल्पिक मानक किसी उप-समूह में कुछ होते हैं और किसी में कुछ । मध्यकाल का सम्पूर्ण सामाजिक परिदृश्य सांस्कृतिक विकल्पों की स्थापना,चयन एवं संरक्षणवाद का विहंगम दृश्य प्रस्तुत करता है । सांस्कृतिक निरन्तरता संरक्षणवाद के कारण सांस्कृतिक स्थिरता,तत्पश्चात् सांस्कृतिक अभिसरण की प्रक्रिया से गुजरते हुए सांस्कृतिक नियतिवाद का स्वरूप ग्रहण करता दीखता है।

सामाजिक दृष्टि से मध्यकाल से आधुनिककाल तक का इतिहास ऐसे परिवर्तनों का साक्षी रहा है, जिन्हें सांस्कृतिक प्रवाह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है । तात्पर्य यह है कि भारतीय संस्कृति में ऐसा अनियोजित परिवर्तन प्रारम्भ होता है, जो एक ही दिशा में छोटे-छोटे अनेक परिवर्तनों की श्रृंखला का परिणाम है। इन परिवर्तनों का संचित प्रवाह नयी सांस्कृतिक विधाओं के आविर्भाव के रूप में प्रकट होता है । यदि सूक्ष्म विवेचना की जाय तो स्पष्ट होता है कि बाह्य संस्कृतियों को, जो विशेष कर भारतीय संस्कृति के आन्तरिक प्रवाह की प्रवृत्तियों से मेल खाते हैं, उन्हें तुरन्त स्वीकार कर लिया जाता रहा और जो उनसे मेल नहीं खाते हैं, उनको स्वीकार नहीं किया जाता रहा ।

इतिहास साक्षी है कि मध्यकाल से आज तक की सामाजिक स्थिति का निर्धारक कारक प्रतिरोध एवं स्वीकार करने की प्रक्रिया के मध्य भिन्न-भिन्न चरणों

से गुजरता रहा । मुस्लिम शासकों का काल सामाजिक दृष्टि से नवीन सांस्कृतिक आदेशकों का काल रहा है। ये वे आदेशक हैं, जो सांस्कृतिक जीवन से जुड़े हुए तरीके से किसी भी समाज को जीवित रखने के लिए आवश्यक होते हैं । इनमें भोजन और आश्रय जुटाने, बच्चों की देख-रेख, ज्ञान के सम्प्रेषण एवं आन्तरिक संसाधन को सीमित करने के तरीके आ जाते हैं । एक प्रकार से वे सभी तत्त्व सम्मिलित हैं, जो भौतिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं पर आधारित होते हैं । शनैः शनैः आपसी व्यवहारों, मान्यताओं एवं सामाजिक साक्ष्यों की नियमितताओं के कारण नवीन सामाजिक प्रतिमानों का आविर्भाव होता है और समाज उन्हें स्पष्ट रूप से ग्रहण करने के लिए सांस्कृतिक भी होने के लिए तैयार प्रतीत होता है । तभी एक अन्य संस्कृति के निहित स्वार्थों एवं हितों के संघर्ष की स्थिति ब्रिटिश शासन के साथ प्रारम्भ होती है। साम्राज्यवादी हितों को साधने के लिए सांस्कृतिक बहुलवाद को बढ़ावा दिया जाने लगा। व्यक्ति संशय की स्थिति में रहा, अपने सामाजिक दायित्वों को समझ ही नहीं सका । समाज के भीतर भिन्न-भिन्न प्रकार के सांस्कृतिक समूहों के सह-अस्तित्व का समर्थन किया जाने लगा । बृहत्तर समाज की गतिविधियों में मिलजुल कर भाग लेते हुए भी अपनी-अपनी सांस्कृतिक परम्परा को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति एवं अस्तित्व के संकट के भय ने व्यक्ति को दिग्भ्रमित कर दिया । सांस्कृतिक सम्प्रेषण के औपचारिक एवं अनौपचारिक तरीकों में आमूल-चूल परिवर्तन सामाजिक मूल्यों, प्राथमिकताओं के साथ-साथ होते रहे।

सामाजिक चेतना के विकास के साथ-साथ विभिन्न वर्गों के अधिकारों व कर्तव्यों की नयी परिभाषा स्वीकार की जाती रही और उसी के अनुरूप सामाजिक भूमिकाओं में परिवर्तन होता रहा । समाज में विकल्पों की उपलब्धता को व्यक्ति द्वारा निहित स्वार्थों की पूर्ति हेतु प्रयोग में लाया जाने लगा, नियंत्रण क्षीण होता गया । स्वतः संयमित व अनुशासित होने की महत्ता गौण होती रही । सांस्कृतिक अधर्म की स्थिति हमेशा विद्यमान रहने लगी । ऐसी तीसरी शक्ति का वर्चस्व कायम हो गया, जो संकलन के नाम पर जिस व्यवस्था का पोषण करना चाहता है, उसके शोषण की सम्भावना बढ़ती रही । व्यक्ति स्वयं की पहचान खोने लगा । आधुनिक युग में स्वयं की पहचान की समस्या, मूल्यों की समस्या, तनावग्रस्तता, सहज सम्बन्धों का अभाव, परिवार विवाह एवं धर्म जैसी संस्थात्मक स्थितियों में

आमूल परिवर्तन आदि ऐसे परिस्थितिजन्य कारक उत्पन्न हो रहे हैं, जिन्हें नियंत्रित करने के लिए एक केन्द्रीय शक्ति का नितांत अभाव है । भौतिकवादी संस्कृति में व्यक्ति परिस्थितियों, सुविधाओं का दास होते हुए आत्मनिर्भरता पूर्णरूप से खो रहा है । ऐसे में सामाजिक दायित्वों की संकल्पना में भी परिवर्तन स्पष्ट है । कालचक्र उलट-सा गया है । समाज का दायित्व व्यक्ति के विकास के लिए बढ़ता जा रहा है। ऐसे में व्यक्तिविशेष के साथ न्याय होना हमेशा सम्भव नहीं है । स्वयं की चेतना समाज से सुविधा प्राप्त करने तक सीमित होती जा रही है । स्वयं का समाज को योगदान अपना महत्त्व खोता रहा है । व्यक्ति की सोच एवं दृष्टिकोण में परिवर्तन आने वाले समय के सांस्कृतिक परिवेश का भविष्य तय करेगा ।



समाज विज्ञान में मानव जीवन की उपलब्धि

डॉ० उषा कला उपाध्याय*

मानव जीवन की चरम उपलब्धि ज्ञान है। यह सामान्यत: स्थूल तथा सूक्ष्म होता है । आहार, निद्रा, भयादि का बोध स्थूल ज्ञान की परिधि में आता है; क्योंकि उसका बोध जीवमात्र को होता है । यह बोध इसलिए स्वाभाविक है कि यह जीव की वृत्ति है। क्षुधा की प्रवृत्ति भी स्वाभाविक है; क्योंकि प्राण की रक्षा के लिए या जीवित रहने के लिए आहार आवश्यक है। आहार के माध्यम से ही शरीर को पोषक-तत्त्व प्राप्त होते हैं । पोषक-तत्त्वों से ही शरीर के बाह्य तथा आन्तरिक अवयवों का परिचालन होता है, जिसे हम शारीरिक प्रक्रिया कहते हैं । इसी शारीरिक प्रक्रिया के फलस्वरूप प्राण स्पन्दित होता है; स्पन्दन से ही प्राण, प्राण से आत्मा, आत्मा से मन, बुद्धि, विवेक इत्यादि। बुद्धि, विवेक तथा अनुभूति का ही निष्कर्ष ज्ञान है। दूसरे शब्दों में हम अनुभूति को ही ज्ञान कहते हैं । बिना अनुभूति के ज्ञान नहीं हो सकता । यथा अग्नि में हाथ डालने से ही जलने का बोध होता है । यहं बोध ही जलने की अनुभूति तथा तज्जन्य ज्ञान है।

ज्ञान बुद्धिगम्य है या नहीं, यह प्रश्न दूसरा है। इतना निश्चित है कि जैसे-जैसे मानव की कल्पना, अनुभूति और शक्ति विकसित हुई, उसके ज्ञान-परिधि की वृद्धि हुई है तथा सम्भवत: भौतिक या पदार्थवादी जगत् का कोई कोना उसके ऊहापोह एवं शोध से अछूता नहीं रहा है । इस उपलब्धि के फलस्वरूप एक ओर जहाँ उसने ऐसे आविष्कार किये हैं, जिंनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते थे, तो दूसरी ओर उसकी संहारक वृत्तियाँ इतनी प्रबल हो गयी हैं, जिससे जगत् विनाश के कगार पर पहुँच गया है । विचारणीय है कि यदि हम संहार की कल्पना

---

* प्रवक्ता–इतिहास, आर्य महिला महाविद्यालय, चेतगंज, वाराणसी

में अपनी शक्ति को विनाश की ओर ही केन्द्रित करते रहे, तो हम मानव जीवन के पुनीत उद्देश्य से नीचे गिर जायेंगे । मानव का ध्येय शिवत्व की प्राप्ति है । यद्यपि जगत् का क्रम स्थिति और विनाश है। उस चक्र से विरत होना संसार को ही मिथ्या कहना है । विश्वामित्र और वशिष्ठ के द्वन्द्व में विश्वामित्र ने त्रिशंकु को स्वर्ग भेजने के यत्न में दूसरे स्वर्गलोक की योगबल से रचना आरम्भ कर दी थी। उस युग के ऋषि, महर्षि तथा कितने ही तपस्वी व राजा स्वर्ग या अन्य लोकों की यात्रायें करते थे । महाराज दशरथ ने कैकेयनन्दिनी को ऐसे अवसर पर ही दो वरदान दिये थे । किसी समय लोग इसे कपोलकल्पित कहकर उड़ा देते थे। आज के वैज्ञानिक चन्द्रमा, मंगल तथा शुक्रादि ग्रहों पर पहुँचने की योजनायें बना रहे हैं, जिससे इन कल्पनाओं की सत्यता की जाँच करने का अवसर आ गया है । अस्तु, कल्पनाप्रसूत कही जाने वाली आख्यायिकायें अब मिथक मात्र नहीं कही जा सकतीं । सम्भव है, उस युग के वैज्ञानिकों ने अपने साध्य–साधनों द्वारा उन्हें देखा हो, सिद्ध किया हो, इसके एक नहीं, अनेकों दृष्टान्त पुराणों में देखने को मिलते हैं और अनेक रहस्यों का उद्घाटन उपनिषदों में किया गया है।

शास्त्रों की बात इनसे भिन्न नहीं; क्योंकि शास्त्र निकष है, जिस पर सभी तथ्य कसे जाते हैं । शोध में जो तथ्य प्रमाणित होता है, उसी का शास्त्र प्रतिपादन करते हैं, उनसे आधारभूत सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव होता है। उनको सिद्ध कर हम प्रकट करते हैं कि अमुक वस्तु क्या है? यह साधारण मान्यता है कि शास्त्र मिथ्या नहीं होता । वह कालजयी या कालातीत है; क्योंकि उससे उस सत्य का प्रतिपादन होता है, जो चिरन्तन है । जो चिरन्तन है, वही सत्य है, जो सत्य है, वही शाश्वत है । उसे मानव ने कितनी तपस्या के पश्चात् पाया है, उसकी कल्पना कठिन है; किन्तु इसके मार्ग में सबसे बड़ा रोड़ा आर्थिक जगत् के प्रलोभन हैं, जिनमें हम प्राय: उलझ जाते हैं । इसी उलझन में फँस जाने के कारण हम स्थूल ज्ञान के ही दायरे में रह जाते हैं । यह पुरुषार्थ-चतुष्टय द्वारा मोक्ष तक पहुँचने में बाधक होता है। समाज या जगत् का आधार काम तथा अर्थ है । कामना से ही तो किसी वस्तु की प्राप्ति होती है, चाहे वह सुकृत की हो अथवा दुष्कृत की हो । काम और अर्थ का आधाराधेय सम्बन्ध है। ये एक-दूसरे के अन्योन्याश्रित हैं, यह भी सही है; किन्तु इतने से ही काम नहीं चल सकता । इनके प्रतिपालन में भी धर्म है दण्ड, वही

कर्तव्यबोधक है। वही हमें क्या करने और क्या न करने के लिए इंगित करता है । आदेश-निर्देश तो देता ही है, सूक्ष्म ज्ञान का भी बोध कराता है।

वस्तुत: सूक्ष्म ज्ञान ही नवनीत है । वह नवनीत ब्रह्म या पराविद्या के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है । स्थूल जगत् के क्रियाकलाप अविद्यायुक्त होते हैं । अविद्या अज्ञान का प्रतीक है, जैसे ज्ञान का प्रतीक ब्रह्मज्ञान है । इसे तो सभी स्वीकार करते हैं कि ब्रह्मज्ञान ही चरम उपलब्धि है, जिसके प्राप्त होने पर 'ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या' हो जाता है । आज यह प्रश्न कर सकते हैं कि ब्रह्मज्ञान ही क्यों सर्वोपरि है? ठीक है, जो सर्वोपरि है, वही सर्वोपरि रहेगा । सिर का स्थान पैर कैसे ले सकता है या पैर का स्थान सिर कैसे ले सकता है ? शरीर की क्रिया ऐसी है कि उसकी कणिकाओं, कोशिकाओं या धमनियों में प्रवाहित रक्त तो सर्वत्र घूमता रहता है; किन्तु वायु अधोमुखी ही होती है । ऊर्ध्वमुखी होती है प्राणोत्सर्ग के समय । योगविद्या और योगाभ्यास द्वारा प्राणवायु का नियमन कर वह ऊपर की ओर भी उठाई जाती है । उच्च साधना में जब कुण्डलिनी जागरण होने पर सविकल्प समाधि होती है, उस समय सारा खेल वायु का होता है । इडा, पिंगला तथा सुषुम्ना द्वारा उत्थित कुण्डलिनी जब सहस्रार में पहुँचकर अमृतपान करने लगती है, साधक कालजयी हो जाता है। कालजयी होना मात्र ही उसका ध्येय नहीं है। उसका ध्येय ब्रह्म या सूक्ष्मज्ञान प्राप्त करना है, जिससे उसके पार्थिव शरीर में स्थित आत्मा परमपद प्राप्त कर सके । यह परमपद मानव शरीर द्वारा ही प्राप्त होता, हो सकता है । कहना नहीं होगा कि मानव शरीर द्वारा ही मन, चित्त, अहंकार का बोध होता है । वह आत्मचिन्तन द्वारा उस पर नियंत्रण करता है । अस्तु, इसके अन्तराल में मुख्य प्रेरणा आत्मचिन्तन द्वारा ही प्राप्त होती है ।

आत्मचिन्तन के पूर्व उसकी पृष्ठभूमि तैयार करना होता है । वह भूमि आचार और धर्म का प्रतिपालन है । धर्म का दुर्भाग्यवश आजकल अनाप-शनाप अर्थ लगा लिया जाता है । कोई उसको कट्टर तो कोई उसको पुराणपन्थी कहकर भर्त्सना करते हैं । कुछ सिरफिरे लोग धर्मनिरपेक्षता के अर्थ का अनर्थ करते हैं । इसका परिणाम भयावह हुआ है । पाश्चात्य संस्कृति, भाषा और आचार-विचारों के संघर्ष के कारण समाज पराङ्मुख होते-होते बिल्कुल पशुवत् हो गया है, ऐसा कहना अत्युक्ति न होगी । हमने आचार की मनमानी परिभाषा बनाकर भारतीय

परम्परा और चिन्तन का मूलोच्छेद ही किया है। आज धर्म के नाम पर आधुनिक कहे जाने वाले भड़क उठते हैं । जैसे साँड़ लाल झंडा देखकर क्रोधोन्मत्त हो जाता है । यद्यपि वह यह नहीं जानता कि लाल झंडा केवल वस्त्र मात्र है, जिससे उसका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है । धर्म से तो बिगड़ना कुछ नहीं, सब कुछ बनना ही है; क्योंकि वह धर्म की आचारसंहिता है । आचारहीन कर्म पशु करता है, कर सकता है। पशु और मनुष्य में अन्तर भी तो यही है ।

'धर्मेण हीनाः पशुभिःसमानाः' । धर्म कर्तव्य का बोधक है । हमें क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, इसका निरूपण धर्म ही करता है। धर्म परिपालन में हमें अपनी वृत्तियों और प्रवृत्तियों पर लगाम लगानी पड़ती है । अर्थात् धर्म हमें स्वेच्छाचार से विरत करता है, हमारा धर्म निवृत्तिमूलक है । इसलिए इसने कठिन तपस्या द्वारा यमादि का पालन करने की प्रेरणा दी, संयम को परम महत्त्व दिया । ऊपर की सीढ़ियाँ चढ़ने पर यम, नियम, ध्यान, धारणा, प्राणायाम, प्रत्याहार, निदिध्यासन की ओर अग्रसर किया । आखिरकार मनमाने आहार-विहार द्वारा प्रवृत्ति ही प्रबल होती है, निवृत्ति नहीं । प्रवृत्ति-मार्ग द्वारा स्वधर्म कैसे प्राप्त होगा? उससे केवल अहम् भाव प्रबल होता है । हमारे सभी क्रिया-कलाप अहंकार द्वारा प्रेरित होने लगते हैं । सचमुच देखा जाय, तो अहम् भाव तथा अहंकार ही सबसे बड़े शत्रु हैं, जिनके कारण अज्ञान का ही रूप निखरता है। अज्ञान से ही अहंकार प्रसूत होता है, या यों कहा जाय कि अहंकार अज्ञान को प्रसूत करता है। योगवासिष्ठ में इसी का विवेचन किया गया है । इसमें अनेकानेक संवाद बार-बार इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं । उपनिषदों ने भी इसी रहस्य का उद्घाटन किया है । चिर शान्ति और सुख-प्राप्ति के लिए यही रहस्य जानना होगा । अशान्ति को शान्ति से तथा दुःख को सुख से पराजित करना होगा ।

क्या आपने कभी इसका चिन्तन किया है ? यह सफलता आत्मचिन्तन द्वारा ही प्राप्त हो सकती है; किन्तु आधुनिक वातावरण में यह सम्भव नहीं प्रतीत होता । वैज्ञानिकों ने जब अणुविस्फोट किया, तो उन्होंने क्या यह कल्पना की थी कि उसका परिणाम संहारक होगा ? आज उसके भयावह विनाशकारी रूप ने जगत् के अस्तित्व को खतरे में डाल दिया है । उसकी ऊर्जा और कणों से जलवायु प्रभावित हो जाते हैं; क्या-क्या और हो सकता है, यह भी नहीं कहा जा सकता।

यह सब इसलिए किया गया कि दूसरे पर हम अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर सकें, उसे दबा सकें, कुचल सकें या उस पर प्रभुत्व स्थापित कर सकें । ऐसी सभ्यता, विचार या ध्येय क्या मानवमात्र के लिए अभिशाप नहीं है? जो अकल्याणकारी हो, वही तो सबसे बड़ा अभिशाप है। रावण जैसे उच्चकुलीन तपस्वी या कर्मठ व्यक्ति से सभी परिचित हैं । उसने दसों दिग्पालों को अपने नियंत्रण में कर रखा था । उसका अहंकार जागृत हुआ और दसों इन्द्रियों के दस शीश निकल आये । वह दशकन्धर हो गया । यज्ञादि भ्रष्ट करना, देवताओं को त्रस्त करना एवं नारी अपहरण जैसी घटनाएँ उसके जीवन में आ गयीं और अन्ततः वही राक्षस सम्प्रदाय का सूत्र चालक बन बैठा । आज पश्चिमी सभ्यता के अन्धानुकरण करने वाले युवकों की देश में उसी प्रकार की एक बड़ी सेना तैयार हो गयी है, जिनका न कोई आचार है, न विचार । वे अपने को आज के समाज का अगुआ मानते हैं । दोनों समवाय होने से समान हैं । इसके विपरीत महाराज दशरथ का उदाहरण है, जिन्होंने दस इन्द्रियरूपी रथों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। इन्द्रियाँ भी एक प्रकार के रथ ही हैं, जो हमें जहाँ-तहाँ ले जाती हैं; मन ही राजा या रथों का संचालक है । इसलिए मनोजय करने पर ही सबसे अधिक बल दिया गया है। आप जानते हैं, सभी व्याधियों के मूल में मन है । उसी की प्रेरणा से शरीर में व्याधियाँ प्रविष्ट होती हैं । मन से ही वासनायें उत्पन्न होती हैं, जिनसे शरीर में अनेक रोगों और व्याधियों का संचार होता है । वासना की गतिविधि क्या है ? यह भी रहस्यमय है । गीता में कहा है— **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'**। यह सच भी है; क्योंकि प्रेरणा से ही तो हम सब कुछ करते हैं, इसीलिए वह हमारे बन्धनों या मोक्ष का हेतु होता है ।

ऊपर हम कह चुके हैं कि सब अनर्थों का मूल अहंकार है, उससे हम भ्रम में पड़ जाते हैं । कुछ का कुछ करने और सोचने लगते हैं । अतः अहंकार का नाश करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए । यह प्रयत्न अत्यन्त कठिन है । बड़े-बड़े त्यागी, तपस्वी, ऋषि, महर्षियों का अहंकार तप भंग कर उन्हें पथभ्रष्ट कर दिया। कोई हजार वर्ष तक सर्प हो गया, कोई प्रेत हुआ । इस प्रकार अनेक आख्यान पढ़ने को मिलते हैं । इन सब के मूल में अहंकार ही है । भस्मासुर का ही कथानक देखें, वह अपने अहंकार से ही त्रस्त हो गया । इन कथानकों में आपकी आस्था

विश्वास हो या न हो, इससे किसी प्रकार का अन्तर नहीं । तथ्य तो वही है अहंकार, उसके नाश का प्रयत्न करना चाहिए; क्योंकि जब तक वह आप पर छाया रहेगा, आत्मज्ञान होने की सम्भावना नहीं रहेगी । इसलिए धर्मानुमोदित जीवन व्यतीत करना चाहिए । धर्मानुमोदित जीवन रहन-सहन की एक ऐसी प्रणाली मात्र है, जिसमें गर्भाधान से मृत्युपर्यन्त सभी कर्तव्यों का निर्देशन है। उस प्रणाली को अपना लेने पर आपका जीवन शुद्ध सात्त्विक मार्ग पर चलने लगता है। धर्म के प्रति आज के नेताओं की अनास्था, अमर्यादित जीवन-शैली एवं कुर्सीमोह के कारण ही समाज का इतना नैतिक पतन हुआ है। असंयमित जीवन, अनाचार एवं उच्छृंखलता के फलस्वरूप समाज रसातल की ओर जा रहा है । आज आवश्यकता है अपने कर्म के प्रति आस्था उत्पन्न करने की । महर्षि पतञ्जलि ने योगानुशासन के द्वारा चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है। योग शब्द युति अर्थात् ('युज समाधौ') समाधि के अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है । हमारे पश्चिम के देश आज वैभव और समृद्धि के शिखर पर हैं, पर उनको शान्ति नहीं । सारा समाज भोगग्रस्त होने के कारण अशान्ति से अस्त-व्यस्त है । दुर्भाग्य यह है कि यह जानते हुए भी कि हमारी नई पीढ़ी पश्चिम के अन्धानुकरण को अपना गौरव समझती है। निश्चय ही यह उन नेताओं के पाप का फल है, जो दिन-रात अमेरिका की नकल की सीख दे रहे हैं । दूसरों की भाषा एवं साहित्य के प्रसार-प्रचार पर बल देते रहे हैं । उनकी विचारधारा और समाज की आधार-भित्ति प्रवृत्ति मार्ग पर अवस्थित है, जिसका एकमात्र उद्देश्य भोग है, जिसका कहीं अन्त नहीं । आप जितना भोग की कामना करेंगे, उसका सुरक्षारूप उतना ही बढ़ता जायगा, भोग में शान्ति कहाँ ? इसीलिए सभी मनीषियों ने भोगत्याग पर बल दिया, जो चित्त के निरोध से ही सम्भव है। इसके लिए पृष्ठभूमि तैयार करना उसी प्रकार आवश्यक है, जैसे किसी उत्तम गृहनिर्माण के पूर्व अच्छी बुनियाद बनाना । विचारपूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मानुमोदित जीवन ही बुनियाद है । जिस ओर शिक्षित समाज और अपने को सभ्य सुसंस्कृत कहने वालों को विशेष ध्यान देना चाहिए । विदेशी भाषा से न तो यह ज्ञान प्राप्त हो सकता है और न हमारे अनुरूप संस्कार ही बन सकता है। असलियत तो यह है कि दूसरे की भाषा के माध्यम से सही भावाभिव्यक्ति कभी भी संभव नहीं हो सकती । सम्प्रति मानसिक अस्थिरता से अस्तव्यस्त पाश्चात्त्य बुद्धिवादी वर्ग भारत की ओर पुन: आकृष्ट हुआ है और यह लक्षण अत्यन्त ही शुभ है। दु:ख है तो इतना ही कि अपने देश का बुद्धिवादी वर्ग

इस दिशा में पूर्णतया उदासीन तथा अनभिज्ञ है । हमारे देश की संस्कृति सुदूरपूर्व, मध्यपूर्व तक फैली हुई थी । सुमात्रा, जावा, इण्डोनेशिया, थाईलैण्ड, श्याम प्रभृति देशों में अब भी हमारी परम्परा अक्षुण्ण है । तन्त्रशास्त्र के बहुत से ग्रन्थ तिब्बत इत्यादि में पाये जाते हैं । इनके शाश्वत सिद्धान्तों को चुनौती नहीं दी जा सकती, वे समय की कसौटी पर खरे उतरे हैं । अस्तु, ऐसी दशा में आप उस ओर से उदासीन क्यों हैं ? अपनी वस्तु के प्रति उदासीन होना अपने ही को खो देना है। इस पर आप गम्भीरतापूर्वक विचार करें । यदि आपके जीवन में शान्ति नहीं, तो सारा वैभव जुटाकर भी आप सुखी नहीं हो सकते । कपिलवस्तु के राजकुमार ने वैभव का परित्याग कर शान्ति पाई । उन्होंने **'अष्टांग अय्यमार्गाणि'** का प्रतिपादन कर यह सिद्ध कर दिया कि सुख भोग में न होकर त्याग में है । यह त्याग आत्मचिन्तन से निःसृत है । आत्मचिन्तन के सम्बन्ध में ऊपर कुछ संकेत किया गया है ।

साधना के लिए सद्गुरु की नितान्त आवश्यकता है । बिना गुरु के लक्ष्यभेद कठिन है । केवल एक ही विधि सहज साध्य है, वह है–सतत नामस्मरण। भगवन्नाम स्मरण ही ऐसा रसायन है, जिससे साधना का मार्ग प्रशस्त होता है और हम मनोविकारों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं । आप जीवन-संघर्ष में बहुत व्यस्त हो सकते हैं । आपको बातचीत करने या अपने बाल-गोपाल की ओर ध्यान देने का समय नहीं मिलता । आपका अधिकांश समय दफ्तर में बीत जाता है और शेष क्लब, मित्रों के साथ बैठकर गप्प में या सिनेमा इत्यादि में । आप रात में देर से लौटते हैं, प्रातःकाल देर से उठते हैं, आपको संध्यावंदन या ईश्वराराधना का समय नहीं मिल पाता । रहन-सहन की यह आदतें और प्रणाली अभारतीय हैं । इस देश की जीवन पद्धति, जलवायु और परम्परा के विरुद्ध हैं । ब्राह्ममुहूर्त में शय्या त्याग करने वाला आनन्द क्या आठ बजे तक शयन करने वाले को मिल सकता है ? आप देर तक इसीलिए तो सोते हैं कि प्रातः उठने का आनन्द नहीं जानते । इससे शरीर में कितनी स्फूर्ति और चित्त में प्रसन्नता होती है, यह आप अनुभव से ही जान सकते हैं । इससे भी बढ़कर प्रसन्नता और शान्ति, आत्मचिन्तन व भगवद् आराधना से प्राप्त होती है । अतः इस महत्त्वपूर्ण विषय की आप उपेक्षा नहीं कर सकते । दृढ़निश्चय से मनोजय में जुट जाइये, धृति, क्षमा, दंभ, अस्तेय, शुचिता, इन्द्रिय-निग्रह, अक्रोध, सत्य, धैर्य्य, शालीनता को अंगीकार कीजिए, इससे

आपकी जीवनधारा बदल जायेगी । इसके साथ ही आत्मचिन्तन करें, सद्गुरु की खोज करें । मानव जीवन की सफलता का यही रहस्य है—सच्चित् आनन्द की कुञ्जी । इस पथ पर ज्यों-ज्यों बढ़ते जायेंगे, मार्ग स्वयं प्रशस्त होता जायेगा । हो सकता है, आपको गुरु भी मिल जाँय । ज्ञान की यही चरम उपलब्धि है, जिसे प्राप्त करने के लिए प्रत्येक ज्ञानवान् मानव को सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए। साधना से असाध्य भी साध्य हो जाता है ।



Methods And Techniques of Sociology

Shri Madhumita Bhattacharya*

The unique and most distinctive feature of the scientific method is its ability and capacity to obtain definite, general and verifiable knowledge, discover casual relationship between diverse and scattered facts and to predict future. According to Encyclopedia Brittanica - "Scientific method is a collective term denoting the various processes by the aid of which the sciences are built up." In a wide sense any method of investigation by which scientific or any other impartial systematic knowledge is acquired, is called scientific method which is acquisition of systematic and impartial knowledge. The science, by hypothesis, confines itself to the study of definite and limited subject matter, and the study of limited subject matter must naturally be systematic. All constituent elements of scientific method namely observation, experimentation, classification and explanation also exhibit their systematic nature. It is this feature which marks the scientific method of all other human devices and methods. According to Lundberg "Scientific method consists of systematic observation, classification and interpretation of data. The main difference between our day to day generalizations and conclusions usually recognized as scientific methods lies in the degree of formality, rigorousness, verifiability, and general validity of the latter." ***Methods of scientific enquiry :*** There are many scientific methods if we consider

* Lecturer – Sociology, Aryamahila Degree College, Varanasi

their main forms as well as sub- forms : but substantially speaking there are only six primary forms of scientific method -

1. Induction : The movement of knowledge from particular facts to a general rule or principle is known as induction.

2. Deduction : A movement in knowledge from a general rule to a particular case is called deduction.

3. Historical : historical method is a method in knowledge to trace the antecedent cause or causes of a phenomenon. Darwin's theory of evolution and Karl Marx's law of economic determinism are example of this method.

4. Comparative : Analysis and comparison of two contemporary phenomena is known as comparative method. For example studies of two or more constitutions is always undertaken in order to discover new facts on relations.

5. Structural : A study of what a thing is, what are its outlines and significant features, is a structural study. Anatomy is a structural study.

6. Functional : In contrast to structural method, functional method studies the processes and their causes, that is 'how' and 'why' of thing.

Induction and deduction are of course, the two foundation pillars of every science. All generalisation and forming of rules are made possible through induction and by means of deduction the rules are made to apply in particular cases. The historical method has proved fruitful not only in social sciences but also in physical sciences. The comparative method is used in Zoology, Botany, Chemistry, etc. The structural

and functional methods are, as a matter of fact complementary to each other and are used in almost every science.

Techniques of Sociology :

The major techniques of investigation in social phenomena used by sociology are the following :

1. **Mailed Questionnaire :** In social research the mailed questionnaire is used comprehensively. In the mailed questionnaire, as is evident by the name, a list of selected questions is compiled. These questions throw light upon the different aspects of the problem.

2. **The Schedule :** The schedule resembles the questionnaire to some extent, in as much as it too, requires a list of questions, the answers to which supply the data. But these questions are taken by the observer to the informant and filled in by the observer himself.

3. **Calling Interview :** In the interview, evidently enough the observer faces the infomant and questions him across the table, nothing down the information which the questions elicit.

4. **The case study :** The case study is a form of qualitative analysis. It involves very careful and complete observation of a person, situation on institution. In the words of Yang - "The case study method may be defined as an all-inclusive and intensive study of an individual, in which the investigator brings to bear all his skill and methods, or as a systematic gathering of enough information about a person to pursue one to understand how he or she functions as a unit of society.

5. **Observation :** According to Mrs. P.V. Young "Observation is a systematic and deliberate study through the eye of spontaneous occurrences at the time the occur. The purpose of observations is to per-

ceive the nature and extent of significant interrelated elements within complex social phenomena, culture patterns, or human conduct."

6. Social Survey : The word survey is derived from two words sur or sor which means over and the word veoir of veeir which means to see. In this way the word survey means to over see or to look over. According to the webster's collegiate Dictionary the word survey, connotes, "A critical inspection, often official to provide, exact information, often a study of an area with respect to a certain condition or its prevalence, as a survey of school.".

School survey is intended to be the study of the social aspect of a community's composition and activities. It aims at the collection of quantitative facts. It makes a concrete study of society, especially the social problems inherent in the society. It presents programmes for improvement and development. It is conducted within fixed geographical limit, it is related to problems of social importance and assists in formulating constructive programmes.

7. Social Research : Social research is the discovery of new truths about society. It is a systematic method of discovering new facts or verifying old facts, their sequences, interrelationships, causal explanations and natural laws. In this way, social researcher discovers new facts about social activities, social circumstances, social assumptions, social groups, social values or social institutions, etc., and investigates the old facts on these subjects. It locates interrelationship or casual relations among social incidents. It verifies those natural laws which stimulate different phenomena in social life.

In this way the objective of social research is to formulate general laws by collection, analysis, interpretation an generalisation of facts,

having studied social incidents and activities and to predict on the basis of these general laws, as well as to indicate future changes and reactions. The aim of social research is obviously purely theoretical and scientific, lacking any direct relation with human welfare.

It is evident from the foregoing exposition of social research that, as a scientific technique, it has great importance. It makes possible a study of the society from a purely scientific viewpoint. The social research worker make an impartial analysis of the social problems. In this way, the social researcher collects reliable data about social incidents and activities on the basis of which general laws can be formulated and certain predictions be made regarding them.

Method And Techniques : In the words of W. J. Goods and P.K. Hatt, "Techniques are thought of as comprising the specific procedure by which the sociologist gathers and orders his data. "If we substitute the term science in place of sociology, the definition will be applicable to science. The techniques are those special procedures by which a scientist collects and orders data in the field of his specialization. It is obvious that in different specialized branches of science the problems have certain peculiarities which demand certain variant procedure which will fit in those peculiarities and unique features. Therefore, every specialized branch of science uses certain techniques which, though not fundamentally different, vary considerably from one specialization to other. For example in psychology, along with the knowledge of external behaviour, It is necessary to know the internal feelings and motivations, and for this purpose the technique of introspection is used, which again is a variant of the "method of impression" employed in physics etc. The techniques of the physical and social sciences are quite different. In the social sciences also the techniques vary from one field to the other. For

example, introspection is a technique peculiar to psychology, whereas survey is a technique used only in the social science of sociology. The method of experiment is common to all sciences, but whereas its use is maximum in physics and chemistry its use in sociology is marginal only. The method of observation is the main stay of all scientific methods and this is used both in social and physical sciences. Besides these methods, certain techniques are used in social research which are peculiar to it and have special importance for it. These techniques are the dynamic study of historical material, the case study techniques, mailed questionnaire and schedule and technique of interview, as the study in a particular field progresses the techniques used in it also undergo refinement and new, more sophisticated techniques are developed.

There are the following distinctions between methods and techniques.

1. Essential differences :- Both methods and techniques are made use of in the various sciences and because of certain affinities the essential difference between them is overlooked and the terms method and technique are used interchangeably. But strictly speaking, this is not permissible. The indiscriminate use of the terms method and technique for observation, experiment survey etc. can be highly confusing. These two terms are different and must be applied carefully. The difference becomes cystal clear if we compare their respective definitions. A scientific method is a systematic study of a limited and definite subject matter; on the other hand, by technique we mean the actual procedure of collecting and ordering the data. For example in social research the methods are the same as in physics or any other science namely, induction and deduction, but the techniques may be questionnaire, schedule or interview.

2. A method is common to all sciences, but technique is not: A scientific method is common to every science. It has five phases; observations, noting, classification, generalization and verification. In every science the same order is followed. First we observe, then make notes and then divide up the data into various classes. Thereafter we venture to draw a conclusion, which eventually, is tested or verified. But the techniques are not common to all sciences. For example, in archaeology we use the technique of carbon analysis for the determination of date of anything but in social research we have no use for this particular technique. Again, in no science except social research, the use of mailed questionnaire is made. It can obviously, have no value for physics or chemistry; and by the same token, the techniques of microanalysis and telescopic observation have no place in social research. Therefore, whereas a method is common, technique is uncommon to various sciences.

3. Methods are Definite, techniques are indefinite :- Every method has a fixed outlay and follows schedule steps. As we observed just now, every method passes through five definite phases in a fixed order. It is never the case that classification can be made before collection of data or verification can be made prior to generalisation.

Hence it is obvious that there is lot of differences between methods and Techniances of Sociology.



जाति व्यवस्था में परिवर्तन : एक विश्लेषण

डॉ० रीता सिंह*

आधुनिक युग मानवीय समानता के प्रयास का युग है । मनुष्य को एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व के रूप में प्रतिष्ठित करना समानतावादी आदर्श का लक्ष्य है । समानता का अर्थ है कि मनुष्य नैतिक इकाइयों के रूप में समान है । लोकतान्त्रिक समाज व्यवस्था का मूलभूत सिद्धान्त यह है कि सामाजिक जीवन के महत्त्वपूर्ण पक्षों को प्रभावित करने वाले समस्त निर्णयों में समाज के सभी सदस्यों की भागीदारी और प्रभाव होना चाहिए; किन्तु समानता के आदर्श को सर्वाधिक महत्त्व देने वाले समाज में भी असमानता विद्यमान है । सामाजिक संस्तरण एक सार्वभौमिक तथ्य है । मनुष्यों की शारीरिक, नैतिक, आर्थिक तथा व्यावसायिक भिन्नता प्रत्येक समाज को विभिन्न समूहों में विभाजित कर देती है । समाज के सदस्यों को उनकी विशेषताओं के आधार पर ऐसे समूहों में भी बाँटा जा सकता है, जो समान स्तर रखते हों । समाज के लोग ऐसे समूहों में भी बँटे रहते हैं, जिनकी स्थिति ऊँची-नीची होती है । स्थितियों की यह असमानता, जिसके कारण विभिन्न सामाजिक समूह ऊँचे या नीचे माने जाते हैं, विशिष्ट अवधारणाओं के माध्यम से स्पष्ट की जाती है । कहीं जाति के रूप में, तो कहीं सामाजिक वर्गों के रूप में । समाजशास्त्री सामान्यतया इस बात पर सहमत हैं कि सभी समाज में समूह संस्तरण सामाजिक संरचना का एक आवश्यक तत्त्व है । **के. डेविस** का कहना है कि विश्व की संस्कृतियों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि कोई भी समाज वर्गविहीन नहीं होता, अर्थात् सभी स्थानों पर संस्तरण पाया जाता है । **पारसन्स** ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हुये लिखा है कि सामाजिक संस्तरण सामाजिक व्यवस्थाओं का सामान्यीकृत पहलू है । इसका अर्थ यह है कि सभी

---

* प्रवक्ता, समाजशास्त्र, बसंत कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी

स्थानों पर, जहाँ मनुष्य रहता है, सामाजिक संगठन विकसित हो जाता है, जिसमें कुछ व्यक्ति सुविधा- सम्पन्न स्थिति प्राप्त कर लेते हैं । परिणामस्वरूप दूसरे समूह पर प्रभुत्व प्रदर्शित करना प्रारम्भ कर देते हैं । इस प्रकार के संस्तरण की उत्पत्ति के कई आधार हो सकते हैं, जैसे– उम्र, धार्मिक विश्वास, शारीरिक शक्ति और बुद्धि । इनमें से कारण जो भी हो; लेकिन प्रत्येक समाज में सत्ताधारी और सत्ताविहीन वर्ग दिखाई देते हैं, जिसमें से एक समूह प्रभुतासम्पन्न होता है और दूसरा समूह प्रभुत्वविहीन । इस प्रकार की सत्ता की स्थिति में सत्ताधारी समूह कुछ सुविधायें प्राप्त कर लेता है, उनके हाथ में राजनीतिक शक्ति आ जाती है, वे महत्त्वपूर्ण व्यवसाय ग्रहण कर लेते हैं और यही लोग शिक्षा भी ग्रहण करने में आगे रहते हैं । प्रत्येक काल व स्थान में यह देखने को मिला है कि इस प्रकार के सत्ताधारी समूह हर कीमत पर अपनी उच्च स्थिति को बनाये रखने का प्रयास करते रहे हैं । इस कार्य के लिये वे कुछ स्पष्ट प्रतीक, नैतिकता के मानदण्ड तथा रहन-सहन के तरीके विकसित कर लेते हैं, जिससे शासित वर्ग-समूह के लोगों को वंचित कर दिया जाता है । जैसे– भारत में शूद्रों को वेद की शिक्षा, यज्ञोपवीत पहनना या मंदिरों में जाने से वंचित करना भी । शासित वर्ग-समूह की ये इच्छा होती है कि वे भी इन सुविधाओं को प्राप्त करें, जिसके परिणामस्वरूप समय-समय पर दोनों वर्ग-समूहों में संघर्ष होता रहा है। इस प्रकार के वर्ग-संघर्ष के परिणामस्वरूप समाज में वर्तमान संस्तरण व्यवस्था में परिवर्तन होता है ।

प्रत्येक समाज के संस्तरण व्यवस्था में दो प्रकार के परिवर्तन दिखते हैं–

१. व्यवस्था के अन्दर परिवर्तन,

२. व्यवस्था का परिवर्तन ।

इन दोनों प्रकार के अन्तरों में मौलिक भेद पाया जाता है । संस्तरण के अन्दर परिवर्तन से तात्पर्य है कि उसके तत्त्वों में कुछ हेर-फेर हो जाता है; लेकिन उसमें व्यवस्था पर पूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता; अर्थात् कोई मौलिक परिवर्तन नहीं होता है । व्यवस्था के परिवर्तन का तात्पर्य यह है कि वह व्यवस्था, अर्थात् उसकी पूरी संरचना ही बदल जाय और उसके स्थान पर नई व्यवस्था कायम हो जाय, जैसे— उस व्यवस्था के स्थान पर जाति व्यवस्था आ जाय ।

महात्मा गाँधी एवं **डॉ. अम्बेडकर** के जाति और सामाजिक संस्तरण के परिवर्तन सम्बन्धी विचारों को इन्हीं दो प्रकारों के सन्दर्भ में देखा जा सकता है ।

महात्मा गाँधी जातिव्यवस्था की कुछ कमियों, विशेषकर छुआछूत को समाप्त करने का प्रयास करते रहे हैं; लेकिन उन्होंने वर्ण-व्यवस्था के पक्ष में अपने विचारों को व्यक्त किया है । वे वर्णव्यवस्था को आनुवंशिक सिद्धान्त पर आधारित मानते हैं— 'कोई व्यक्ति अपना वर्ण अपनी इच्छा से परिवर्तित नहीं कर सकता। वर्ण को न मानना तो आनुवंशिकता के नियम को ही नकारना है' ।

सामाजिक संस्तरण की व्यवस्था के मौलिक परिवर्तन के लिए आवश्यक है कि उसके वैचारिक आधार पर ही आक्रमण किया जाय और उसे समाप्त किया जाय। प्रत्येक सत्ताधारी समूह अपनी सुविधाप्राप्त स्थिति के समर्थन में एक वैचारिक आधार प्रदान करता है, जिससे व्यवस्था को स्थायित्व प्राप्त होता है । इसलिए जब तक संस्तरण के वैचारिक आधार को समाप्त नहीं किया जायेगा, उसके अन्दर कुछ परिवर्तन धीरे-धीरे होते रहेंगे; लेकिन वह व्यवस्था बनी रहेगी। इन थोड़े-बहुत परिवर्तन का प्रभाव व्यवस्था या उसकी संरचना में पूर्ण परिवर्तन लाने में असमर्थ है। अत: किसी भी सामाजिक संस्तरण की व्यवस्था को समाप्त करने के लिए आवश्यक है कि उसके वैचारिक आधार पर ही कुठाराघात किया जाय । डॉ. अम्बेडकर ने भारतीय समाज में पायी जाने वाली संस्तरण व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए कुछ ऐसा ही प्रयास किया । जाति-व्यवस्था के सैद्धान्तिक आधार को ही उन्होंने ब्राह्मणवादी विचार कहा था और उसका निरन्तर विरोध करते रहे । इस सैद्धान्तिक विचार-व्यवस्था को आजकल ब.स.पा. ने मनुवादी व्यवस्था का नाम लेकर उसका विरोध किया है। उनका तात्पर्य केवल मनुस्मृति से ही नहीं है, वरन् जातिव्यवस्था को बनाये रखने वाले जितने भी विचार या विधा हैं, उन्हें मनुवादी कहा है ।

जातिव्यवस्था को कुछ व्यक्ति एकीकृत और सहयोग पर आधारित व्यवस्था मानते हैं और वे समझते हैं कि इसमें कभी भी संघर्ष नहीं होता । सभी जातियों के सहयोग से ही भारतीय समाज में स्थिरता और स्थायित्व है । वास्तविकता तो यह है कि यह उन विचारकों की भूल है; क्योंकि जातिव्यवस्था के इतिहास को देखा जाय तो यह स्पष्ट होता है कि जातियों में हमेशा आन्तरिक

संघर्ष होते रहे हैं । सुविधाविहीन जातियाँ अक्सर ऊपर उठने का प्रयास करती रही हैं ।

भारत में बौद्ध एवं जैन धर्म के आन्दोलनों को बहुत से इतिहासकारों ने ब्राह्मणवादी धर्म के विरोध के रूप में ही देखा है । इन दो धर्मों के इतिहास को देखने से यह स्पष्ट होता है कि उस समय क्षत्रियों ने ब्राह्मणों को उनकी सत्ता और प्रभुता से समाप्त करने का प्रयास किया था । इसी प्रकार दक्षिण में लिंगायतों ने भी ब्राह्मणों की प्रभुता के विरुद्ध आवाज उठाई । वर्तमान में तमिलनाडु में रामस्वामी नायकर के नेतृत्व में भी ब्राह्मणवादी विचारों के विरुद्ध आन्दोलन किया गया था । यद्यपि ये प्रयास सफल नहीं हो पाये ।

आधुनिक भारत में जातिव्यवस्था के संस्तरण में होने वाले परिवर्तन में दोनों प्रकारों की प्रकृति देखने को मिल रही है । कई समाजशास्त्रीय अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि भारत में हो रहे अन्य परिवर्तन के परिणामस्वरूप जाति के अन्दर कुछ परिवर्तन हो रहे हैं । निम्न जातियाँ अपने सामाजिक स्तर को ऊँचा करने के लिए सवर्ण जातियों के मूल्यों, विचारों, रीतियों, संस्थाओं आदि का ग्रहण कर रही हैं, जिसको भारत के प्रमुख समाजशास्त्री **श्रीनिवास** ने कहा है कि संस्कृतिकरण के साथ-साथ और प्राय: उसके परिणामस्वरूप सम्बद्ध जाति ऊपर की ओर गतिशील होती हैं, पर संस्कृतिकरण के बिना गतिशीलता भी अथवा गतिशीलता के बिना संस्कृतिकरण भी सम्भव है; किन्तु संस्कृतिकरण से सम्बद्ध गतिशीलता के परिणामस्वरूप व्यवस्था में केवल पदमूलक परिवर्तन ही होते हैं, कभी संरचनामूलक परिवर्तन होते हैं, कभी संरचनमूलक परिवर्तन नहीं होते हैं। अर्थात् एक जाति अपने आस-पास की जातियों से ऊपर उठ जाती है और दूसरी नीचे आ जाती है, पर यह सब एक मूलत: अचल सोपान में घटित होता है । स्वयं व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं होता । व्यवस्था में परिवर्तन तभी सम्भव है, जब उसके वैचारिक आधार पर ही आक्रमण हो । अतएव जातिव्यवस्था पर भी यही बात लागू होती है।

हिन्दू धर्म में जातिव्यवस्था को वैचारिक आधार प्रदान करने के लिए कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त का उपयोग किया गया है । भारतीय समाज में कर्म के सिद्धान्त के द्वारा व्यक्ति की वर्तमान सामाजिक-आर्थिक स्थिति को स्वीकार किया

जाता है, जिसके परिणामस्वरूप प्रत्येक हिन्दू अपनी वर्तमान स्थिति को अपने पूर्वजन्म के कर्मों का फल मान लेता है । सामान्यतया सभी उच्च जाति के लोग विशेषकर ब्राह्मण इस कर्म के सिद्धान्त को पूर्णरूपेण स्वीकार करते हैं और इसको कायम रखने का प्रयास करते हैं । जातिव्यवस्था को समाप्त करना तभी सम्भव है जब इस वैचारिक आधार को पूर्णरूप से समाप्त कर उसके स्थान पर कोई नई विचार-व्यवस्था को लाया जाय ।

डॉ. अम्बेडकर एवं उनके अनुयायी जातिव्यवस्था की वैचारिकी पर तो आक्रमण करते हैं, उसे नष्ट करना भी चाहते हैं; परन्तु उनके आन्दोलन शक्तिहीन है; क्योंकि उसे खत्म करके उसके स्थान पर कोई दूसरा विचार नहीं दे पाये हैं । जातिव्यवस्था के वैचारिक आधार को उच्च जाति द्वारा इतना तार्किक एवं प्रभावशाली बना दिया गया है कि उसे समाप्त करना आसान नहीं है । इसका ही परिणाम है कि ब्राह्मणवादी विचारों से मुक्ति पाने के लिये डॉ. अम्बेडकर तथा उनके अनुयायियों ने बौद्ध धर्म अपना लिया और जातिव्यवस्था के वैचारिक आधार को समाप्त करने का उनका प्रयास जारी है । अभी यह कहना कठिन है कि भविष्य में भारत में सामाजिक संस्तरण का क्या स्वरूप होगा ।



भारतीय समाज में नारियों की बदलती स्थिति

डॉ० सविता पाठक*

डॉ० इरावती कर्वे ने लिखा है कि ''भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति के सम्बन्ध में कोई निश्चित, पूर्ण एवं अन्तिम धारणा नहीं बनायी जा सकती; क्योंकि समय, परिस्थितियों एवं ऐतिहासिक उतार-चढ़ाव के साथ उसमें बहुत परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है ।

जब हम भारतीय नारी की स्थिति का विहंगावलोकन करते हैं, तो निम्नलिखित पंक्तियाँ चरितार्थ लगती हैं। वैदिक काल से लेकर अब तक स्त्रियों की स्थिति में कितने उतार-चढ़ाव आये हैं । कभी **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'** और **'या देवी सर्वभूतेषु ....'** की दृष्टि लोक-मानस में व्याप्त थी । सर्वत्र मातृसत्तात्मकता से पूर्ण समाज में नारी का उच्च स्थान था । वह स्वयंवरा थी, उसे अपनी इच्छा से किसी को चुनने अथवा तिरष्कृत करने का पूर्ण अधिकार था, तो काल के अन्तराल में कभी **नारी जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी ....** की स्थिति तक विपन्न होना पड़ा। इन्हीं के बीच समरसतावादियों एवं मानवतावादियों द्वारा **नारी तुम केवल श्रद्धा हो** जैसे विचार भी अंकुरित होते हैं । साथ ही उसे दूसरे दर्जे का नागरिक भी ठहराया जाता है, शोषण की शिकार होती है तथा बच्चा पैदा करने एवं पालने की मशीन की नियत को जीते हुए बंधुआ मजदूर की जिन्दगी जीती है ।

भारतीय समाज व्यवस्था में स्त्रियों की स्थिति में हम शास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार करते हैं तो स्त्रियों की स्थिति पूर्व ऐतिहासिक काल से उत्तरोत्तर जटिल

---

* प्रवक्ता- समाजशास्त्र, गौतमबुद्ध राजकीय महाविद्यालय, फैजाबाद (उ० प्र०)

होते हुए एक संश्लिष्टता (Complity) को प्राप्त होती है । पूर्व ऐतिहासिक काल में जब कि विवाह जैसी कोई संस्था अस्तित्व में नहीं थी, स्त्रियों की स्थिति कबीलों की जिन्दगी में भी 'मातृसत्तात्मकता' से पूर्ण एवं उच्च थी; क्योंकि समूह की मालकिन स्त्री होती थी और अपनी इच्छानुसार पुरुषों को अपने कबीले में सम्मिलित करती थी अथवा बहिष्कृत करती थी । महाभारत काल के अन्तर्गत जब ऋषि उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने अपनी माँ के साथ कुछ अनुचित व्यवहारों को देखकर पिता उद्दालक से शिकायत की, तो उन्होंने हँसकर टालते हुए कहा– 'बेटे! यह तो सनातन से चला आ रहा है'; लेकिन श्वेतकेतु उद्वेलित हुआ और उसने विवाह-संस्था की स्थापना की ।

वैदिककालीन समाज व्यवस्था और उसके बहुत आगे की सभ्य सुसंस्कृत व्यवस्था के अन्तर्गत भी निकट सम्बन्धों पर कोई निषेध नहीं था । स्त्री इसके लिए स्वतन्त्र होती थी और वह उसकी इच्छा पर निर्भर करता था । भारतीय संस्कृति में उस नारी के विकृत रूप को भी माँ और देवी की शक्ति के रूप में देखा जाता था। उपासना पद्धतियों में शक्ति-उपासना एवं मातृ-पूजन इसके प्रमाण हैं । हमारी लोकसंस्कृति में भी सभी जगह देवी-पूजा के जो विभिन्न रूप मिलते हैं, उससे भी यह सिद्ध होता है कि हमारे समाज में किसी समय सर्वत्र 'मातृसत्तात्मक' व्यवस्था रही होगी। कहीं-कहीं वैदिककालीन पौराणिक एवं महाकाव्य साहित्य में इसके प्रमाण उपलब्ध हैं ।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि उस युग में नारी का बड़ा समादर था । विवाह का उद्देश्य मात्र कामवासना न होकर धर्म की प्राप्ति थी। ऋग्वैदिक काल के प्रथमार्द्ध में स्त्रियाँ युद्ध द्वारा छिनकर या छीनाझपटी से प्राप्त नहीं की जाती थीं । कन्या का पिता उपयुक्त वर खोजकर सप्तपदी से उसका विवाह करता था ।

ऋग्वेद में ही आगे चलकर ऐसा वर्णन मिलता है कि विवाह के अवसर पर लड़की को लड़के के पिता की ओर से विभिन्न भेंट, उपहार दिये जाते थे तथा उसे सम्मिलित रूप से आशीर्वाद दिया जाता था— श्वसुर-गृह की साम्राज्ञी बनो!

अधिकार से रहो! अधिकार से बोलो, कल्याणी बनो ! इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्रियों की स्थिति उच्च तथा सम्मानित रही है ।

समय का कालचक्र तीव्र गति से चलता रहा । वैदिककालीन समाज में ही 'पितृसत्तात्मकता' शुरू होने से पुत्री की अपेक्षा पुत्र को वरीयता दी जाने लगी। इसका प्रमाण है कि कहीं-कहीं पुत्रकामना का वर्णन मिलता है, जिसमें श्रेष्ठ पुत्र-प्राप्ति के लिए देवताओं से प्रार्थनाएँ की जाती थीं । 'पुत्रेष्टि यज्ञ' सम्पादित किये जाते थे, पुंसवन संस्कार किये जाते थे तथा कहीं-कहीं इसी उद्देश्य से नियोग की प्रथा दृष्टिगोचर होती है । इतना होने पर भी पुत्री का तिरस्कार नहीं था । पुत्र-पुत्री के पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा में भेद नहीं था । लड़कियों को भी उच्चशिक्षा या वेद के पठन-पाठन से वंचित नहीं रखा जाता था । बाल-विवाह का प्रचलन था । आजीवन कुँवारी रखने की इच्छा रखने पर पुत्री को पिता की सम्पत्ति में उत्तराधिकार दिया जाता था । जब कि विवाहित स्त्रियाँ अपने स्त्री धन को ही स्वेच्छानुसार खर्च कर सकती थीं । बहुत-सी कन्याएँ ज्ञानार्जन करते हुए अपना जीवन व्यतीत करती थीं । ऋषिकाएँ बनने वाली कन्याएँ ब्रह्मवादिनी कहलाती थीं। वे वेद-अध्ययन के साथ-साथ अध्यापन भी करती थीं । यज्ञ-कर्म भी करवाती थीं । ऋग्वेद के अनेक सूत्रों की रचना इन ऋषिकाओं व ब्रह्मवादिनियों द्वारा की गयी है ।

वैदिककालीन सभ्यता के द्वितीय चरण के साथ आर्यों में बहु-विवाह का चलन हुआ, दासी-प्रथा भी सामने आयी, युद्धविजित स्त्रियाँ बन्दी बनायी जाने लगीं । दासियों से लोग विवाह नहीं करते थे, वे अन्तःपुर के राजा की सेवा-कार्य में रत रहती थीं ।

इस प्रकार से उनकी स्थिति में एक बार गिरावट आयी; लेकिन पुनः इन विसंगतियों को बुरा समझकर परिष्कार करने की स्थिति देखी जाती है । स्मृतिकाल में भी एक बार स्त्रियों की स्थिति पुनः पतनोन्मुख होती है; परन्तु इतना नहीं कि उसे हर प्रकार से समझौते करने पड़े । इस संदर्भ में मनु का स्पष्ट कथन है कि 'उन्मत्त, विलीन, असाध्य रोग से पीड़ित पति को त्यागने वाली स्त्रियाँ अपराधिनी नहीं कही जायेंगी, मनु ऐसी स्त्री को पुनर्विवाह की स्वीकृति देते हैं । उस समय सती प्रथा नहीं थी । इसके बदले एक प्रथा यह थी कि पति के शव के पास से

रोती हुई पत्नी को इस सम्बोधन से उठाया जाता था – 'हे नारी उठो और पुनः सांसारिक जीवन अपनाओ । इस निष्प्राण शरीर के पास रहना व्यर्थ है । उठो और जो तुम्हारा हाथ पकड़ने को तैयार है, उसे अपना पति स्वीकार करो' ।

सूत्रकाल तथा स्मृतिकाल के अन्तर्गत ऋषि याज्ञवल्क्य ने स्त्रियों को जार (किसी से प्रेम सम्बन्ध स्थापित करना) द्वारा अपवित्र नहीं माना है । कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ऐसी व्यवस्था दी गयी है, जिसके अन्तर्गत स्त्रियों का अत्यन्त उच्च स्थान है । उसे पुत्र के समान एवं सक्षम स्वीकार किया गया है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के १२ वें अध्याय के ८७ वें प्रकरण को कन्या प्रकरण सम्बोधित किया है तथा स्त्रियों के शीलसम्बन्धी ऐसे नियमों की घोषणा की है, जिससे उनकी उच्चता का आभास होता है । जहाँ पर एक ओर इतनी उच्चता की बात की गयी है, वहीं पर समानान्तर गति से महाभारत में सूर्य, चन्द्र तथा इन्द्र आदि देवताओं द्वारा अवैध सम्बन्धों, अपहरणों व बलात्कारों के भी उदाहरण मिलते हैं । इन्द्र के गुरु की पतित पत्नी अहिल्या का ग्लानि पीड़ित होकर प्रस्तर बन जाना, सूर्य द्वारा कुन्ती के कौमार्य्यपन से उत्पन्न संतान के अवैध होने के कारण नदी में प्रवाहित किया जाना आदि स्पष्ट उदाहरण हैं । यदि हम इन्हें सत्य न मानें, तो भी देवतारूपी एक अभिजात वर्ग द्वारा किये गये दुष्कर्म के प्रति आम स्त्री में प्रतिशोध की प्रवृत्ति दिखायी देती है । बौद्धकाल में महात्मा बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य आनन्द के कहने पर ही स्त्रियों को संघ में दीक्षित होने की अनुमति दी। जबकि बुद्ध का मानना था कि 'नारी के प्रवेश से संघ की आयु क्षीण हो जायेगी, वह सहस्त्र, वर्ष जीने के बजाय पाँच सौ वर्ष भी नहीं जीयेगा।

यद्यपि वेदों में कहीं-कहीं वेश्यावृत्ति का उल्लेख मिलता है; लेकिन तब प्रायः इस जीवन के लिए इच्छुक दासियाँ ही वेश्याएँ बनती थीं । फिर भी समाज में उनकी विशिष्ट स्थिति मान्य थी । उनका स्तर निकृष्ट नहीं था । स्मृतिकाल की वेश्याएँ केवल युद्ध में विजित दासियाँ ही नहीं थीं वे शूद्र वर्ग से आती थी ।

मध्यकाल

उत्तर वैदिककाल में अपहरण द्वारा और खरीद् कर लाई गयी पत्नी को भी विवाह के प्रकारों से मान्यता प्रदान कर दी गयी थी । प्रेम-विवाह का रूप गन्धर्व विवाह, अपहरण-विवाह से श्रेष्ठ माना गया था ।

लड़की पिता की व पत्नी पति की समझी जाने योग्य व्यवस्थाएँ भी दी जा चुकी थीं, फिर भी नारी का दर्जा अब तक इतना नीचे नहीं आया था जितना कि मध्यकाल में ।

जब गुप्तों के स्थान पर अहीर, हूण और गुर्जर अस्तित्व में आये, तो आक्रमणकारियों से रक्षा में असमर्थ होने पर कन्या को जन्म के समय मार देने की इनकी परम्परा भारत में भी अपना ली गयी । सती-प्रथा और जौहर-प्रथा ने भी इन्हीं कारणों से जन्म लिया । इस एक हजार वर्ष की अवधि में भारतीय समाज में नारी की सामाजिक स्थिति जितनी गिर गयी, उतनी इसके पूर्व हजारों वर्षों में नहीं गिरी थी।

मध्यकाल का यह सामन्तीयुग औरत और मदिरा के लिए प्रसिद्ध है । मुस्लिम शासकों के हरम में सुन्दर रखैलें भरी रहती थीं । तातरी बाँदियाँ ही नहीं, भारतीय सुन्दरियाँ भी हरम में पहुँचने लगी थीं । राजपूत नारियों ने मुगल महलों के भीतर रहकर अलग ढंग से अपने जौहर दिखाये और हिन्दू-मुस्लिम एकता के रूप में मुस्लिम अत्याचारों पर रोक लगाने में सफल हुईं । इसी समय सन्त तुलसीदास ने सीता-राम के आदर्श चरित्रों वाली 'रामचरितमानस' लिखी।

इसी काल में राजपूतों के महलों में रानियों के साथ दासियों का दहेज में आने या राजपूतों को युद्ध में बड़ी संख्या में दासियों को प्राप्त करने का प्रचलन था । ब्रिटिश राज्य में भी इन महिलाओं की स्थिति नहीं सुधरी । वेश्यावृत्ति का बड़े पैमाने पर व्यवसायीकरण हो गया । कालान्तर में वेश्यावृत्ति समाज की मान्य संस्था नहीं रही । उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ही 'इण्डियन पैनल कोड' में इस मामले में जोर-जबरदस्ती करने या इस व्यवसाय के लिए स्त्रियों को खरीदने और बेचने पर रोक लगा दी गयी । इसका संशोधित रूप सन् १९७८ में 'वेश्यावृत्ति उन्मूलन अधिनियम' के रूप में सामने आया । वेश्यावृत्ति से हटकर राजाओं का अवैध यौनाचार भी प्रचलित था। मध्यकालीन राजाओं की यह परम्परा स्वतन्त्रतापूर्व तक देशी रियासतों के राजा निभा रहे थे। अंग्रेज अधिकारी जान-बूझकर इन राजाओं को रंग-रेलियों में व्यस्त रखकर राज-काज से विमुक्त कर देते थे । रियासतों के विलीनीकरण से यह स्थिति समाप्त हो गयी ।

पूर्व-आधुनिक काल

मध्यकालीन स्थितियों में भारतीय समाज में नारी का दर्जा किस सीमा तक नीचे आया, इसकी एक झलक सन् १८३३ में तत्कालीन समाज की शैक्षणिक स्थिति के अध्ययन के लिए नियुक्त 'लार्ड विलियम बेंटिक रिपोर्ट' देखी जा सकती है। इस रिपोर्ट में बताया गया है कि अधिकांश हिन्दू परिवारों में यह धारणा फैली हुई है कि लड़कियों को शिक्षा दिलायी जायेगी, तो धर्मविरुद्ध इस कार्य से वे विधवा हो जायेंगी। पुरुषप्रधान समाज की इस धारणा का प्रभाव नवजागरण काल तक रहा, जब कि भारत में स्त्री-शिक्षा १.०७ प्रतिशत और स्वतन्त्रता-पूर्व तक ४ प्रतिशत रही। स्वतन्त्र भारत का संविधान लागू होने पर १९५२ में यह प्रतिशत ८ तक पहुँचा। सन् १९७१ में १८.७ और सन् १९८१ में २४.८८ तक। ये दरें भी साक्षरता की हैं, पर्याप्त शिक्षा की नहीं और उसी भारतीय नारी साक्षरता की जो वैदिककाल में ब्रह्मवादिनी थी, वेद ऋचाओं की रचना करती थी और उत्तर वैदिककाल में भी शास्त्रार्थ करती थी।

डॉ० देवकी जैन ने अपनी चर्चित पुस्तक 'इण्डियन वूमेन' के अन्तर्गत लिखा है कि 'गत तीन दशकों में भारतीय स्त्रियों की स्थिति और भूमिका में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं, कदाचित् पिछली तीन शताब्दियों में उतना नहीं हो पाया था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त स्त्री की स्थिति तथा भूमिकाओं में नियोजित परिवर्तनों की एक शृंखला दिखायी देती है। अपना संविधान बन जाने के बाद स्त्रियों के पिछड़ेपन को देखते हुए विभिन्न सामाजिक अधिनियमों का प्राविधान किया गया तथा जो पूर्ववर्ती सामाजिक अधिनियम स्त्रियों की स्थितियों में सुधारार्थ बनाये गये थे, उनके प्रभावी न होने के कारणों पर विचार करते हुए समुचित संशोधन किये गये। उदाहरण के लिए बाल-विवाह को रोकने के लिए 'शारदा एक्ट १८६१' बनाया गया। उसमें आवश्यक सुधार किया गया, जिससे वे प्रभावित हो सकें। अशिक्षा, बेमेल विवाह तथा विधवा-विवाह के निषेधों को हटाने के भी प्रविधान किये गये।

१८५६ में सर्वप्रथम ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा बाल-विवाह और विधवा-विवाह निषधों के विरोध में पहल की गयी थी। सन् १८६० ई० में अधिनियम

पारित कर विवाह की उम्र १० वर्ष निर्धारित की गयी । इसके ३० वर्ष पश्चात् पत्रकार पी०एम० मालावारी ने अपने सुधारवादी प्रयत्नों को एक आन्दोलन का रूप दिया और १८८१ में यह उम्र १३ वर्ष कर दी गयी । सन् १९२५-२८ के बीच में भी एक 'जाति समिति' बनायी गयी, जिसके अध्यक्ष राय हर विलास शारदा थे । उनके अनुरोध पर शारदा एक्ट बनाया गया, जिसके अन्तर्गत लड़कों की उम्र कम से कम १८ वर्ष तथा लड़कियों की १४ वर्ष निर्धारित की गयी । इसका उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को १०००/– रूपये जुर्माना, छः महीने का कारावास अथवा दोनों का प्रावधान किया गया। वर्तमान काल में इसे संशोधित कर विवाह की आयु लड़कों के लिए २१ वर्ष व लड़कियों की १८ वर्ष कर दी गयी तथा इसके साथ ही ऐसी सामाजिक चेतना विभिन्न माध्यमों (संचार, शिक्षा, सरकारी प्रयत्न, कानून) से देर विवाह की प्रवृत्ति के प्रति जागृत हुई, जिससे लड़कियाँ पढ़-लिखकर आत्मनिर्भर बन सकें ।

हिन्दू विधवा-विवाह निषेध को भी हटाया गया; लेकिन इसकी सामाजिक मान्यता २०वीं शताब्दी के मध्य तक नहीं मिल पाई । सन् १९५२ की एक जनगणना के अनुसार विधवाओं की संख्या २ करोड़ २० लाख दर्ज की गयी, जिसमें ९० प्रतिशत के पुनर्विवाह नहीं हुए । १९७१ की जनगणना में २ करोड़ २० लाख विधवाओं की संख्या अंकित की गयी । प्रति हजार विधुरों के पीछे २७७२ विधवाओं का अनुपात मिलता है । इससे स्थिति स्पष्ट है कि सन् ७१ तक कानूनी प्रावधान के बावजूद भी स्थिति में बहुत अधिक सुधार नहीं हुआ था ।

परन्तु जैसे-जैसे शिक्षा का प्रचार और प्रसार बढ़ा, स्त्रियों में आत्म-निर्भरता आने लगी, वे अपने स्वयं के व्यक्तित्व की पहचान करने लगीं, वैसे ही पुनर्विवाह की उन्मुखता भी बढ़ी । अब विधवाओं के लिए थोपे गये निषेधों में कमी आयी है, जैसे- रंगीन कपड़े न पहनना, शृंगार न करना आदि। इसी प्रकार सतीप्रथा को भी एक गम्भीर अपराध के रूप में घोषित किया गया तथा उसके लिए हत्या के अपराध जैसे दण्ड निर्धारित किये गये । जिसके कारण इस प्रवृत्ति में काफी कमी आयी है, फिर भी परम्परागत संस्कारों का भार, धार्मिक अंधविश्वास के कारण वर्तमान में भी छिट-पुट घटनाएँ देखी जाती हैं। उदाहरणस्वरूप, १० सितम्बर, १९८७ को राजस्थान में शेखावटी क्षेत्र में एक २० वर्षीय विधवा अपने

पति के साथ जल कर सती होती है, तो सभी बन्धु-बान्धव श्रद्धा से देखते रहे, किसी ने हस्तक्षेप नहीं किया। विभिन्न सामाजिक प्रतिबन्धों, निषेधों एवं अन्धविश्वासों के विपरीत लड़ाई तो लार्ड विलियम बेंटिक एवं राजा राममोहन राय के प्रयासों से ही प्रारम्भ हो गयी थी; परन्तु उसे वर्तमान में सामाजिक जागरूकता के कारण व्यावहारिक धरातल तक लाया जा सका है।

वरिष्ठ अधिवक्ता श्रीमती श्यामला कप्पू ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि 'लोगों के विचार धीरे-धीरे बदलते हैं; परन्तु यदि उन्हें कानून के द्वारा बाँध दिया जाता है, तो प्रभाव और तीव्रता से होता है, जैसे सरकारी कर्मचारियों द्वारा दूसरी शादी करने पर नौकरी से हाथ धोना पड़ता है । इस कानून में पति की एकनिष्ठता अब पुरुष की दया नहीं, औरत का हक माना जाने लगा है । उसी तरह दहेज पर भी यह संहिता लागू होने पर उसका असर पड़ेगा । १०-१५ साल समाज की प्रकृति को बदलने में लगेंगे । पर दहेज जरूर खत्म होगा ।

वर्तमान उपभोक्तावादी संस्कृति के अन्तर्गत स्त्रियों के विभिन्न आयाम उभर कर सामने आये हैं । विभिन्न क्षेत्रों में स्त्रियाँ जागरूक तथा सचेतन देखी जाती हैं। अब प्रशासनिक सेवाओं में जाने की प्रवृत्ति उभर कर सामने आयी है । १९७२ में सर्वप्रथम महिला आई. पी. एस. श्रीमती किरन बेदी जब पद पर प्रतिष्ठित हुईं, तो अपने में एक नया अनुभव था; लेकिन १९८६ तक ३७ आई. पी. एस., २९ आई. ए. एस. तथा सैकड़ों की मात्रा में पी. सी. एस. महिलाएँ सेवारत देखी जा रही हैं । चिकित्सा के क्षेत्र में तो बहुत पहले से महिलाओं का पदार्पण हो चुका था। डा. सुशीला अय्यर से लेकर अब तक हजारों की संख्या में स्त्री पूर्णरूप से शिक्षित तथा सरकारी सेवाओं में कार्यरत देखी जाती हैं । शिक्षा का क्षेत्र तो जैसे उनके स्वभाव के कारण प्राथमिक और सबसे विस्तृत क्षेत्र रहा है । आज पुरुषों की तुलना में ३७ प्रतिशत स्त्रियाँ भी शिक्षण क्षेत्र में देखी जाती हैं । विभिन्न शिक्षा संस्थाओं, अनुसंधान केन्द्रों में भी स्त्रियों का प्रवेश हुआ है, जिसे पहले उनका कार्यक्षेत्र नहीं माना जाता था । आज महिलाएँ जहाज चालक, लेफ्टिनेन्ट, कमाण्डर, इंजीनियर आदि व्यवसायों में भी प्रविष्ट हैं । अपना स्वयं का स्वतन्त्र व्यवसाय चलाने में भी उन्होंने महारत हासिल की है। उदाहरणार्थ— लिज्जत पापड़ उद्योग शतप्रतिशत स्त्रियों द्वारा संचालित एवं संबन्धित हो रहा है । इसी प्रकार कला, साहित्य, संगीत,

फिल्म के क्षेत्र में कलाकार के रूप में तो महिलाओं की उपस्थिति पहले से देखी जाती है। आज निर्माता, निर्देशक, वितरक के रूप में भी उनकी उपस्थिति देखी जाती है । उदाहरण के लिए सई परांजपे, अपर्णा सेन, विद्या सिन्हा आदि महिला कलाकार पुरुषों के समानान्तर कार्य कर रही हैं । लेखन और सम्पादन के क्षेत्र में कई अग्रणी महिलाएँ देखी जाती हैं । उदाहरणार्थ— 'फैमिना' की सम्पादिक श्रीमती विमला पाटिल, 'वामा' की सम्पादिका श्रीमती मृणाल पाण्डे, 'वूमेन ईरा' की सम्पादिका श्रीमती इविंगस आदि ने अपने सम्पादकीय माध्यमों से नारी जागरण को नया आयाम दिया है । सुश्री बरखा दत्त जैसी कुछ महिला पत्रकार खोजी पत्रकारिता को नया प्रारूप देते हुए ऐसे-ऐसे प्रकरण सामने लायी हैं, जो पुरुषों के लिए भी मुश्किल थे । खेल-कूद तथा शरीर सौष्ठव के क्षेत्र में श्रीमती हमीदा बाई ने जहाँ एशियन चैम्पियन का खिताब हासिल किया वहीं पी. टी. उषा ने सियोल में आयोजित विश्व स्तरीय प्रतियोगिता में ५ स्वर्णपदक हासिल किये । श्रीमती शकुन्तला कुलकर्णी ने गणित के क्षेत्र में कम्प्यूटर को भी मात दिलायी है । दर्शन तथा चिन्तन के क्षेत्रों में भारतीय महिलाएँ अब पीछे नहीं हैं ।

राजनीतिक क्षेत्रों में तो भारतीय महिलाओं की सहभागिता किंचित् विश्व में सर्वोपरि सघनता के साथ दर्शित होती है । एक महिला प्रधानमंत्री स्व. श्रीमती इंदिरा गाँधी द्वारा निरन्तर १६ वर्ष तक प्रधानमंत्री के रूप में कार्य करना विश्व में अद्‌भुत रिकार्ड है । वर्तमान में संसद में १७ प्रतिशत महिलाओं का प्रतिनिधित्व है, जिनमें से श्रीमती गोपालन, पूर्वी मुखर्जी, मोहसिना किदवई, मारग्रेट अल्वा, श्रीमती कृष्णा शाही आदि प्रखर महिलाएँ सहयोग दे रही हैं । श्रीमती नंदिनी शतपथी जैसी प्रखर महिला ने उड़ीसा जैसे विवादास्पद क्षेत्र की मुख्यमंत्री बने रहने का गौरव प्राप्त किया। विधानसभाओं तथा राज्यसभा में महिलाओं का अनुपात क्रमश: बढ़ रहा है । श्रीमती सुषमा स्वराज को सबसे कम उम्र वाली मंत्री तथा दिल्ली जैसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र की मुख्यमंत्री बनने का गौरव भी हासिल हुआ ।

भारतीय समाज में महिलाओं की बदलती स्थिति के आकलन हेतु शोधकर्ता द्वारा जो अध्ययन प्रस्तुत किया गया, उस निमित्त चमोली उत्तराखण्ड जिले के गोपेश्वर एवं जोशीमठ तहसीलों से कुल १००-१००महिला उत्तरदाताओं को निदर्शन के रूप में चुना गया । चयन का आधार मुख्य रूप से विषयमूलक

रखा गया । निदर्शन के चुनाव में इस बात का विशेष तौर पर ध्यान रखा गया कि उत्तरदाताओं के माध्यम से सभी सामाजिक वर्गों, जातियों, धर्मों, आर्थिक, शैक्षणिक एवं आयु वर्ग का समान प्रतिनिधित्व हो सके ।

तथ्य संग्रह-विश्लेषण एवं अनुशीलन के उपरान्त निम्नलिखित निष्कर्ष पाये गये –

१. परम्परागत रूप से महिलाएँ जिनकी जीवन-परिधि मात्र खेती एवं शिल्प के शारीरिक श्रम के साथ जुड़ी थी, शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ नौकरियों में भी इनकी उपस्थिति देखी जाती है ।

२. स्त्रियों में आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने की प्रवृत्ति बढ़ी है, इसी का परिणाम है कि अध्ययन-क्षेत्र में ५.७ प्रतिशत महिलाएँ आत्मनिर्भर पाया गयीं।



Gender Inequality In India

*Dr. (Smt.) Kalpalata Dimri**

The year 1997 has been celebrated to mark the 50 years of India's Independence. A lot has been said about the development in various fields after 1947. Progress in the economy, specially industrial growth, education and literacy, health and nutrition, science and technology we have been made to feel and touch only the brighter side of the period. But what about reforms in the social sector and that to in the world of Indian Women.

Recently, the first lady of India Mrs. Usha Narayanan has said that most of positive development during the past fifty years do not appear to have filtered down beyond certain sections of middle class in both urban and rural areas. Perhaps she was referring to the plight of women in India. Imagine the conditions with in Indian Society where the women is called 'Shakti' and the man worship Goddess Durga, Kali and at the same time it is she who suffers most on all fronts. Due to this gender inequality an Indian woman has been suffering physically, emotionally and economically since thousands of years.

Who is to be blamed for this inequality ? Can you blame the almighty God ? Or the society dominated by males ? Or the woman - the creator of the world is to be held responsible ? Think of the blessings

* Lecturer in Economics, Vasant Kanya Mahavidyalaya, Kamachha, Varanasi.

given to a Hindu woman at the time of her wedding - ***'May You be the mother of Hundred Sons'***. Hundred sons and no daughter ? In Mahabharata Duryodhana had 99 brothers; Pandavas were 5 brothers; Sri Ram had only two sons. How came it happened that the creator of these two epics viz. Maharishi Valmiki or Vyas could think even of a single girl child. Perhaps the story would have been different then.

Even today when male child is born in India '***Sohar***' is sung to mark the occasion. How many families celebrate the birth of a female child ? The worst have come with the introduction of sex determination test. So it is easier to avoid the birth of a girl child by way of abortion. There are hundred of cases where the parents killed their day old daughters as they could not afford dowry in future. We all known about **'Jauhar/Sati'** system, Man, the maker of law was so biased towards gender that he evolved horrible ways and implemented them through the social laws. We find hundreds of old widows begging for survival at Kashi, Mathura, Vrindavan and other holy places. Who is responsible for this condition of widows ? None other than their sons and brothers. Is it not surprising that even as on date atleast one reported rape occurs in India, every hour. There are millions of examples which confirm the status of women vis-a-vis gender inequality in India.

In historical perspective we find that initially the position of woman was not bad. The earlier society did not have gender bias and the woman had respectful position in the society. The oldest of the Vedas Rigveda confirms this. But over the next two thousand years the position of woman eroded. Between 200 B.C. - 200 A.D. Hindu law made the position of woman disgraceful and made him dependent on father, husband and sons. No autonomy, the final decline came with the advent of Mughals and with them came the regressive attitude towards women.

It is often said that with regard to India for anyone statement made, the exact opposite is also true. People give the example of late Prime Minister Mrs. Indira Gandhi. Is it not true in a country where one of the highest offices was decorated by a woman millions of women's condition was wretched. Some people call the women of this country as "the largest group of backward citizens" as they are both female and poor.

It is true that many feminist organisations and social scientists have trid to find out the reasons behind the gender bias prevalent in Indian society. The feminist movement in this country can be divided into three phases. It was the new middle class woman who responded to the upheavals that began in Indian life with the birth of the national movement at the end of nineteenth century. But the involvement of more or less restricted to Swadeshi Movement. Next phase started in thirties when the women involved themselves in the movement in broader perspective. The third phase, perhaps started from mid seventies when the Government released 'Towards Equality" ... an explosive far-reaching report on the status of Indian women.

It is commonly acknowledged that one of the reasons behind gender inequality is lack of education. Some foolishly admit that as the woman is physically weaker she faces the brunt all the times. Earlier some people thought of the problems and made sincere efforts to get rid of gender inequality in one way or other. Raja Ram Mohan Roy, the founder of Brahma Samaj started a movement and finally convinced the people how evil was the system of 'Sati Pratha' and thus managed to put an end to it through ban in 1859. The effect of modern education rather European Education forced the selected few Indian women to think about their existence as a class their inner powers, emotions and sentiments. Anie Besant could think this and through education

revolutionised the psyche of Indian woman. Perhaps due to this change an Indian woman has been able to think and analyse that something irrational, wrong was done to her throughout centuries.

By far the education has been and certainly is the best way to awaken the spirit of woman. But in a poor country like India where a large portion of population live in villages as well as nearer to poverty line how many can efford that. The poverty does not allow a girl child to go to school and complete her primary education. Parents can not buy books stationery items etc. So it was thought that if the economic status of woman was lifted slightly there were chances to reduce gender bias. This has been the idea of social worker. We all know about ***Sewa*** (Self Employed Women's Association) - a sprawling organisation for the economic empowerment of women by the women. Due to ***Sewa*** thousands of women have realised their potential and have learned the ways to live an honourable life which was not possible otherwise. And all these became possible due to imagination, determination, action of a woman named Ela Bhatt. We think of "Chipko Movement" in the hills of Uttar Pradesh and the name of Gaura Devi strikes our mind. In Southern Kerala there were women who were at the fore-front of a struggle for the rights of fishermen and women. Whenever there was self realisations the women stood up and thus came success. But it needed some one amongst them to realise the society's bias and ways to get rid of it. The question still persists whether the help of government is needed to put an end or at least reduce gender inequality. Perhaps strong political will followed by legislation and implementation are needed. It is true that as on date due to reservation for women a large number of women are heading offices at the grassroot level such as village Panchayats, Block and District levels. But even then the crime against them are on the rise.

It seems unless they have substantial number in the state assemblies or parliament nothing concrete may come out. A number of women's organisations have demanded 33 per cent reservation for the women in the legislature. A few of the political parties have included this demand in their manifestos. Will it come true - we cannot say. The case of Shabhanoo, in 1985, clearly shows the government's lack of will power to improve the lots of women in India especially the minority community women.

The women of this country have a right to live respectfully and move forward with the male partner towards the development and prosperity of the country. With the gender inequality this can never become possible. With the help of education, self realisation and government support we can attack gender bias and its effects. But history has shown us that we do not have to beg for them. We have to organise ourselves - commit to cause of millions of destitute women - awaken them and combined the women shall make efforts to attack the gender inequality.

References :

1. Altekar, A.S.; the position of Women in Hindu civilization: From Prehistoric times to the Present Day, Delhi, Motilal Banarsidas, 1983.
2. Jain, Devaki, ed. Indian Women, New Delhi, Publications Division, Ministry of Information and Broadcasting, GOI, 1975.
3. Pakrasi, Kanti B; female Infanticide in Indian, Calcutta; editions Indian, 1970.
4. Bumiller, Elisabeth, May you be the Mother of Hundred of Sons: A Journey among the Women of India, Fawcett Columbia, New York, 1991.

◆

मानव समाज और संस्कृत शिक्षा

प्रो. सुभाष चन्द्र तिवारी*

भारत के शैक्षिक जगत् में आज दो धारायँ प्रवाहित हो रही हैं । प्रथम धारा के रूप में यहाँ की प्राचीन मान्यताओं को स्वीकार करने वाला समाज है, जो आज भी वैदिक व्यवस्था का पक्षधर है; किन्तु इस धारा का क्षरण भी हो रहा है। सामाजिकता के धरातल पर यदि हम विचार करें तो यह वर्ग तो सामान्य खान-पान (ईंधन को छोड़कर) के अतिरिक्त अन्य समस्त सुविधाओं का उपभोग कर रहा है; किन्तु आदर्श वाक्य के रूप में वेदों, उपनिषदों एवं धर्मशास्त्रों की बात करता है और उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्गों के अनुसरण से मानव कल्याण की बात करता है; किन्तु स्वयं उस त्याग-वृत्ति को अपने जीवन में लागू नहीं कर रहा है । वेदों को ज्ञान की अमूल्य राशि मानकर कह रहा है कि वर्तमान सभी ज्ञान वेदों में निहित हैं; किन्तु व्यवहार में न तो उसे समाज के सम्मुख वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत कर पा रहा हैं और न ही उस दिशा में प्रयत्नशील हो रहा है । जबकि वर्तमान विश्व ने बौद्धिक सम्पदा को भी आर्थिक विकास का माध्यम बना लिया है, ऐसे में यह कर्तव्य-विमूढ़ता न तो देशहित में है, और न ही संस्कृत के हित में है ।

इसके विपरित द्वितीय धारा में लोग केवल भौतिकता की अंधी दौड़ में शामिल होकर अत्यधिक सुख-सुविधाओं के उपभोग का प्रयास कर रहे हैं और संस्कृत की मान्यताओं को केवल कल्पना मानकर उसकी उपेक्षा कर रहे हैं; किन्तु उनके सम्मुख जब अतिभौतिकता के दुष्परिणाम आ रहे हैं, तब वे नैतिकता, पर्यावरण, जनसंख्या, परमाणु-निरस्तीकरण, मानवाधिकार आदि की रक्षा की बात स्वीकार कर इसे बचाने का प्रयास तो कर रहे हैं, किन्तु इस कार्य में वे अपनी

* आचार्य- शिक्षाशास्त्र विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

उपभोक्तावादी दृष्टि को छोड़ने को तैयार नहीं हैं । उदाहरण के लिए हम प्रत्येक स्थान पर उपलब्ध नशीले पदार्थों को लें, तो देखते हैं कि एक तरफ उनका प्रचार किया जा रहा है तो दूसरी तरफ दबी जुबान से उनके नुकसान का भी प्रचार कर रहे हैं । विज्ञान युग के नाम पर आज विश्व जहाँ एक-दूसरे के नजदीक आ रहा है, तो दूसरी तरफ इसी के कारण आर्थिक विषमता एवं शोषण भी बढ़ रहा है । प्रकृति से अनावश्यक छेड़छाड़ का परिणाम किस रूप में सामने आ रहा है, इसे हम देख रहे हैं । इस सबका प्रभाव गरीबों पर ज्यादा हो रहा है और प्रकारान्तर से मानव मानव का भक्षक बन गया है । इस प्रकार का वैचारिक संघर्ष या भ्रम देश में शासन स्तर पर विद्यमान है। एक तरफ संस्कृत को त्रिभाषा सूत्र में रखने के लिए आन्दोलन का सहारा लेना पड़ा, इसके साथ ही साथ संस्कृत को केन्द्रीय एवं राज्य शिक्षा में एक विषय के रूप में बने रहने का प्रश्न उपस्थित हो गया है, संस्कृत को मृत भाषा (Classical language) शब्द से बोधित किया जा रहा है । दूसरी तरफ संस्कृत-वर्ष का आयोजन राष्ट्रीय स्तर पर हो रहा है और संस्कृत की गोष्ठियों में इसे राष्ट्रभाषा बनाने का केवल प्रस्ताव पास हो रहा है । (वास्तव में इसके विकास का प्रयास किस प्रकार हो, यह दिग्भ्रम बना हुआ है और ऐतिहासिक तथ्यों की मनमानी व्याख्या के अनुसार प्राचीनकाल की तरह राष्ट्रभाषा एवं राष्ट्रोत्थान के वर्तमान परिदृश्य को छोड़कर, परिकल्पना की जा रही है।)

सरकार दिग्भ्रमित है। नैतिक शिक्षा की बात कर रही है; किन्तु हमारा आदर्श रूप क्या हो, इसके प्रतीक महापुरुष कौन हों, के प्रश्न पर जातीय और साम्प्रदायिक आधार पर महापुरुषों को बाँटा जा रहा है । राम,कृष्ण, मनु, बुद्ध आदि को अब्राह्मण होते हुए भी ब्राह्मणों द्वारा पूजित होने की उदात्त भावना का तिरस्कार स्वरूप ही प्रस्तुत हो रहा है । इस प्रकार से लौकिक तथा पारलौकिक संकटों के समाधान के लिए भारतीय समाज में संस्कृत के ज्ञान एवं उदात्त भावना का प्रचार आवश्यक है, न कि इसे कल्पना में राष्ट्रभाषा बनाने का कथन । संस्कृत को वर्तमान समाज के सम्मुख उपस्थित इन प्रश्नों का उत्तर देना है । संस्कृत में सदैव परिवर्तनशीलता रही, उसके इसी रूप को आज समाज के सम्मुख (लौकिक एवं पारलौकिक ज्ञान को) जन-सामान्य की भाषा में प्रस्तुत करना है और इस चुनौती को संस्कृत जगत् को स्वीकार कर कार्य करना होगा, तभी इसकी उपयोगिता होगी और इसका विकास भी इसी में निहित है ।

इस क्रम में संस्कृत की शिक्षा किस प्रकार दी जाय यह प्रश्न उपस्थित होता है । साथ ही इसकी वर्तमानकालीन उपयोगिता कैसे हो, यह इसकी शिक्षा के प्रसार के लिए आवश्यक तत्त्व प्रतीत होता है । वर्तमानकालीन उपयोगिता के लिए यह आवश्यक है कि हम संस्कृत साहित्य में निहित वैज्ञानिक ज्ञान एवं उसके स्वरूप को आज की भाषा में प्रस्तुत करें और प्रयोगों के माध्यम से उनके परिणामों को स्पष्ट करें। नक्षत्र विज्ञान के सम्बन्ध में हमारे शास्त्रों में प्रचुर राशि दिखाई देती है। ग्रहण आदि की प्राचीन अवधारणा एवं उसका गणित आज भी सटीक है । आवश्यकता इस बात की है कि हम उसे आज की आवश्यकता के अनुरूप प्रस्तुत करें ।

वंशानुक्रम के प्रभावों की आज जो व्याख्या हो रही है, इसके सूक्ष्म तत्त्व भी हमारे ग्रन्थों में हैं । महाभारत ऐतिहासिक ग्रन्थ के रूप में मान्य है । कौरवों के जन्म को हम लें तो ऐसा लगता है कि वर्तमान में क्लोन का जो स्वरूप हमें दिखाई दे रहा है, कहीं उससे मिलता-जुलता स्वरूप ही उस जन्म का कारण हो सकता है । इस प्रकार के ज्ञान की दिशा में प्रयास होना चाहिए; क्योंकि पिंड को १०१ भागों में बाँटकर २ वर्षों तक सेवित करके इस वंश-परम्परा का जन्म इसी दिशा की तरफ इंगित करता है; क्योंकि यदि वंशानुक्रम के प्रभाव का ज्ञान न होता, तो धृतराष्ट्र के जन्म के कारण तत्त्व व्यास को ही वहाँ क्यों आमंत्रित किया जाता । 'पिता वै जायते पुत्रः' की धारणा भी वंशानुक्रम के गुणों की तरफ आकृष्ट करती है[१]। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के तेरहवें अध्याय में (ब्रह्मा के मोहप्रसंग में) शुकदेव जी का ब्रह्मा के सम्बन्ध में यह कहना कि उनके ज्ञान में जड़ता के होने का कारण उनका जड़ कमल से उत्पन्न होना है, वंशानुक्रम के प्रभाव को स्पष्टः करता है । इन रूपों से भी यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान समय की अवधारणा में परखनली शिशु, क्लोन शिशु तथा वंशानुक्रम का प्रभाव आदि विषयों का ज्ञान प्राचीनकाल में था । आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने ग्रन्थों में ज्ञान की इस विधा एवं प्रक्रिया की खोज करें, तो निश्चय रूप से देश का ही नहीं; अपितु सम्पूर्ण विश्व का आकर्षण संस्कृत के प्रति होगा और इसका प्रचार-प्रसार स्वयं होने लगेगा । प्रचार के लिए हमें अलग से प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होगी ।

---

१. महाभारत, सम्भवपर्व, १०५ वाँ अध्याय, ११ से १५।

इसी प्रकार हम वर्तमानकाल की शिक्षण विधियों को लें, तो इनके स्वरूप एवं क्रियाविधि का उदाहरण हमें प्राचीन संस्कृत शास्त्रों में प्राप्त है । आवश्यकता इस बात की है कि हम उन्हें वर्तमान सन्दर्भ में पारिभाषित करें । आज के इस वैज्ञानिक युग में अनेक शिक्षण विधियों के आविष्कार की बात कही जा रही है; किन्तु आज भी सबसे अधिक शिक्षा **व्याख्यान विधि** के माध्यम से ही दी जा रही है । यद्यपि इस विधि पर अनेक आक्षेप हो रहे हैं । इन आक्षेपों के परिप्रेक्ष्य में यदि हम इस विधि से सम्बन्धित प्राचीन मत को देखें, तो इनकी अनेक आपत्तियों का निराकरण हो जाता है। इस सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य की यह व्याख्या अत्यन्त प्राचीन एवं लोकप्रिय है ।

पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना ।
आक्षेपस्य समाधानं व्याख्यानं पञ्चलक्षणम् ।।

इस प्रकार से यदि व्याख्यान विधि का प्रयोग किया जाय, तो छात्र निष्क्रियता के प्रमुख आरोप (छात्र की मानसिक क्रिया के आधार पर) का समाधान हो जाएगा । इसी प्रकार यदि हम देखें, तो अनुकरण विधि का प्रयोग आज भी हो रहा है । प्रारम्भ में बालकों के उच्चारण को ठीक करने के लिए तथा माध्यमिक स्तर तक वर्तनी सम्बन्धी त्रुटियों के निराकरण का कार्य भी इसी विधि से होता है। वर्तमान में हम इसे खण्डों में विभक्त कर उच्चारण संशोधन विधि और वर्तनी सम्बन्धी अशुद्धि निराकरण विधि के नाम से संबोधित करते हैं ।

कंठस्थ करने की विधि का आज विरोध हो रहा है और प्राचीनकालीन इस विधि को अमनोवैज्ञानिक कहा जा रहा है; किन्तु वर्तमान परिदृश्य इससे भिन्न नहीं है। यदि सूत्र साहित्य एवं कंठस्थ विधि को एक साथ देखें, तो आज भी गणित, विज्ञान आदि के सूत्रों (Formula) को कंठस्थ करना अनिवार्य है । अन्तर केवल यह है कि उस काल में लेखन कला एवं छापाखानों का ज्ञान न होने के कारण सम्पूर्ण साहित्य एवं उसकी विधा को कंठस्थ करना पड़ता था; किन्तु विधि के रूप में वह आज भी प्रचलित है। आगमन तथा निगमन विधि का भी यह अच्छा उदाहरण है ।

आज प्रशिक्षण के द्वारा योग्य एवं सफल अध्यापक की परिकल्पना की जा रही है और उसमें प्रायोगिक प्रशिक्षण के लिए ८०% तथा सैद्धान्तिक के लिए २०% कार्यकाल देने को आदर्श स्थिति माना जा रहा है किन्तु यदि हम प्राचीनकालीन गुरुकुलों की व्यवस्था एवं शिष्य नायक प्रणाली (अग्र शिष्य प्रणाली) को लें, तो यह मध्यकालीन मानिटोरियल पद्धति तथा उम्मीदवादी प्रथा का मिला रूप है और तत्कालीन शिक्षकों की संख्या में व्यावहारिक प्रशिक्षण का एक अत्यन्त आदर्श रूप है, जिसमें शिक्षण के लिए प्रशिक्षण के साथ-साथ प्रशासनिक प्रशिक्षण भी प्राप्त होता था। इस दृष्टि से वर्तमान प्रशिक्षण को उससे अलग या कोई नयी खोज मानना, प्राचीनता के प्रति अज्ञानता से अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता । श्रवण, मनन और निदिध्यासन को संस्कृत के लोगों ने ही संकुचित अर्थों में प्रयोग करना शुरू कर इसे संकुचित कर दिया है ।

वर्तमानकाल की नवीनतम विधियों में अभ्यास द्वारा सीखना या योजना विधि को इससे अलग नहीं कहा जा सकता । यद्यपि वर्तमान में परमात्मा के बार-बार चिन्तन अथवा प्राप्ति के प्रयास को निदिध्यासन के अर्थ में माना जाता है; किन्तु हम यह भूल जाते हैं कि तत्कालीन शिक्षा का उद्देश्य 'सा विद्या या विमुक्तये' था । यदि हम आज भी शिक्षा के लक्ष्य या अपने उद्देश्य की प्राप्ति के क्रम में इसे देखें, तो यह सुविचारित तथ्य की प्राप्ति का निरन्तर प्रयास ही है । इस प्रकार विधि को किसी निश्चित एक लक्ष्य के साथ बाँधना उसे संकुचित करना है और इस धारणा को त्याग कर व्यापक दृष्टिकोण से विचार कर नवीनतम विधियों का मूल स्रोत इसे कहा जा सकता है । सुनना, उस पर विचार करना और पुन: निर्धारित या निर्देशित मार्ग से प्राप्ति का प्रयास ही योजना विधि का मूल स्वरूप है और यही श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन है ।

इसी प्रकार आज हम शिक्षा में मनोविज्ञान को एक विषय के रूप में स्वीकार कर बालक की रुचि एवं क्षमता के अनुसार शिक्षा देने को ही सर्वाधिक उपयुक्त एवं उसके पूर्ण विकास का आधार मानते हैं; किन्तु प्राचीनकाल में भारत में यह क्रिया सम्पन्न होती थी, अन्तर केवल यह था कि आज की तरह विभिन्न परीक्षणों का निर्माण नहीं किया गया था; किन्तु विद्यार्थी के गुरु गृह निवास एवं भीड़ की कमी से अध्यापक बालक की क्रियाओं से इसका परिज्ञान प्राप्त कर उसके

अनुसार शिक्षा देता था । महाभारत को आज ऐतिहासिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार करते हैं; किन्तु गुरु द्रोणाचार्य द्वारा पाण्डवों एवं कौरवों को दी जाने वाली शिक्षा में आयुधों को पात्र के अनुसार, उनके चयन को हम भूल जाते हैं । रुचि एवं क्षमता का इससे सूक्ष्म उदाहरण आज के युग में मिलना कठिन है । द्रोणाचार्य का चयन कितना उचित था, इसे हम उन पात्रों के सम्पूर्ण जीवन की क्रियाओं से पुष्ट पाते हैं । इसलिए यह कहना कि उस काल में इस प्रकार का ज्ञान नहीं था, उचित प्रतीत नहीं होता ।

इसके विपरीत वर्तमान वैज्ञानिक एवं मनोविज्ञान के ज्ञाता युग में शिक्षा के पाठ्यक्रमों में प्रवेश का एक भी ऐसा उदाहरण भारतवर्ष में दृष्टिगोचर नहीं होता। आज शिक्षा में चाहे शिक्षक की नियुक्ति हो प्रशिक्षण हो, या छात्र का प्रवेश, इन सभी में आर्थिक दृष्टिकोण (Payment Seat, N.R.I. Seat) या फिर जातीय दृष्टिकोण (आरक्षण) प्रमुख हो गया है और रुचि तथा क्षमता गौण । राजनैतिक हस्तक्षेप ने इसमें और अधिक विषमता उत्पन्न कर दी है । वास्तव में शिक्षा के स्तर के पतन एवं छात्रों के सर्वाङ्गीण विकास की यही मुख्य बाधा है, जिसे लोकतंत्रीय व्यवस्था में जनसंख्या के आधार पर अथवा पैसे के आधार पर सबको समान शिक्षा के अविचारित घोषणा के नाम पर किया जा रहा है ।

संस्कृत के प्रचार-प्रसार के लिए यह आवश्यक है कि संस्कृत के लोग इस प्रकार से संस्कृत शास्त्रों में वर्णित विधियों, व्यवस्थाओं तथा वैज्ञानिक ज्ञान को जन-सामान्य की भाषा में जन-सामान्य के सम्मुख प्रस्तुत करें । इसके पश्चात् संस्कृत के प्रचार-प्रसार की आवश्यकता नहीं रहेगी । अपितु वर्तमान प्रवेश व्यवस्था में इस दिशा में रुचि रखने वालों को परीक्षणों के माध्यम से छाँटने की आवश्यकता होगी और इसका प्रमाण आज आयुर्वेद शास्त्र है । इसके साथ ही साथ संस्कृत के साथ जुड़ा यह मिथक भी स्वयं समाप्त हो जायेगा, यह केवल कर्मकाण्ड की भाषा है; किन्तु इस दिशा में वास्तविक पहल संस्कृत के निष्णात विद्वानों को ही करनी होगी ।



प्राचीन भारत में दण्डनीति की अवधारणा

(न्याय : अपराध और दण्ड)

डॉ. सोमनाथ त्रिपाठी*

एक सुविकसित एवं सुव्यवस्थित राज्य के अन्दर यह आवश्यक था कि उसके अन्दर न्याय-व्यवस्था हो। न्याय का मूल विवेक उचित-अनुचित का ज्ञान है। उचित-अनुचित का निर्णय करके अनुचित के त्याग एवं उचित के पालन हेतु आदेश देना न्याय है। यह आदेश राज्य का आदेश होता है, जो राज्य के प्रधान (राजा) द्वारा दिया जाता है। इसीलिए न्यायपूर्वक शासन करना राजा का मुख्य धर्म बतलाया गया है[१] ।

न्याय का यह रूप सृष्टि के प्रारंभ में नहीं था । उस समय मनुष्य की इच्छा के अनुसार जो होता था, वही उचित और न्यायसंगत माना जाता था; किन्तु धीरे-धीरे सभ्यता के विकास के साथ उसकी भावना बदली और वह समझने लगा कि अपने साथ-साथ दूसरे प्राणियों का हित करना भी उसका कर्तव्य है । इस तरह उसके कर्तव्य और अधिकार बढ़ते गये; किन्तु उनके साथ ही उन कर्त्तव्यों के उल्लंघन की प्रवृत्ति भी बनी रही। फलस्वरूप जिस तरह बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को मार डालती हैं, उसी तरह बलवान् मनुष्य दुर्बल मनुष्य को मारने लगे[२]। ऐसी स्थिति में दुर्बल मनुष्य अपनी रक्षा के लिए आपस में संगठित हो एक सुयोग्य व्यक्ति को राजा के रूप में नियुक्त करते हुए उसके आदेशों का पालन करने लगे। राजा का यह आदेश धर्मयुक्त होता था, जो न्याय कहलाता था। इसी

---

१. **अथ राष्ट्रमुपायेन भुज्यमानं सुरक्षितम्** ॥ महा० शा० प०, ७१।१८

२. पूर्वोद्धृत, १५।३०

---

* अध्यक्ष-सामाजिक विज्ञान विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी - २२१००२

धर्मयुक्त न्याय के द्वारा लोग मत्स्यन्याय का अनुसरण न करते हुए समाज को विकसित करते थे।

इस तरह न्याय का आधार धर्म था, जो तत्कालीन राज्य के कानून के रूप में स्वीकार किया गया था। धर्म के द्वारा मानव के लिए कुछ अधिकार एवं कर्त्तव्यों का निरूपण किया गया था, जिनका पालन करना या न करना विवाद का प्रमुख विषय था। विवाद के प्रसंग में एक से अधिक व्यक्ति होते थे, जिसमें जो विवाद करता था, उसे वादी और जिसके साथ विवाद किया जाता था, उसे प्रतिवादी कहा जाता था। वादी-प्रतिवादी में किसकी बात सही है, इसका निर्णय वही व्यक्ति कर सकता था, जो धर्म का ज्ञाता होता था। प्राचीन काल में इस कार्य के सम्पादन के लिए न्यायपालिका की स्थापना हुई थी। न्यायपालिका में सभा, समिति एवं मंत्रिपरिषद् के सदस्य रहते थे। जो भिन्न-भिन्न वर्णों के होते थे। ऐसी व्यवस्था सभी वर्णों के व्यक्ति को उचित न्याय प्राप्त कराने की दृष्टि से की गई थी। समिति का प्रधान राजा होता था, जो ब्राह्मण एवं मंत्रियों की राजसभा में उपस्थित होकर प्रजा के व्यवहारों का विचार करता था[१]। यदि किसी कारणवश वह ऐसा नहीं कर सकता था, तो अपने प्रतिनिधि के रूप में वह किसी विद्वान् ब्राह्मण को नियुक्त करता था, जो तीन सभासदों के साथ राजसभा में उपस्थित होकर उनके कार्यों की देखभाल करता था[२] और राजा को उचित सलाह देता था।

राजा उस सलाह के अनुसार अथवा स्वयं न्यायासन पर बैठकर सत्य, अर्थ, आत्मा, साक्षी, देश, रूप तथा काल आदि का विचार करता हुआ[३], विद्वान् ब्राह्मण के साथ क्रोध एवं लोभ से रहित हो, धर्म के अनुसार विभिन्न प्रकार के

---

१. **व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।**
मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ।। (मनु-स्मृ०, ८।१)

२. **यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् ।**
तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ।।
सोऽस्य कार्याणि सम्पश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः ।
समामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा ।। (पूर्वोद्धृत, ८।९-१०)

३. **सत्यमर्थं च सम्पश्येदात्ममानाय साक्षिणः ।**
देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ।। (पूर्वोद्धृत, ८।४५)

व्यवहारों का मूल्यांकन करता था[१]। वह अभियोग को प्रमाणित करने के लिए उभयपक्ष के द्वारा दो तरह की बात कहने पर यथार्थता की खोज के लिए साक्षी का सहारा लेता था और साक्षी के अभाव में स्वयं अभियोग की छानबीन करता था[२]। वह वादी और प्रतिवादी के सम्मुख साक्षियों से पूछता था[३]। साक्षी सत्य कहे, इसके लिए उससे शपथ लिवाया जाता था, जो विभिन्न वर्ण के अनुसार भिन्न-भिन्न होता था। ब्राह्मण वर्ण से बतलाओ, क्षत्रिय से सच कहो, वैश्य से गौ, बीज तथा सोना चुराने के पाप की कसम और शूद्र से सभी प्रकार के पाप होने का शपथ लिवाया जाता था,[४] शपथ लेने के बाद साक्षी जो कुछ कहता था, उस पर विश्वास करके धर्म के अनुसार राजा न्याय करता था।

न्याय निष्पक्ष होता था। महाभारतकार का कथन है कि पक्षपातयुक्त न्याय, अन्याय कहलाता था और ऐसा करना अपराध माना जाता था। इस अपराध के लिए राजा को प्रजा द्वारा किये पापों के एक चौथाई भाग का योग दण्ड के रूप में करना पड़ता था[५]। इतना ही नहीं, कभी-कभी उसे मृत्यु-दण्ड एवं पदत्याग करने का दण्ड भी दिया जाता था। अतः राजा को दण्डित न होना पड़े, इसके लिए यह आवश्यक था कि वह निष्पक्ष होकर न्याय करे। ऐसा करने से न्याय सही होता था, जिससे उसे इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुख की प्राप्ति होती थी[६]। इसलिए राजा पुत्र और पौत्र की भाँति प्रजा पर स्नेह तो करता था पर न्याय

---

१. **व्यवहारान् नृपः पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह ।**
धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः ।। (याज्ञ० स्मृ०, पृ० ७७)

२. **ततः साक्षिबलं साधु द्वैधवादकृतं भवेत् ।**
असाक्षिकमनार्यं वा परीक्ष्यं तद् विशेषतः ।।(महा० शा० प०, ८५।१९)

३. **समान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ ।**
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिना तेन सान्त्वयन् ।। (मनु-स्मृ०, ८।७९)

४. **ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम् ।**
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः।। (पूर्वोद्धृत, ८।८८)

५. **यद् राष्ट्रे कुशलं किञ्चिद् राज्ञो रक्षयतः प्रजाः ।**
चतुर्थं तस्य पापस्य राजा भारत विन्दति ।। (महा० शा०, प०, ७५।८)

६. पूर्वोद्धृत-८५।२३

करते समय वह स्नेह-वश पक्षपात नहीं करता था[१] । वह न्याय-अन्याय का विचार करते हुए अन्याय के कारण अधर्म मार्ग पर चलने वाले व्यक्तियों को धर्म का अनुसरण कराने के लिए दण्ड-नीति का प्रयोग करता था[२] ।

प्रजा धर्म का अनुसरण करे- यह तत्कालीन राजा का मुख्य उद्देश्य था । कहा जाता है कि उसके इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए लोकपिता ईश्वर ने ब्रह्मोजमय धर्मपुत्र दण्ड का सर्जन किया[३] और नीतिस्वरुप सरस्वती ने उनके द्वारा धर्म की रक्षा होती देखकर दण्डनीति की रचना की[४] । इस नीति का मूल उद्देश्य दुराचार का अन्त और सदाचार की स्थापना करना है[५] । सदाचार धर्म के अनुकूल किया जाने वाला व्यवहार है और दुराचार धर्म के प्रतिकूल किया जाने वाला व्यवहार है । दुराचार के व्यवहार में प्रवृत्त रहना ही अपराध माना गया है । अपराध बहुत प्रकार के होते हैं, जिनमें ऋण लेना, किसी के पास धरोहर रखना, मालिक से कोई चीज बिना पूछे बेच डालना, साझे का व्यवहार, दी हुई वस्तुओं को वापस ले लेना, वेतन न देना, की हुई व्यवस्था से मुकर जाना, खरीद और बिक्री में किसी बात का अन्तर पड़ जाना, स्वामी तथा पशुपालकों में विवाद, सीमा की तकरार, गाली-गलौज या मारपीट करना, चोरी साहस यानी जबर्दस्ती किसी की चीज छीन लेना, किसी पराये पुरुष के साथ स्त्री का संपर्क करना, पति और पत्नी के परस्पर धर्म की व्यवस्था के विरुद्ध आचरण, पैतृक आदि धन का दुरुपयोग, जुआ, पशु-पक्षियों को लड़ाना आदि प्रमुख अपराध है[६]।

---

१. **यथा पुत्रास्तथा पौत्रा द्रष्टव्यास्ते न संशयः ।**
भक्तिश्चैषां न कर्तव्या व्यवहारे प्रदर्शिते ।। (पूर्वोद्धृत, ८९।२७)

२. याज्ञ० स्मृ०, पृ० ७५, श्लोक-६१

३. **तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।**
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ।। (मनु० स्मृ०, ७।१४
और महा० शा० प० १२१।४९)

४. **तस्माच्च धर्मचरणन्नीतिर्देवी सरस्वती ।**
ससृजे दण्डनीतिं सा त्रिषु लोकेषु विश्रुता ।। (पूर्वोद्धृत, १२२।२५)

५. **निवृत्ति सदाचाराध्मनं दण्डश्च यत् ।**
येन सन्दीभ्यते जन्तुरुपायो दण्ड एव सः।। (शुक्रनीतिसार, ४।४०)

६. मनु० ८।५-७

इन सभी अपराधों के लिए प्राचीन काल में अपराधियों को एक तरह का दण्ड न देकर अपराध की गुरुता के अनुसार धिग्दण्ड, वाग्दण्ड, धनदण्ड और वधदण्ड ये चार प्रकार के दण्ड दिये जाते थे[१] । इतना ही नहीं, महाभारत काल में दण्ड देते समय अपराधियों के अपराध के साथ-साथ उनके वर्णों पर भी ध्यान दिया जाता था। उस काल में ब्राह्मण अपराधी को वाणी द्वारा अपमानित करना, क्षत्रिय को सिर्फ भोजन मात्र के लिए वेतन देते हुए उससे काम लेना, वैश्यों से जुर्माना वसूल करना और शूद्रों को दण्डरहित कहा गया[२] है । वर्ण के अनुसार दण्ड दिये जाने का उद्देश्य प्रत्येक वर्ण के लोगों को बलपूर्वक अपने-अपने वर्णोचित धर्मों में लगाना था[३] ।

स्मृतिकाल में तो इसके लिए कठोर दण्ड दिया जाता था । इस काल में स्वधर्म से विचलित मनुष्यों को पहले वाग्दण्ड, फिर धिग्दण्ड, धनदण्ड एवं शारीरिक दण्ड दिया जाता था[४] । इन पृथक्-पृथक् दिये जाने वाले दण्डों से सुधार न होने पर उन्हें एक ही बार चारों प्रकार के दण्ड दिये जाते थे[५] । शारीरिक दण्ड बड़ा भयानक और कष्टदायी होता था। इसके अन्तर्गत अपराध के अनुसार अंगों को कटवा लिया जाता था[६] । इतने पर भी यदि अपराधी अपराध करना नहीं छोड़ता था, तो प्राणदण्ड दिया जाता था। प्राणदण्ड देने की विधि रोमांचकारी होती थी। अपराधियों का प्राण, उनके मुख में तप्त लोहे का सलाका देकर[७], कुत्तों से नुचवाकर अथवा तप्त लोहे पर उन्हें सुलाकर और उनके ऊपर लकड़ी देकर, आग द्वारा उन्हें जलाते हुए लिया जाता था[८] ।

---

१. **धिग्दण्डस्त्वथ वाग्दण्डो धनदण्डो वधस्तथा ।**
योज्या व्यस्ताः समस्ता वा अपराधवशादिमे ।।
(याज्ञ० स्मृ०, पृ० ७५, श्लो० ३६७)

२. **वाचा दण्डो ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां भुजार्पणम् ।**
दानदण्डाः स्मृता वैश्या निर्दण्डः शूद्र उच्यते ।।(महा० शा० प०, पृ० १५।९)

३. तत्रैव-६९।७६

४. **वाग्दण्ड प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम् ।**
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ।। (मनु स्मृ०, ८।१२९)

५. **वधेनापि यदा त्वेवन्निग्रहीतुं न शक्नुयात् ।**
तदेषु सर्वमप्येतत्प्रयुञ्जीत चतुष्टयम् ।। (पूर्वोद्धृत, ८।१३०)

६. पूर्वोद्धृत, ८।२७९, ३३४

७. पूर्वोद्धृत, ८।२७

८. पूर्वोद्धृत, ८।७१-७२

ऊपर वर्णित सभी प्रकार के दण्ड, बदले के सिद्धान्त, निवर्तनवादी सिद्धान्त, और सुधरवादी सिद्धान्त पर आधारित रहते थे । बदले के सिद्धान्त के अनुसार अपराधियों को दण्ड बदले के दृष्टिकोण से दिया जाता था । अपराधी जिस अंग से जो अपराध करता था, उस अपराध के लिए उसका वह अंग कटवा लिया जाता था अथवा उसे नाकाम कर दिया जाता था । यदि वह पैर से अपराध करता था, तो उसका पैर और यदि हाथ से अपराध करता था, तो उसका हाथ कटवा लिया जाता था[१] । इस तरह आँत निकालने, नाक, कान, जीभ कटवाने या छिदवाने[२] अथवा चूतड़ का मांस कटवाने[३] आदि का दण्ड दिया जाता था ।

निवर्तनवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत मनुष्यों में अपराध के प्रति भय उत्पन्न करने के लिए अपराधी को दण्ड दिया जाता था। यह दण्ड मृत्यु-दण्ड भी हो सकता था। भयदायी अपराधी को कठोर दण्ड दिये जाने के कारण दूसरे मनुष्य अपराध करने से भयभीत होते थे[४] और अपराध करने से भयभीत होने के कारण वे अपराध नहीं करते थे। इस तरह अपराधी को दण्ड उसके अपराध के लिए न देकर पुनः अपराध न हो, इसलिए दिया जाता था ।

इसके अतिरिक्त सुधारवादी दृष्टिकोण से भी अपराधी को दण्ड दिया जाता था। यह दण्ड देते समय इसका ध्यान रखा जाता था कि अपराधी को सामान्य व्यक्ति समझकर, उसके जीवन को नष्ट न करते हुए, उसे सुधरने का अवसर दिया जाय । ऐसी स्थिति में सजा का दण्ड ही उसके लिए पर्याप्त होता था। एक निश्चित अवधि तक उसे कैद की सजा दी जाती थी[५], जिससे वह अपने अपराधों को समझता हुआ पुनः अपराध करने का प्रयास नहीं करता था।

अपराधी को उसके अपराध के लिए किसी भी प्रकार का दण्ड क्यों न दिया जाय, उसे उसका पालन करना पड़ता था । इसका प्रधान कारण यह था कि

---

१. मनु-स्मृ०, ८।२८०

२. पूर्वोद्धृत, ८/२७०,३५२

३. पूर्वोद्धृत, ८/२८२

४. महा०शा०प०, १५।७

५. मनु-स्मृ०, ८/३१०

दण्ड के द्वारा ही समाज संचालित हो सकता था । इस सम्बन्ध में महाभारतकार का विश्वास है कि मनुष्य स्वभावतः सत्कर्म ही करने वाला नहीं होता है । सुमति के अतिरिक्त उसके स्वभाव में कुमति का भी पक्ष है, जो उसे हेय कार्य करने में प्रवृत्त करता है । उसी प्रवृत्ति का दमन करने के लिए दण्ड की अनिवार्य आवश्यकता होती है । इसलिए महाभारतकाल में दण्ड को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है । वे इतना तक कहते हैं कि 'दण्ड ही विष्णु है, दण्ड ही नारायण है और दण्ड ही संसार को धारण करने वाला है'[१]। इस प्रकार दण्ड ही वह अद्वितीय पदार्थ है[२], जो प्रजा की रक्षा करता है, सबके सोये रहने पर जगाता है[३] और धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति कराते[४] हुए मनुष्य को परमसुख की प्राप्ति कराता है[५] ।



---

१. **दण्डो हि भगवान् विष्णुर्दण्डो नारायणः प्रभुः ।।** (महा० शा०प०, १२१।२३)

२. **यस्मिन् हि सर्वमायत्तं स दण्ड इव केवलः ।** (पूर्वोद्धृत, १२१।८)

३. **दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।**
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ।। (पूर्वोद्धृत, १५।२)

४. पूर्वोद्धृत-१५।३

५. **दण्डे स्वर्गो मनुष्याणां लोकोऽयं सुप्रतिष्ठितः ।** (पूर्वोद्धृत, १५।४३ और याज्ञ० स्मृ०, श्लो० ३५७,७५)

भारत में पंचायती-राज : एक दृष्टि

डॉ० दीनबन्धु तिवारी*

प्राचीनकाल में जब से गाँव अस्तित्व में आया, तब से गाँवों में पंचायत का अस्तित्व भी किसी न किसी रूप में देखने को मिलता है । वैदिककाल से लेकर आज तक पंचायत व्यवस्था किसी न किसी रूप में भारत के गाँवों में देखने को मिलती है। महाभारत-काल में पंचायतों की शक्ति इतनी अधिक थी कि राजा को भी इनके कार्यों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था । इस काल में पंचायत को गण या सभा के नाम से सम्बोधित किया जाता था । मनुस्मृति तथा चाणक्य के अर्थशास्त्र में ग्राम के मुखिया को 'ग्रामीक' कहा गया है । मौर्यकाल में चाणक्य ने प्रत्येक ग्राम में ग्रामसभा का निर्माण कराया था । इस ग्रामसभा को अपने सदस्यों को दण्ड देने के साथ-साथ आर्थिक व्यवस्था के संचालन का भी अधिकार प्राप्त था । दशवीं शताब्दी के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ शुक्रनीतिसार से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में ग्राम–पंचायतों के सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते थे । पंचायतों का सम्मान सर्वोपरि था । भूमि के वितरण, करों की वसूली, सार्वजनिक निर्माण व्यवस्था के क्षेत्र में पंचायतों का अधिक महत्त्व था । यह पंचायत ही आकस्मिक विपत्तियों के समय ग्रामीणों को सुरक्षा प्रदान करती थी । पंचायत का प्रधान अथवा मुखिया एक न्यायप्रिय शासक के रूप में जाना जाता था। इस प्रकार भारतीय ग्रामीण समाज में बहुत प्राचीनकाल से ही पंचायत, स्वायत्तशासन की इकाई थी तथा इसका संगठन पूर्णतया प्रजातांत्रिक आधार पर होता था ।

भारत में दशवीं शताब्दी के पश्चात् मुसलमानों के प्रभाव में वृद्धि होने से पंचायतों के परम्परागत स्वरूप में भी परिवर्तन होने शुरू हो गये थे; किन्तु नवीन शासन व्यवस्था का अधिक दूषित प्रभाव नहीं पड़ सका ।

---

* प्रवक्ता - समाजशास्त्र, ला०ब० शास्त्री स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मुगलसराय, चन्दौली

अठारहवीं शताब्दी में भारत में ब्रिटिश शासन-काल आरम्भ होने से पंचायतों की शक्ति पर सबसे अधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ा । इस समय में अनेक ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं जिनके फलस्वरूप पंचायतों की उपयोगिता समाप्त होने लगी। इन परिस्थितियों में जमींदारी-प्रथा, नगरों में न्यायालयों की स्थापना, पुलिस विभाग का ग्रामीण जीवन में हस्तक्षेप, पश्चिमीकरण, औद्योगिककरण तथा नवीन भूमि-व्यवस्था इत्यादि घटनाएँ शामिल थीं ।

दो

ब्रिटिश शासनकाल में व्यावहारिक रूप से पंचायतों का विघटन हो जाने के पश्चात् सरकार के समक्ष सबसे बड़ी समस्या यह थी कि ग्रामीण व्यवस्था को किस प्रकार बनाये रखा जाय? इस समस्या को हल करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने गाँव पंचायतों के स्थान पर ग्रामीण स्वायत्त शासन की विचारधारा को कार्य रूप देने का निर्णय किया तथा इसकी अभिव्यक्ति के रूप में जिला परिषदें ग्रामीण जीवन के लिए कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकीं । इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए डॉ॰ मथाई ने लिखा है कि ब्रिटिशकाल में अनेक अधिकारी अपने भाषायी स्वायत्त शासन की बातें करते थे; परन्तु उनकी कथनी और करनी में बहुत अन्तर था । साइमन कमीशन तथा १९०९ में विकेन्द्रीकरण के लिए नियुक्त शाही आयोग ने जिला परिषदों की असफलता पर प्रकाश डालते हुए ग्रामीण स्वायत्त शासन की स्थापना के लिए गाँव में पंचायतों के पुनर्गठन पर बल दिया । इन कमीशनों के प्रभाव को मानते हुए सरकार ने १९१९ में यह प्रस्ताव पारित किया कि गाँव में पंचायतों के पुनर्गठन के लिए आवश्यक कदम उठाये जाँय । इसी प्रस्तावना के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारों को निर्देश दिये गये कि वे अपने-अपने प्रान्तों में पुनर्गठन के लिए आवश्यक कार्यवाही करें । इसके पश्चात् देश के विभिन्न प्रान्तों में पंचायतों के पुनर्गठन के लिए ग्राम पंचायत अधिनियम पारित किये जाने लगे। सर्वप्रथम १९१९ में बंगाल ग्राम–पंचायत अधिनियम पारित हुआ तथा इसके पश्चात् अनेक दूसरे प्रान्तों की सरकारों ने गाँव-पंचायतों के लिए अधिनियम पारित किये । इन प्रयासों के पश्चात् भी गाँव–पंचायतें ग्रामीण जीवन के लिए कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं कर सकीं । इसका कारण यह था कि पंचायतें सरकार के नियन्त्रण में थीं तथा इन्हें स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त नहीं थे । इसके फलस्वरूप नवनिर्मित गाँव–पंचायतें न तो जन-सहयोग प्राप्त कर सकीं और न ही अपने दायित्वों के निर्वाह में सफल हो सकीं ।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के पश्चात् भारतीय नेताओं का ध्यान गाँव-पंचायतों की ओर गया और इसी समय से पंचायतों के पुनर्गठन को राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अभिन्न अंग मान लिया गया । राजगोपालाचारी ने यह स्पष्ट किया कि ग्राम पंचायतें ही शक्ति का सर्वोत्तम माध्यम बन सकती हैं । महात्मा गाँधी ने ब्रिटिश सत्ता को समाप्त करने के लिए पंचायतों को अनिवार्य लक्ष्य के रूप में स्वीकार करना आरम्भ कर दिया । १९२०में कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन में गाँधी जी ने ग्राम-पंचातयों की आवश्यकता पर बल देते हुए सभी वकीलों से विदेशी न्यायालयों का बहिष्कार करने का अनुरोध किया । आपका विचार था कि गाँव के पारस्परिक विवादों का समाधान गाँव–पंचायतों के माध्यम से ही होना चाहिए । उसी वर्ष डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद ने गाँव में पंचायत के महत्त्व पर प्रकाश डालने के लिए **यंग इण्डिया** में लेख प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने न्यायालयों के स्थान पर गाँव-पंचायतों को महत्त्व देने का सुझाव दिया । १९२२ में देशबन्धु चितरंजनदास ने भी अपने भाषणों में ग्राम-पंचायतों की आवश्यकता पर बल देते हुए ऐसे अनेक सुझाव दिये, जिनके आधार पर गाँव–पंचायतों को ग्रामीण जीवन की सशक्त इकाई बनाया जा सकता था । सन् १९३७ की गोलमेज कान्फ्रेंस में महात्मा गाँधी ने गाँव–पंचायतों के माध्यम से ग्रामीण स्वराज्य की माँग करना आरम्भ कर दिया था । इस प्रकार स्वतन्त्रता से पूर्व ही कांग्रेसी नेताओं द्वारा ग्राम–पंचायतों के पुनर्गठन के लिए अथक प्रयास किये गये; लेकिन इसके पश्चात् भी भारत में स्वतन्त्रता के पूर्व तक पंचायतों के पुनर्गठन के क्षेत्र में कोई व्यावहारिक सफलता नहीं प्राप्त की जा सकी ।

तीन

जब देश आजाद हुआ तो महात्मा गाँधी की विचारधारा लोगों के हृदय पर अंकित थी । ग्राम–पंचायतों की कल्पना स्थानीय शासन की आदर्श व्यवस्था के रूप में निरूपित की गयी । सन् १९५२ में सामुदायिक विकास कार्यक्रम लागू किया गया और उसकी सफलता के लिए यह जरूरी समझा गया कि कोई ऐसी व्यवस्था की जानी जरूरी है । वैसे १९५१ में ही पन्द्रह राज्यों में एक फाउण्डेशन के सहयोग से परीक्षण के तौर पर परीयोजनायें शुरू की गयी थीं और इनके लिए गाँव, मंडी और विकास-खण्ड के स्तर पर स्थानीय संगठनों का प्रान्त बनाया गया।

इस व्यवस्था को प्रशासनिक व्यवस्था से जोड़ने के लिए १९५५ में विकास-खण्ड सलाहकार समितियाँ बनाई गयीं, जिसमें खण्ड स्तर के प्रशासनिक कर्मचारियों के अतिरिक्त विधायकों, स्थानीय संगठनों, सरकारी समितियों और स्वैच्छिक संगठनों के प्रतिनिधियों को भी शामिल किया गया और यहीं से पंचायतीराज की शुरुआत हुई ।

१९५६ में बलवंत राय मेहता की अध्यक्षता में एक अध्ययन दल बनाया गया कि वह विभिन्न विकास योजनाओं, सामुदायिक विकास परियोजना और राष्ट्रीय विस्तार सेवा कार्यक्रम को लागू करने में धन के अधिकाधिक सदुपयोग और कार्य-कुशलता बढ़ाने के बारे में सुझाव दे । बलवंत राय मेहता अध्ययन दल ने इन्हीं नीतियों के अनुसार तीन स्तर पर पंचायतीराज का ढाँचा बनाने का सुझाव दिया । उनका कहना था कि केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण दोनों ही जरूरी है ।

पंडित नेहरू ने योजनाबद्ध विकास की शुरुआत करते हुए इस बात पर भी जोर दिया कि गरीबों का अधिक से अधिक कल्याण हो । वे पंचायती-राज के माध्यम से गरीब-अमीर की खाईं पाटना चाहते थे और उनका कहना था कि पंचायतीराज ही जनता का वास्तविक स्वराज्य है ।

प्रारम्भिक चरणों में पंचायतीराज व्यवस्था का बहुत उत्साह से स्वागत किया गया । राजस्थान और आन्ध्र प्रदेश से इसकी शुरुआत हुई और फिर कई अन्य राज्यों में भी यह व्यवस्था लागू कर दी गई । पंचायतीराज़ व्यवस्था की समीक्षा करने के लिए हम इसे तीन चरणों में बाँट सकते हैं– प्रारम्भिक चरण १९५९ से १९६६ तक, दूसरा चरण १९६७ से १९७६ तक, तथा तीसरा चरण १९७७ से अब तक। प्रारम्भिक चरण में पंचायतीराज के प्रति बहुत उत्साह जरूर था; लेकिन राजस्थान, आन्ध्रप्रदेश महाराष्ट्र और गुजरात जैसे राज्यों को छोड़कर अन्य कई राज्यों में कई कठिनाइयाँ आईं। केरल में बस्तियाँ एक-दूसरे से जुड़ी हैं और वहाँ पंचायत समितियाँ बनाना मुश्किल था । वहाँ जिला परिषद् जरूर बनाई जा सकती थी, पर राजनीतिक स्थिति को देखते हुए ऐसा नहीं हुआ । तमिलनाडु में फूँक-फूँक कर कदम रखने की कोशिश की गई । कर्नाटक में भी स्थिति कुछ ऐसी ही थी । देश की उत्तरपूर्वी क्षेत्रीय व्यवस्था देश के अन्य भागों से अलग ही

रही है और वहाँ की प्रशासनिक व्यवस्था भी भिन्न थी । इस क्षेत्र में जनजातीय परिषदें थीं । अन्य कई राज्यों में पंचायतीराज की स्थापना के कानून तो पास हो गये, पर लागू करने में अनावश्यक विलम्ब हुआ ।

पंचायतीराज का दूसरा चरण १९६७-७६ निराशाजनक रहा । इसके कई कारण थे । इसका सबसे प्रमुख कारण तो यह था कि कृषि की विकास नीति में परिवर्तन किया गया । सघन क्षेत्र में विकास पर जोर दिया गया और इससे सामुदायिक विकास कार्यक्रम का महत्त्व कम हो गया; फलत: स्वत: ही पंचायतीराज का महत्त्व घट गया । दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि पंचायतीराज व्यवस्था में ऊँची जाति के लोगों का प्रभुत्व बन गया और बहुसंख्यक पिछड़ी जातियों के लोग इस व्यवस्था से असन्तुष्ट थे । यह समझा जाने लगा कि पंचायतीराज संगठन ऊँची जाति के लोगों और सम्पन्न वर्ग के हितों के लिए ही है ।

हरित क्रान्ति का असर भी पंचायतीराज व्यवस्था के अनुकूल नहीं रहा । छोटे और मझोले किसानों की दशा में कोई खास सुधार नहीं हुआ । खेती की पैदावार बढ़ाने के तात्कालिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए पंचायतीराज व्यवस्था बहुत से लोगों को बाधक नजर आई और केन्द्र सरकार ने भी इस व्यवस्था की अवहेलना की । धीरे-धीरे लोग इससे कतराते नजर आये । राजनीतिक नेताओं को सत्ता में आने के लिए वोट चाहिए और अधिकांश वोट उन्हें देश के ऐसे ही गरीब वर्ग से मिलते हैं, जो सत्ता से अलग-थलग पड़े रहे । इसी के फलस्वरूप १९७१ के आस-पास 'गरीबी हटाओं' का नारा गूँजा, तब राजनेताओं ने समझा कि गरीबी उन्मूलन के लिए वे लोग अधिक सहायक सिद्ध नहीं हो सकते, जिनका प्रभुत्व पंचायतीराज संगठनों पर था।

१९७७-७८ के दौरान पंचायतीराज व्यवस्था को फिर से सुदृढ़ बनाने के लिए नई शुरुआत की गई; किन्तु कोई खास उपलब्धि नहीं रही । पुन: १९८५-८६में स्वर्गीय प्रधानमंत्री श्री राजीव गाँधी ने इस दिशा में विशेष प्रयत्न किये ।

भारत सरकार के ७३ वें संविधान संशोधन के द्वारा पंचायतीराज की संरचना एवं कार्यप्रणाली में महत्त्वपूर्ण एवं गुणात्मक परिवर्तन का प्रयास किया गया तथा इस दिशा में विविध प्रावधान बनाये गये । प्रमुखत: पंचायत नेतृत्व में

महिलाओं के लिए एक तिहाई आरक्षण के द्वारा लोकतन्त्र के निचले स्तर पर महिला नेतृत्व एवं महिला सहभागिता को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया गया। इसके अतिरिक्त विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से ग्राम-पंचायतों को सामाजिक विकास कार्यक्रम में नीतियों के निर्धारण, क्रियान्वयन, आर्थिक एवं अन्य प्रशासनिक अधिकार दिये गये तथा क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व को महत्त्वपूर्ण आधार बताया गया। तत्पश्चात् कुछ अन्य राज्यों के अलावा मध्यप्रदेश, बिहार सहित उत्तर प्रदेश जैसे बड़े राज्यों में भी पंचायतीराज संगठन को सुदृढ़ बनाने के लिए कई कदम उठाये गये । स्थिति उत्साहवर्द्धक जरूर है; परन्तु पंचायतीराज व्यवस्था के प्रति मानसिक अवरोध पहले जैसे ही बने हुए हैं।

आज एक नये परिवेश को छूती हुई एवं नयी प्रासंगिकता के साथ भारतीय गाँवों में अपनी उपस्थिति दर्ज करा चुकी पंचायतीराज व्यवस्था के क्रियान्वयन के साथ ही पंचायतीराज व्यवस्था के ढाँचे में एवं गाँव की संरचना में आमूल-चूल परिवर्तन हुए हैं । पंचायतों में आरक्षण की सुविधा ने जहाँ अनुसूचित जाति एवं पिछड़ी जाति के लोगों को ग्राम संरचना में महत्त्वपूर्ण स्थान पर स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, वहीं गाँवों की चहारदीवारियों में हजारों वर्षों से कैद एवं पुरुष प्रधानता के अधीन अभिशप्त जीवन जीने को मजबूर स्त्री को भी चहारदीवारी से बाहर निकालने की शुरुआती झलक भी दिखा दिया है । साथ ही अभी इस बात से भी मुँह नहीं मोड़ा जा सकता कि इस व्यवस्था के लागू होने के बाद भी गाँवों की पंचायतों में परम्परागत नेतृत्व अपना वर्चस्व बनाये हुए है । जैसे— अनुसूचित जाति के लिए आरक्षित सीट पर वहाँ के सवर्ण जाति के लोगों द्वारा अति अल्पसंख्यक अनुसूचित जाति के किसी व्यक्ति को चुनाव लड़ाया जाता है और सफलता मिल जाने पर उस अनुसूचित जाति के प्रतिनिधि के माध्यम से ग्रामीण राजनीति एवं कार्यक्रमों को परोक्ष रूप से वे संचालित करने का कार्य करते हैं । यही नहीं, दूसरी ओर महिलाओं के लिए आरक्षित सीटों पर भी ग्राम पंचायतों में पहले से ही प्रभावशाली लोगों की दृष्टि लगी रहती है और वे लोग अपने घरों की उन महिलाओं को मैदान में लाते हैं, जो पूर्ण व्यक्ति रूप से चहारदीवारी के अन्दर पर्दा प्रथा में रहती हैं, सिर्फ कागजों पर हस्ताक्षर अथवा अँगूठा लगा देती हैं । ऐसे लोग अपने घरों की महिला प्रतिनिधियों को विजय दिलाने में अपने प्रभाव

से सफलता भी हासिल कर लेते हैं और इन्हीं के माध्यम से अपने परम्परागत प्रभाव से अब तक काबिज हैं; किन्तु एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि पंचायतीराज व्यवस्था में महिलाओं के लिए एक तिहाई आरक्षण आज नहीं तो कल अपना प्रभाव अवश्य दिखायेगा । यह एक ऐसा आन्दोलन का रूप ले रहा है, जिससे गाँव का परम्परागत ढाँचा जड़वादी से गतिशील बन जायेगा ।



समाज कल्याण का अर्थशास्त्र

प्रोफेसर ईश्वरदत्त सिंह*

सामाजिक विज्ञानों के अन्तर्विषयी अध्ययन की दृष्टि से आज के सन्दर्भ में 'कल्याण का अर्थशास्त्र' बहुत ही महत्त्वपूर्ण हो गया है । प्रोफेसर अमर्त्य सेन को नोबुल पुरस्कार मिलने के बाद 'समाज का कल्याण' इससे पूर्णतया जुट गया है।

प्रोफेसर जे॰ के॰ मेहता एक प्रमुख अर्थशास्त्री के साथ-साथ दार्शनिक भी थे, जो कहा करते थे कि कल्याण का अर्थशास्त्र न कहकर **समाज कल्याण का अर्थशास्त्र** ही कहना चाहिए । उनके अनुसार 'समाज कल्याण का अर्थशास्त्र' अभी तक विवाद में इसलिए पड़ा रहा कि कल्याण को हम वस्तुपरक मानते रहे हैं । वास्तव में यह एक व्यक्तिगत अनुभूति है और व्यक्तिपरक चीज है । इसे व्यक्ति के मस्तिष्क द्वारा जाना जा सकता है । अभी तक समाज कल्याण को मापने की क्रिया हम मानव मस्तिष्क के बाहर करते रहे हैं । इसी से कल्याण की अवधारणा विवादग्रस्त रही है। प्रोफेसर मेहता कहा करते थे कि उपयोगिता की माप, क्षतिपूर्ति एवं वितरण के औचित्य के झमेले से ऊपर उठकर यदि समाज कल्याण को मानव मस्तिष्क में खोजा जाय तो समाधान मिल जाएगा । आज प्रो. अमर्त्य सेन को अर्थशास्त्र में नोबुल पुरस्कार प्राप्त होने से विश्व को शायद वह समाधान मिल गया है ।

क्लासिकी अर्थशास्त्रियों के समय अर्थशास्त्र राजनैतिक अर्थव्यवस्था (Political Economies) से सम्बन्धित रहा है और आर्थिक कल्याण का प्रश्न उपयोगितावादी अर्थशास्त्र (Utilitarian Economics) से सम्बन्धित था। बेन्थन ने

---

* अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

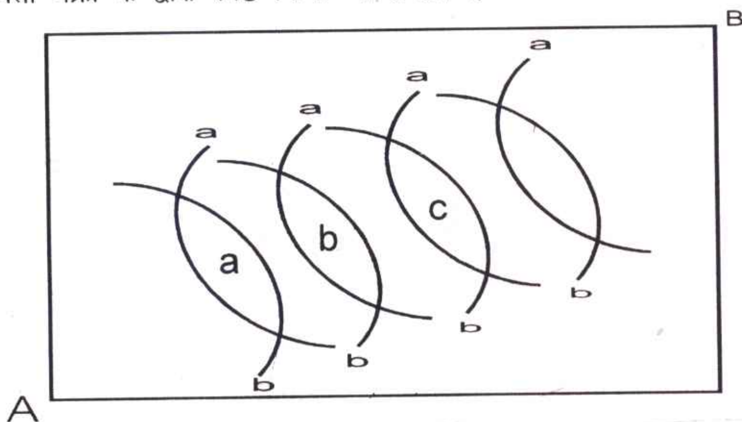
'अधिकतम सुख का सिद्धान्त' (Priciple of greatest happiness) प्रतिपादित करते हुए कहा था कि वस्तु की उपयोगिता वह शक्ति है, जिससे संतुष्टि मिलती है और किसी मनुष्य का सुख उसे मिलने वाली विभिन्न वस्तुओं की उपयोगिता के योग पर निर्भर करता है । अत: अधिकतम उपयोगिता को प्राप्त करना ही सर्वोत्तम सिद्धान्त है।

प्रोफेसर ए. सी. पीगू ने अपनी पुस्तक (Economics of welfare) में तत्कालीन विचारों को समेटा । वे नीतिगत उपयोगितावाद (Ethical utilitarinism) को स्वीकार न करके बेन्थन के सिद्धान्त के आधार पर कहते हैं कि 'समाज का कल्याण व्यक्तियों के कल्याण का कुल योग है और व्यक्ति का कल्याण उन संतुष्टियों (satisfactions) का योग है, जिनका वह अनुभव करता है'; लेकिन उनका कहना है कि 'आर्थिक कल्याण कुल कल्याण का वह हिस्सा है, जिसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुद्रा के मापदण्ड से नापा जा सकता है' । पीगू की परिकल्पना थी कि संतुष्टि या उपयोगिता को यद्यपि मापना कठिन है, तथापि एक व्यक्ति को मिलने वाली उपयोगिता को और विभिन्न व्यक्तियों को मिलने वाली तुलनात्मक उपयोगिता की मुद्रा के मापदण्ड से तुलना की जा सकती है । प्रोफेसर पीगू का यह भी मानना है कि किसी निश्चित समुदाय का आर्थिक कल्याण अधिक होगा । यदि इसकी राष्ट्रीय आय अधिक होगी और उस राष्ट्रीय आय का जितना अधिक हिस्सा गरीबों को प्राप्त होगा । वे मानते थे कि यदि समान मन:स्थिति वाले व्यक्ति हों, तो धन का अमीरों की ओर से गरीबों की ओर हस्तांतरण कुल संतुष्टि को बढ़ाएगा; क्योंकि इस प्रक्रिया में अधिक तीव्र आवश्यकताओं की संतुष्टि होगी; लेकिन उपयोगिता मापनीय है या नहीं, इस प्रश्न पर विवाद खड़ा हो गया और 'आर्थिक कल्याण' का विषय ही उलझन में पड़ गया ।

अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान मानने वाले अर्थशास्त्रियों ने 'कल्याण अर्थशास्त्र' का कड़ा विरोध किया । प्रोफेसर राबिन्स ने स्पष्टत: कहा कि कल्याण का अर्थशास्त्र आवश्यक रूप से एक नीतिशास्त्रीय अध्ययन (Ethical study) है; क्योंकि इसमें अन्तर्वैयक्तिक तुलना निहित है और अन्तर्वैयक्तिक तुलना नीतिगत निर्णय है, न कि आर्थिक विश्लेषण ।

कैम्ब्रिज के अर्थशास्त्रियों मुख्यत: **पैरिटो** और **एजवर्थ** ने पीगू के 'आर्थिक कल्याण' के विचार को गम्भीरता से नहीं लिया । इस आधार पर कि उपयोगिता मापनीय नहीं है, आर्थिक कल्याण के अध्ययन को उन लोगों ने अवैज्ञानिक घोषित कर दिया । फिर भी पैरिटो ने तटस्थता वक्र का सहारा लेकर अन्तर्वैयक्तिक तुलना करने की कोशिश की । उन्होंने बताया कि सामाजिक कल्याण तब बढ़ा हुआ माना जाएगा, जबकि कम से कम एक व्यक्ति की स्थिति पहले से अच्छी हो जाय और किसी अन्य व्यक्ति की स्थिति पहले से खराब न हो । उनका कहना था कि अनुकूलतम स्थिति तब कही जाएगी, जब किसी भी व्यक्ति की स्थिति को सुधारना, बिना किसी दूसरे की स्थिति को बिगाड़े, सम्भव न हो । इस स्थिति का बोध वे सबसे ऊपर के तटस्थता वक्र से कराते हैं ।

लेकिन पैरिटो भी आलोचकों की चपेट में बुरी तरह आ गये । इसे इन तटस्थता वक्रों के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है –



उपर्युक्त बाक्स डाइग्राम में A और B दो व्यक्तियों के तटस्थता वक्र दिखाये गये हैं । a, b, c ऐसे बिन्दु हैं, जहाँ दोनों व्यक्तियों के तटस्थता वक्र तिर्यक (tangential) हैं । ऐसी दशा में हम अनुकूलतम बिन्दु किसे घोषित करें ? इस आलोचना से अन्तर्वैयक्तिक तुलना को वैज्ञानिकता प्रदान करने का उनका स्वप्न भी अधूरा रह गया । परिणाम यह हुआ कि बहुत दिनों तक इस प्रश्न पर चर्चा ही बन्द हो गयी ।

जे॰ एम॰ कीन्स की पुस्तक 'जनरल थियरी आफ इम्प्लायमेंट इन्टरेस्ट ऐण्ड मनी, (१९३६) के आने के बाद जब पूर्ण रोजगार के बारे में नीतियाँ बनाई जाने लगीं, तब आर्थिक कल्याण पर फिर चर्चा होने लगी। प्रश्न उठा कि यदि कोई अर्थशास्त्री पूर्ण रोजगार और समृद्धि की नीतियों का प्रतिपादन करता है, तो क्या यह मूल्य आधारित और नीतिगत निर्णय नहीं है? यह चर्चा १९३८ में श्री हैराल्ड ने उठाई, उन्होंने स्पष्टत: कहा कि कल्याण के अर्थशास्त्र पर विचार के बिना एक अर्थशास्त्री पूर्णतया निरर्थक सिद्ध होगा और समाज में उसके कार्य का कोई स्थान नहीं होगा। प्रोफेसर लर्नर ने क्षतिपूर्ति की बात चलाई और प्रोफेसर हिक्स तथा काल्डर ने इस अवधारणा के सहारे पैरिटो के विचार को एक व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया । **काल्डर** ने कहा 'Tax the gainess till they are no move gainess, give bounty to loosess till they are no move loosers. If the sum total of tax is greater then the sum total of bounty, we can say that social welfare has increased.'

यद्यपि **एम॰ डी॰ लिटिल** तथा **सिटोवस्की** ने काल्डर के उपर्युक्त विचार की व्यावहारिकता आदि के बारे में आलोचना की, तथापि काल्डर का कहना था कि उनके सिद्धान्त को व्यवहार में लाने की आवश्कयकता नहीं है; लेकिन काल्डर के अनुसार इसे व्यावहारिक बनाने की संभावना हो सकती है । काल्डर का कहना था कि यह एक अर्थशास्त्री का नहीं, बल्कि राजनीतिज्ञों का कार्य है कि वास्तविक वितरण के प्रश्न पर विचार करें। अर्थशास्त्री का काम केवल उत्पादन पर ध्यान देने का है और कार्यक्षमता बढ़ाने के उपायों पर सुझाव देने का है ।

उपुर्यक्त सभी मतों और तर्कों पर विचार करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अर्थशास्त्री को उत्पादन के साथ-साथ आय के वितरण पर भी ध्यान देना चाहिए । आज अर्थशास्त्री इस पर ध्यान दे भी रहे हैं । यदि काल्डर और हिक्स वास्तविक क्षतिपूर्ति और वितरण को अर्थशास्त्री का कार्य नहीं मानते, तो वे अर्थशास्त्र को अनावश्यक रूप से वास्तविक विज्ञान बना रहे हैं, यह ठीक नहीं है; क्योंकि 'मानव व्यवहार' (Human Behaviour) किन्हीं न किहीं आदर्शों से अवश्य प्रभावित होता है।

प्रोफेसर अमर्त्य सेन का व्यवहार और विचार भी विशेष परिस्थितियों में, बचपन से ही, नीतिगत (Ethical) बातों से प्रभावित रहा है । सन् १९४३ के बंगाल के अकाल की कहर को बचपन में उन्होंने अपनी आँखों से देखा था । अपने दादा (Grandfather) के आवास के सामने से जाते हुए अकालग्रस्त लोगों को उन्होंने चावल आदि भी बाँटा था । दु:ख-दर्द को देखकर अपने दादा से बालक अमर्त्य सेन ने बौद्ध तक बनने की इच्छा व्यक्त की थी; लेकिन उनका झुकाव अर्थशास्त्र, गणित तथा दर्शन की ओर होता गया । नोबुल लारिएट **प्रोफेसर केनेथ ऐरो** (प्रो॰ सेन के मित्र) के अनुसार कैम्ब्रिज में १९५० के दशक में अमर्त्य सेन के प्रोफेसर प्रमुख अर्थशास्त्री **जॉन राबिन्सन** ने सेन से कहा कि अर्थशास्त्र में तुम नीतिशास्त्र के कूड़े को शामिल मत करो; लेकिन अमर्त्य सेन नीतिगत प्रश्नों पर गहनता से विचार करते रहे और आर्थिक कल्याण के प्रश्न पर लिए जाने वाले निर्णयों की प्रकृति उन्हें कुरेदती रही । उनके मस्तिष्क में यह प्रश्न घूमता रहता था कि कथन (Some group is better off) का अभिप्राय क्या है? नोबुल पुरस्कार मिलने के बाद प्रोफेसर सेन ने उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर जान लिया । वे कहते हैं– Economics is about understanding better then nature of the world in which we lives. It is a matter of trying to gain a better grip on the things, that effect our lives achievement in economics is not like a new discovery in physics, or the discovery of a new medicine, which are the kinds of things for which physicists or medical scientist could be honoured. (Frontline nov.6 1998.)

रायल स्वेडिश एकेडेमी ने प्रोफेसर अमर्त्य सेन को नोबुल पुरस्कार प्रदान करते समय जो प्रशस्ति (Citations) प्रस्तुत की है, उसमें प्रो॰ सेन द्वारा कल्याण के अर्थशास्त्र के क्षेत्र में किये गये योगदान का विशद दर्शन है । सामाजिक चुनाव (Social choice) कल्याणकारी वितरण और गरीबी के प्रश्नों पर प्रो॰ सेन के महत्त्वपूर्ण शास्त्र विषयक अध्ययनों का इसमें उल्लेख है । वैयक्तिक मूल्यों एवं सामूहिक निर्णयों, विशेषत: बहुमत के शासन, व्यक्तिगत अधिकारों तथा व्यक्तियों के कल्याण के बारे में सूचना पर किये गये कार्यों का दृष्टान्त में विशेष उल्लेख है । इसके अतिरिक्त इसमें कल्याण और गरीबी तथा समाज के सबसे गरीब व्यक्तियों के सम्बन्ध में प्रदर्शक सिद्धान्तों (Indices) का भी जिक्र है और इस संदर्भ में अकाल, भूख और गरीबी पर किये गये उनके कार्यों का दर्शन है ।

प्रशस्ति (citation) में प्रोफेसर सेन द्वारा किये गये सभी शास्त्रविषयक अध्ययनों में अन्त:सम्बन्ध भी बताये गये हैं ।

प्रोफेसर अमर्त्य सेन की २२ पुस्तकें प्रकाशित हैं । इसके अतिरिक्त उन्होंने २२५ शोध-पत्र भी लिखे हैं, जिनका प्रकाशन हो चुका है । उनके कुछ शास्त्रविषयक अध्ययनों की संक्षिप्त झलक हम प्रस्तुत करेंगे, जो निम्नवत् है :

सन् १९८१ में प्रोफेसर की पुस्तक 'Poverty and famines An essay on Entitlement and Deprivations' का प्रकाशन हुआ । प्रोफेसर सेन का निष्कर्ष था कि खाद्यान्न की कुल उपलब्धि में कमी का होना अकाल के कारण नहीं रहे हैं। अकाल के प्रमुख कारण यह रहे हैं कि लोगों में बाजार से खाद्यान्न प्राप्त करने हेतु क्रयशक्ति का अभाव रहा है तथा दूसरे ऐसे राजनैतिक अथवा अन्य प्रयासों का अभाव रहा, जिनसे वे खाद्यान्न प्राप्त करने के अधिकारी होते । (The entitlements of people to command food whether through market of other machanisms broke down.)

चीन में १९५० के दशक में पड़े अकाल का अध्ययन करने पर उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि एक साम्यवादी देश में, जहाँ वितरण को बहुत महत्त्व दिया जाता है, अकाल पड़ने का कारण अकाल के बारे में सूचना का अभाव रहा है । वीजिंग में यह सूचना ही नहीं मिली कि देश में कहीं अकाल पड़ा है । सूचना के अभाव का कारण यह था कि अफसरों तथा सूचना माध्यमों (Media) को शासन की ओर से सख्त निर्देश थे कि केवल अच्छी चीजों के बारे में ही जानकारी दी जाय ।।

प्रोफेसर सेन की एक पुस्तक सन् १९७० में प्रकाशित हुई । यह पुस्तक अमरीकी अर्थशास्त्री **प्रो॰ केनेथ ऐरो** (Impossibility Theorem) के जबाब में उन्होंने लिखी थी । ऐरो का निष्कर्ष था कि ऐसी मतदान-प्रणाली संभव नहीं है, जिसके फलस्वरूप एक ओर विवेकयुक्त (Rational) तथा दूसरी ओर समानतावादी (Egalitarian) लोगों का चुनाव हो सके । यदि सभी विवेकयुक्त लोगों को, व्यक्तिगत निर्णयों को किसी प्रकार एकरूप बनाकर चुन भी लिया जाता है, तो वे तानाशाह प्रवृत्ति के हो जायेंगे और समानता के पोषक नहीं होंगे । प्रोफेसर सेन ने इस निराशावाद का उत्तर खोजा और वैयक्तिक तथा सामूहिक चुनावों में आशाप्रद स्थितियों को देखा । इस प्रकार प्रोफेसर ऐरो ने तो लोकतंत्र को सलाम बोल दिया था; लेकिन प्रो॰ सेन ने लोकतंत्र का पक्ष सलामत रखा ।

किसी उचित मापदण्ड के अभाव में समाज में पाई जाने वाली विषमता को मापना कठिन है । वर्ष १९७३ के अपने अध्ययन (Economic Inequality) में प्रो॰ सेन ने इसके मापदण्डों का जिक्र किया । गरीबी की माप के लिए 'गरीबी की रेखा' एक मापदण्ड है, जिसका निर्धारण उपभोग के एक स्तर (कैलोरी उपभोग) के द्वारा होता है; लेकिन प्रो॰ सेन का कहना है कि गरीबी की रेखा के नीचे वालों में कौन कितना गरीब है, इसका कोई माप नहीं है । अन्त्योदय के सिद्धान्त का पालन करके यदि सहायता क्रम चलता भी रहे, तब भी गरीबी-रेखा के नीचे रहने वालों की संख्या बहुत घटेगी नहीं । प्रो॰ सेन ने इसे ध्यान में रखकर निर्धनता सूचीकरण (Poverty Indexation) का एक नया फार्मूला निकाला है । जिसे 'सेन इण्डेक्स' के नाम से जानते हैं । मानव विकास सूचकांक (Human development Index) मानव विकास की गणना का महत्त्वपूर्ण माप है । पाकिस्तान के अर्थशास्त्री प्रो॰ महबूब उल हक ने इसका प्रयोग किया था ।

प्रो॰ अमर्त्य सेन ने भारतीय अर्थव्यवस्था तथा भारतीय समाज की दशा पर, १९५० के दशक से, महत्त्वपूर्ण कार्य किया है । भारत के लिए यहाँ विद्यमान सामाजिक विषमता को प्रो॰ सेन एक बड़ा अभिशाप बताते हैं । मानवीय योग्यताओं में कमी के कारण उत्पन्न समस्याओं का समाधान देश की बाजार अर्थव्यवस्था के द्वारा संभव नहीं है। उनके अनुसार मानवीय योग्यताओं में कमी के कई कारण हैं, जैसे अपर्याप्त बेसिक शिक्षा की व्यवस्था, स्वास्थ्य सेवाओं का अभाव, भू-स्वामित्व की दोषपूर्ण प्रणाली, समाज में टेढ़ा–मेढ़ा स्तरीकरण तथा मर्दों और स्त्रियों में भेद और उनकी सापेक्ष दशा में विषमताएँ । मानवीय योग्यताओं में कमी के कारण गुणात्मक दृष्टि से बहुत लोगों की जीवन–प्रक्रिया शोचनीय रहती है और उन्हें आर्थिक अवसर भी प्राप्त नहीं होते । इन बातों को ध्यान में रखते हुए **डॉ॰ मनमोहन सिंह** (पूर्व वित्तमंत्री) के समय से वैश्वीकरण तथा उदारीकरण की अपनायी गयी नीति का कुछ अंशों तक प्रो॰ सेन समर्थन तो करते हैं; लेकिन गरीबों के उत्थान की तथा उनके लिए सामाजिक अवसरों की उपेक्षा उन्हें खटकती है । उनका कहना है कि इस ओर सरकार को विशेष प्रयास करना चाहिए, जिससे गरीबों की दशा में सुधार हो ।



कौटिल्य अर्थशास्त्र में कराधान सिद्धान्त : भारतीय सन्दर्भ में एक समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ० सूरज नन्दन प्रसाद *
डॉ० ब्रजेशपति त्रिपाठी * *

प्राचीन पूर्वाचार्यों के विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन से यह विदित होता है कि राज्यशासन व्यवस्था के इतिहास में कराधान या राज्यकर का मौलिक महत्त्व रहा है । कर राज्य के कोष का प्रमुख साधन रहा है। कौटिल्य के अनुसार राज्य के सारे व्यापार, आर्थिक व राजनीतिक क्रिया-कलाप राजकीय कोष पर निर्भर करते हैं। कोष समृद्ध होने पर शक्तिशाली सेना तैयार की जा सकती है । पृथ्वी को कोष और सेना द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है । कोष और दण्ड के द्वारा राजा स्वपक्ष और परपक्ष को वश में रखता है। **सम्प्रभु सत्तासम्पन्न शक्तिशाली राज्य, प्रजाहित, राज्यहित, राष्ट्र की समुन्नति और सुरक्षा के जितने भी उपाय व साधन हैं, उनमें एकमात्र कोष ही महत्त्वपूर्ण साधन है, जो दुर्ग, राष्ट्र, खान, सेतु, वन, व्रज और वणिक् पथ आदि के द्वारा राज्यकर (टैक्स) के रूप में विभिन्न प्रकार के करारोपण के माध्यम से प्राप्त होता है । कर का सम्बन्ध प्रजा से होता है।**

धर्मशास्त्रों में उपस्थापित कर-ग्रहण के सिद्धान्तों की व्याख्या प्रमुखतः स्मृतियों द्वारा की गयी थी, जिसमें राजा अपनी ओर से प्रजा पर मनमाना कर नहीं लगा सकता था । इस प्रकार कर द्वारा आय प्राप्त करने का प्रावधान तो था; लेकिन इसके लिए प्रजा को अधिक कष्ट देना उचित नहीं माना जाता था । इस

---

* अध्यक्ष - इतिहास विभाग, श्री गुरु गोविन्द सिंह कालेज, पटना सिटी, पटना
* * प्राध्यापक - अर्थशास्त्र विभाग , श्री गुरु गोविन्द सिंह कालेज, पटना सिटी , पटना

प्रकार उनके विचारों में **'सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त'** तथा **'अधिकतम सामाजिक हित का सिद्धान्त'** अपरिष्कृत रूप में सन्निहित था । प्रचलित सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल रहकर अधिक सामाजिक हित करना ही अच्छी राज्यव्यवस्था थी । **कौटिल्य** ने इसी प्रकार की वित्त–नीति की सलाह राजा को दी है - 'प्रजा के सुख में ही राजा का हित निहित है, केवल खुद को ठीक लगने वाले काम करने से राजा का हित नहीं होता, वरन् उसका हित तो प्रजा को ठीक लगने वाले काम के सम्पादन करने में निहित है' ।[१]

कर, राजकीय व्यवसाय से होने वाली आय तथा प्रशासनिक आय राजस्व के तीन प्रमुख स्त्रोत माने जाते थे । अर्थव्यवस्था के विकास की अवस्था आदि राज्य की प्रकृति के अनुसार राजस्व में राजकीय व्यवसाय से होने वाली आय के अनुपालन में फर्क तो पड़ता है; लेकिन राज्य के राजस्व का मुख्य स्त्रोत कर ही था। राजकीय व्यवसाय से प्राप्त होने वाली आय में एकाधिकार के कारण तत्त्व का भी समावेश होता है। कर की प्रकृति और उद्देश्य के सम्बन्ध में मतान्तर है । कोई इसे शोषण का प्रमुख साधन मानता है, तो कोई इसे सामाजिक न्याय और अधिक समान वितरण के साधन के रूप में लेते हैं। स्मृतियों एवं पूर्वाचार्यों के अनुसार कर-निर्धारण के तीन प्रमुख सिद्धान्त हैं —

१. स्मृतियों द्वारा निर्धारित समय और कार्य के अनुसार एक बार कर लगाना। कर के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार की वसूली नहीं की जानी चाहिए ।

२. राजा को प्रजा पर इस प्रकार कर लगाना चाहिए कि करदाता कर को बिना किसी कठिनाई से दे सके । जिस प्रकार मधुमक्खी फूलों को बिना पीड़ा पहुँचाये मधु को निकाल लेती है, उसी प्रकार राजा को मनुष्यों को बिना कष्ट दिये धन ले लेना चाहिए । राजा को अपने राज्य से वार्षिक कर के रूप में थोड़ा-थोड़ा धन लेना चाहिए ।[२]

३. कर-ग्रहण का तीसरा सिद्धान्त कर-वृद्धि का है । कर लेकर राजा राज्य की बाह्य व आन्तरिक खतरों से रक्षा करता है । प्राचीन आचार्यों ने कर को सुरक्षा प्रदान करने के लिए राज्य को अनिवार्य रूप से प्रदान किये जाने वाले योगदान के रूप में लिया है। कर धर्म और अर्थ नामक उद्देश्यों की पूर्ति भी करता है । कर राजा को उसकी सेवा के लिए दिया जाने वाला पारिश्रमिक

है।[३] राजा को जो कर दिया जाता है, उसका प्राचीनतम नाम बलि है ।[४] वैश्य को बलिकृत (दूसरों को कर देने वाला) कहा गया है । ब्राह्मण एवं क्षत्रिय अधिकांशतः करमुक्त थे ।[५]

प्राचीन पूर्वाचार्यों ने करारोपण के प्रमुख तीन उद्देश्यों का उल्लेख किया है — (१) राजस्व एकत्रित करना, (२) नियमन करना और (३) सम्पत्ति और आय के वितरण के ढाँचे में इच्छित परिवर्तन करना । करारोपण का प्राथमिक और प्रमुख लक्ष्य अधिक से अधिक राजस्व प्राप्त करना रहा । उनकी राय में नियमन भी करारोपण का उद्देश्य है । नियमन के उद्देश्य को पूरा किये जाने की परिकल्पना की गई है। करारोपण द्वारा आय और सम्पत्ति के वितरण के ढाँचे में परिवर्तन लाया जा सकता है। प्राचीन पूर्वाचार्यों द्वारा दिये गये प्राचीन करारोपण सिद्धान्त एवं पाश्चात्य आधुनिक सिद्धान्त जैसे - **एडम स्मिथ** के अनुसार करारोपण उचित हो, इसके लिए समानता, निश्चितता, सुविधा और मितव्ययिता आवश्यक है । स्मिथ के बाद के अर्थशास्त्रियों ने कुछ अन्य करारोपण सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन किया है । जैसे उत्पादकता का नियम, लोच का नियम, विविधता का नियम और सरलता का नियम इत्यादि । इस प्रकार कौटिल्य ने करारोपण के सम्बन्ध में गैर आर्थिक कसौटी पर बल दिया है। करारोपण द्वारा राजा को अधिक से अधिक राजस्व प्राप्त करना चाहिए । राजस्व की सीमा इष्टानुकूलता है। कौटिल्य का यह सिद्धान्त पाश्चात्य अर्थशास्त्री कालवर्ट के सिद्धान्त से मिलता-जुलता है। **कालवर्ट** के अनुसार बत्तख के पंख इस तरह निकाले जाँय कि वह कम से कम शोर मचाये। एक अन्य स्थान पर कौटिल्य लिखते हैं कि कर की मात्रा उचित सीमा को यदि पार करती है, तो प्रजा विरोध करेगी । इस सन्दर्भ में कौटिल्य[६] लिखते हैं कि —

पक्वं पक्वमिवारामाद् बलिं राज्यादवाप्नुयात् ।
आत्मच्छेदकरादामं वर्जयेत् कोपकारकम् ।।

अर्थात् बगीचे से जिस प्रकार कच्चे आम को छोड़कर मात्र पका आम तोड़ते हैं । उसी प्रकार कर लगाते समय सरकार या राजा को मनुष्य की सहनशक्ति का विचार करके कर को लगाना चाहिए । इस बात पर विचार नहीं करने से प्रजा में असन्तोष पैदा होने की सम्भावना रहती है, जिससे राजनीतिक उथल-पुथल हो सकती है ।

राजस्व अन्ततः अर्थव्यवस्था के भीतर से ही प्राप्त होता है । अर्थव्यवस्था जितनी सबल होगी, करदान क्षमता भी उतनी ही अधिक होगी । करदान क्षमता प्रति व्यक्ति आय पर ही निर्भर रहती है। यदि सम्वृद्धि में वृद्धि होती गई तो राजस्व में भी वृद्धि करना सम्भव होगा । इसलिए कौटिल्य का मत है कि **राष्ट्र की सम्पत्ति में वृद्धि करना, राष्ट्र के चरित्र पर ध्यान देना, चोर पर निगरानी रखना, सरकारी कर्मचारियों को घूस लेने से रोकना, सभी प्रकार के अन्न (कृषि) उत्पादन को प्रोत्साहित करना, जल-स्थल में उत्पन्न होने वाले प्रत्येक व्यापार योग्य वस्तु के उत्पादन को बढ़ाना, आग आदि भय से राष्ट्र की रक्षा करना, उचित समय पर यथोचित कर वसूल करना आदि ये सभी कोष-वृद्धि के साधन हैं ।**

राजस्व के विभिन्न स्रोतों का उल्लेख करते हुए कौटिल्य कहते हैं कि समाहर्त्ता को दुर्ग, राष्ट्र, खान, सेतु, व्रज और व्यापार सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण करना चाहिए । शुल्क, दण्ड, पौतब (नाप-तोल), नगराध्यक्ष, लवणाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, सुराध्यक्ष (वध स्थान का अध्यक्ष), सूत्राध्यक्ष, घी-तेल विक्रेता, सुवर्णाध्यक्ष, दुकान, जुआ, वास्तु-निरीक्षक (शिल्पी), लोहार, सोनार, मन्दिर के निरीक्षक, द्वारपालाध्यक्ष, नट, नर्तक आदि से प्राप्त होने वाले आय को शहरी आय या दुर्ग कहते हैं ।

सीता (खेती), षड्भाग (माल्वो, मालपोत), बलि (उपहार-कर), फल, वृक्ष आदि पर कर, वणिक् (व्यापार कर), नदी पाल स्तर (नदी पार करने का) कर, नौकर शुल्क, पहटन (छोटे शहर की आय), विवीत (चारागाह की आय), वर्तन (मार्गकर), रज्जु (भूमि-निरीक्षक द्वारा प्राप्त आय) तथा चोर पकड़ने के लिए ग्रामवासियों से लिया जाने वाला कर आदि राजस्व के साधनों को ग्रामीण आय या राष्ट्र कहते हैं । ग्रामीण की आय के अन्तर्गत ऊपर जिन करों की चर्चा की गयी है, उसके अतिरिक्त भी कुछ करों को ग्रामीण आय में सम्मिलित किया गया है, जो इस प्रकार है - राजकीय गोदाम- गृह के बन्दोबस्त के सन्दर्भ में कौटिल्य का कहना है कि राष्ट्र-कर के दस भेद हैं — (१) पिण्डकर (गाँव से वसूल किया जाने वाला नियत कर), षड्भाग (मालपोत), सेनाभक्त (युद्धकाल में विशेष रूप से निर्धारित कर), बलि कर (मालपोत पर अतिरिक्त कर), जलाशय और वनकर, उत्संग (राजकुमार जन्मोत्सव पर दिया जाने वाला नजराना), पारिहीणिक (गाय-भैंस द्वारा नुकसान किये जाने पर दण्ड के रूप में प्राप्त रकम), औपायनिक (नजराना से प्राप्त रकम), कौष्ठेयक (सरकारी रकम से बना तालाब और बगीचा)।

इस प्रकार हम पाते हैं कि ग्रामीण आय के अन्तर्गत प्राप्त होने वाले करों में कुछ वार्षिक और कुछ किसी-किसी वक्त पर भुगतान किये जाने वाले कर हैं। इसके अतिरिक्त सैनिक कार्य, स्वास्थ्य कार्य तथा गृहनिर्माण कार्य इत्यादि पर अनुमान से कम खर्च करके बचाई गई रकम को व्यय-प्रत्याय कहते हैं, और यह भी एक प्रकार की आय है ।

सोना, चाँदी, हीरा, मणि, मोती, मूँगा, शंख, लोहा, नमक, मिट्टी, पत्थर तथा अन्य खनिज पदार्थों को खनि कहते हैं । फूल, फल, केला, सुपारी, अन्न, अदरक आदि के खेत को सेतु कहते हैं । हरिण आदि पशुओं, काठ आदि द्रव्य, हाथी आदि को वन कहते हैं । गाय, भैंस, बकरी, भेड़, गदहा, ऊँट, घोड़ा, खच्चर आदि जानवरों को व्रज कहते हैं; क्योंकि ये अपने-अपने गोष्ठ में रहते हैं।

स्थल मार्ग और जल मार्ग व्यापार के इन दोनों मार्गों को वणिक्पथ कहते हैं । ये सब राजस्व के साधन हैं । इसके अतिरिक्त मूल अन्न साग-पात आदि बेचने से प्राप्त हुई रकम का भाग (पैदावार का षष्ठांश), व्यात्री (कपटी से दण्ड के रूप में वसूल किया जाने वाला धन), परिधान कर, लावारिस की सम्पत्ति (क्लृप्त) नियत कर, रूपिक (नमक कर), अत्यय (जुर्माने से प्राप्त होने वाली आय) आदि राजस्व के साधन हैं ।[७]

आजकल सरकारी आय को मुख्यत: तीन भागों–कर, राजकीय व्यापक व्यवसाय की आय और प्रशासकीय आय में वर्गीकृत किया जाता है । कौटिल्य द्वारा बतलाये गये आयों को आधुनिक वर्गीकरण में देखने पर पाते हैं कि दुर्ग और राष्ट्र में कर, खान, सेतु, वन, व्रज और वणिक्पथ को राजकीय व्यवसाय की आय और आय के बाकी साधन प्रशासकीय आय के अन्तर्गत सम्मिलित हैं । मोटे रूप में देखने से यह स्पष्ट होता है कि कौटिल्य और आज के वर्गीकरण में समानता दिखलाई पड़ती है, जो अपने आप में अनूठी प्रतीत होती है ।

स्रोत के वर्गीकरण के साथ अगर अवधि की दृष्टि से देखा जाय, तो कौटिल्य ने राजस्व का वर्गीकरण इस प्रकार किया है - **(क) वर्तमान** - प्रतिदिन

प्राप्त होने वाली आय को वर्तमान आय कहते हैं। (२) **पर्युषित** - पिछले वर्ष की बाकी अथवा शत्रु-देश से प्राप्त धन को पर्युषित आय कहते हैं । (३) **अन्यजात**- भू लेने के बाद आय आने पर प्राप्त होने वाला धन, अपराधस्वरूप प्राप्त होने वाला धन, कर के अतिरिक्त अन्य उपाय या प्रभुत्व द्वारा प्राप्त होने वाला धन, नजरानास्वरूप प्राप्त होने वाला धन, शत्रु सेना द्वारा अपहृत और लावारिस धन को अन्यजात कहते हैं ।

प्राचीनकाल में प्राय: सभी कर अप्रत्यक्ष कर थे । राजकीय भूमि, परती भूमि, वन, खान, प्राकृतिक जलाशय आदि से प्रत्यक्षत: राज्य को काफी आय होती थी । इसे ही प्रत्यक्ष कर के रूप में जाना जाता है । राज्य को प्रत्यक्ष राजस्व के अलावा कई गौण आय स्रोतों से राजकोष को भरा जाता था । जैसे-शुल्क, जुर्माना, दण्ड और अन्याय प्रकीर्ण स्रोत इत्यादि ।[८] इसे ही अप्रत्यक्ष कर कहा गया है । आजकल प्रत्यक्ष करों का महत्त्व बढ़ रहा है । उस समय अप्रत्यक्ष करों का महत्त्व अधिक होने का मुख्य कारण यह था कि प्रत्यक्ष कर लगाने का अर्थ राजस्व बढ़ाना था । दूसरा समाजिक परिस्थिति, असमानता में वृद्धि करने की दृष्टि से प्रत्यक्ष करों से अधिक सहायक अप्रत्यक्ष कर थे । इसके अतिरिक्त अप्रत्यक्ष कर के प्रति लोग कम सचेत रहते थे ।

उस समय करारोपण की एक विशेषता निश्चित कर व्यवस्था थी । कौटिल्य के अनुसार सामान्य अवस्था में जमीन की उपज का $\frac{1}{6}$ भाग मालगुजारी के रूप में वसूल किया जाना निश्चित किया गया था । माल के मूल्य का पाँचवा भाग विशेषकर शुल्क के रूप में अनुमोदित था । मछली, मांस और साग-पात के मूल्य का षष्ठांश और बहुमूल्य वस्तुओं पर विशेषज्ञों द्वारा निश्चित दर लागू की गयी थी । तैयार और कच्चे माल पर मूल्य का पन्द्रहवाँ और कुछ पर मूल्य का बीसवाँ भाग कर के रूप में वसूल करने की सलाह दी गई है । नट, नर्तक, वेश्या आदि मनोरंजन सेवा प्रदान करने वालों को आय का आधा भाग कर (टैक्स) के रूप में वसूल करना चाहिए । कोष कम होने पर या अकस्मात् अर्थसंकट उपस्थित होने पर राजा को कोष–संचय करना चाहिए । संकट काल में वित्त-संग्रह करते समय प्रजा की सहनशीलता की सीमा से आगे बढ़ना उचित नहीं है; क्योंकि प्रजा को दु:ख देकर संग्रहीत किया जाने वाला धन राजा के लिए मृत्यु के बराबर होता

है । इसीलिए कौटिल्य का मत है कि एक बार राज्य द्वारा कर लेने से कोष में पर्याप्त वृद्धि नहीं होती है, तो समाहर्त्ता को किसी बहाने नगर व ग्रामवासियों से चन्दा के रूप में धन की याचना करनी चाहिए । इस प्रकार संकटकाल में सामान्य राजस्व के अतिरिक्त आयकर चन्दा, अनिवार्य बिक्री, देवरूप, ठगी, हत्या, डकैती, चोरी आदि के द्वारा विभिन्न प्रकार के करों से धन एकत्र करना अवांछनीय नहीं है । मामूली संकट के समय संचित कोष से काम चलाया जाना चाहिए ।

कौटिल्य ने कोष-संचय के लिए सिद्धवेश में घूमने वाले गुप्तचर को रात में किसी पेड़ पर चढ़कर–'मुझे एक-एक आदमी चाहिए, नहीं तो मैं सभी को एक बार में खा जाऊँगा' ऐसा बोलकर राक्षस का नाटक करना चाहिए, और इसके द्वारा भयभीत जनता से अपनी सुरक्षा के लिए धन प्राप्त करना चाहिए । उस प्राप्त धन को राज्य-कोष में जमा कर देना चाहिए । इस प्रकार कौटिल्य ने समृद्धशाली राज्य की स्थापना हेतु कोष को शक्तिशाली बनाने हेतु तरह-तरह के उचित-अनुचित उपायों का सहारा लिया है ।

धन एकत्र करने के लिए कौटिल्य गुप्तचरों को नकली व्यापारी बनकर ठगी करने तथा कुलीन वेश में रहने वाली महिलाओं के माध्यम से दुष्ट मनुष्यों को उत्साहित करने तथा बाद में उसे पकड़कर उसका सर्वस्व हरण करने को भी कौटिल्य अनुचित नहीं मानते हैं । संकट के समय धन एकत्र करने के लिए उनका उद्देश्य तब पराकाष्ठा पर पहुँचता है, जब कहते हैं कि दुष्ट मनुष्यों के बीच झगड़ा के समय गुप्तचरों को उनके सामने जाकर किसी एक को जहर देकर उसके आरोप में दूसरे दुष्ट व्यक्ति की सारी सम्पत्ति राज्यकोष में संचित कर देनी चाहिए । कौटिल्य का कहना है कि राजा को अपने कोष में वृद्धि के लिए छल-कपट, धोखा, हत्या आदि जैसे उपायों का प्रयोग दुष्ट और अधार्मिक व्यक्तियों पर ही कराना चाहिए।[१]

कौटिल्य ने उल्लेख किया है कि जो वस्तुएँ राष्ट्र के लिए दुःखदायक और आर्थिक समृद्धि में बाधक हैं, जो निरर्थक और केवल शौक–विलासिता के लिए हैं, उन पर अधिक कर लगाकर आपात काम करें, ताकि राष्ट्रीय आर्थिक समृद्धि हो।

राष्ट्रीय कल्याणार्थ प्रजाहित, राष्ट्र की समुचित उन्नति एवं बाह्य व आन्तरिक सुरक्षा–शांति आदि के लिए राजस्व ही एक ऐसा साधन है, जिससे

आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक स्थिरता और सम्प्रभुता बनी रह सकती है ।

राज्य को अधिक से अधिक आय प्राप्त करना चाहिए, कम से कम व्यय करना चाहिए और अधिक से अधिक धनसंचय करना चाहिए । इस प्रकार कौटिल्य ने आधिक्य के बजट को ही आदर्श वित्त-नीति का तात्कालिक उद्देश्य माना है। सरकार को अपनी आय से अधिक व्यय नहीं करना चाहिए । **शुक्राचार्य** ने आचार्य कौटिल्य के विचार का समर्थन करते हुए कहा है कि 'राजा के आय के अनुसार ही व्यय करना **चाहिए, बराबर आय से अधिक व्यय होने पर कुबेर का भी खजाना खाली हो जाएगा**[१०]। आर्थिक हित के लिए राजकीय व्यय अनिवार्य है।

प्राचीन आचार्यों ने आधिक्य के नियम पर विशेष बल दिया है। कौटिल्य के अनुसार दुर्ग और जनपद की शक्ति के अनुसार कर्मचारी रखना चाहिए और राज्य को आय का एक चौथाई भाग उनके भरण-पोषण पर खर्च करना चाहिए । राजकीय व्यय में मितव्ययिता का अनुमोदन करते हुए कौटिल्य कहते हैं कि ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे धर्म और अर्थ की व्यर्थ में क्षति होती हो । लाभ के नियम के सन्दर्भ में कौटिल्य का मत है कि समाहर्त्ता को ऊपर निर्दिष्ट विधि, साधन तथा उपायों के द्वारा राजस्व-संग्रह करना चाहिए और आय-व्यय के आधिक्य, न्यूनता का लेखा-जोखा ठीक ढंग से रखना चाहिए । यदि पहले अधिक व्यय करने से भविष्य में अधिक आय की आशा की जा सकती है, तो वैसा ही करना चाहिए ।

कौटिल्य ने जिन व्यय-मदों की चर्चा की है, उनको निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है, जैसे– **धार्मिक कार्य, राजा का निजी व्यय, प्रतिरक्षा, व्यापार, पशुपालन और जंगलात** आदि । आजकल सरकारी व्यय को चार भागों में वर्गीकृत किया जाता है — **प्रतिरक्षा, नागरिक प्रशासन, आर्थिक सेवा और सामाजिक सेवा** । इस आधुनिक वर्गीकरण में अगर कौटिल्य के व्यय-मदों को सम्मिलित किया जाय, तो यह आसानी से बताया जा सकता है कि प्रतिरक्षा और आर्थिक सेवा की कौन-कौन सी मदें हैं । प्राचीनकाल के धार्मिक खर्च को आधुनिक काल में सामाजिक कार्य के अन्तर्गत शामिल किया जा सकता है । उसी प्रकार राजा के निजी खर्च को प्रशासनिक खर्च का अंग माना जा सकता है ।

आचार्य कौटिल्य ने समयावधि और आर्थिक प्रभाव की दृष्टि से चार प्रकार के राजकीय व्यय का उल्लेख किया है — **नित्य, नित्योत्पादिक, लाभ और लाभोत्पादिक व्यय** ।

प्रतिदिन होने वाले व्यय नियमित व्यय हैं । पाक्षिक तथा वार्षिक लाभ के लिए होने वाले व्यय को लाभ व्यय कहा है । नियमित से अधिक होने वाले व्यय को नित्योत्पादिक और लाभोत्पादिक व्यय कहते हैं । आधुनिक शब्दावली में नित्य–व्यय को चालू–व्यय और लाभ–व्यय को पूँजीगत–व्यय कहते हैं। नित्योत्पादिक और लाभोत्पादिक व्यय नियमित रूप से अधिक होने वाले व्यय हैं ।

सन्दर्भ-सूची :

१. प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम् ।
नात्मप्रियहितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम् ॥
कौटिल्य अर्थशास्त्र : अधिकरण १, अध्याय-१८, प्रकरण- १४, व्याख्याकार– वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी १९९१, पृ० ६४; प्राचीन हिन्दू अर्थशास्त्र की रूपरेखा -पवराज पालिसे प्रकाशन-मदनरीस्कर गुठी, काठमान्डो (नेपाल), पृ० १९२ ।

२. मनु० - ७/१८९ एवं १४० ।

३. कौटिलीय अर्थशास्त्र : १/१३

४. ऋग्वेद - ७/६१५ एवं १०/१७/३/६ ।

५. ऐतरेय ब्राह्मण - ३५/३ ।

६. कौटिलीय अर्थशास्त्र : अधिकारण-५, अध्याय-२, प्रकरण-९०, व्याख्याकार– वाचस्पति गैरोला, वाराणसी, १९९१, पृ० सं० ४१९ ।

७. कौटिल्य अर्थशास्त्र : अधि० ५, अध्याय-२, प्रकरण-९० ।

८. चौधरी राधाकृष्ण : प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, पटना, पृ० सं० २०८

९. एवं दुष्टेष्वधार्मिकेषु च वर्तेत, नेतरेषु ।
कौटिलीय अर्थशास्त्र : अधिकरण–५, अध्याय-२, प्रकरण-९० व्याख्याकार-वाचस्पति गैरोला, वाराणसी, १९९१, पृ० सं० ४१९ ।

१०. शुक्राचार्य- शुक्रनीति-शास्त्र, ४/२/९



समाजविज्ञान एवं अर्थशास्त्र : कौटिल्य के परिप्रेक्ष्य में

डॉ० राजनाथ उपाध्याय*

आदिकाल से मनुष्यों के सम्बन्ध में अनेकानेक विचार पाश्चात्त्य राजनीतिज्ञों, अर्थशास्त्रियों एवं दार्शनिकों द्वारा होता आ रहा है, जिसका साक्षी इतिहास होता है । साथ ही भारतीय प्राचीन आर्थिक एवं धार्मिक विचारकों को यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो मानव के सम्बन्ध में एवं उसके समाज-निर्माण के अनेकानेक ग्रन्थों में जैसे— वेद, पुराण तथा उपनिषद् एवं अन्य सामाजिक विषयों के विविध आयामों में मानव की उत्पत्ति से लेकर उसकी धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक संरचना, जिसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि को आधार बनाकर विशेष वर्णन प्राप्य हैं, जिसका पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा विशेष उल्लेख नहीं है । शास्त्रों में लिखा है कि धर्मशास्त्र का ही एक विशेष अंग अर्थशास्त्र है । चाणक्य के अर्थशास्त्र में विशेष रूप से वर्णित है कि बिना अर्थ के मनुष्य के धर्म, शिक्षा, संस्कृति एवं सामाजिक संरचना का आधार एवं अच्छे समाज के निर्माण की कल्पना तक नहीं की जा सकती ।

अत: यह समीचीन प्रतीत होता है कि धर्म के सम्बन्ध में संक्षिप्त विश्लेषण करना आवश्यक है ।

भारतीय शब्द ''धर्म'' की पूर्ण तथा व्यापक व्याख्या विश्व की किसी अन्य भाषा के सामान्यतया समानार्थी समझे जाने वाले शब्दों द्वारा नहीं की जा सकती। इसके लिए उन शब्दों के साथ हमें और भी बहुत से शब्द जोड़ने पड़ सकते हैं । सम्भवत: इसका निकटतम दूसरा शब्द है- कर्त्तव्य । इहलोक और परलोक के लिए कर्त्तव्य, जिसमें व्यक्ति के निजी जीवन से लेकर परिवार, समाज, राष्ट्र और फिर पूरे विश्व के ही प्रति उसके कर्त्तव्याकर्त्तव्य का समावेश हो जाता है ।

---

* प्राध्यापक - अर्थशास्त्र विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

विभिन्न युगों में, हिन्दू समाज के संस्कार, शिक्षा, नीति, आराधना, व्यवसाय, राज्य एवं न्याय-व्यवस्था, खान-पान आदि का निर्देश धर्म के ऐसे अनुपालनों द्वारा होता आया है, जो समन्वित रूप से शास्त्र कहे जाते हैं । विद्वत् समूह ने समय-समय पर ऐसे अनेक शास्त्रों का संकलन या रचना की, जो श्रुति-स्मृति नाम से प्रसिद्ध हैं। श्रुति या वेद का एक महत्त्वपूर्ण कल्पसूत्र है, जिसकी मुख्यतया गृह्य (पारिवारिक), श्रौत (सामाजिक) और धर्म (व्यावहारिक) ये तीन शाखाएँ हैं । प्रायः इन कल्पसूत्रों का ही व्याख्यान, विस्तार, अनुसरण और अनुपूरण मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, पराशर, व्यास, बृहस्पति आदि की स्मृतियों तथा मेधातिथि, विज्ञानेश्वर (मिताक्षरा), जीमूतवाहन (दायभाग) आदि के भाष्य-टीका-संग्रहों में उपनिबद्ध किया गया है ।

संस्कृत शब्दों के उस श्रेणी में ''धर्म'' शब्द कहा जा सकता है, जिनका प्रयोग अनेक अर्थों में होता आया है । ऋग्वेद की ऋचाओं में यह शब्द या तो विशेषण के रूप में या संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुआ है (''धर्मन् के रूप में तथा सामान्यतः नपुंसकलिङ्ग में'') । इस शब्द का इस रूप में प्रयोग ५६ बार हुआ है। वेद की भाषा में उन दिनों इस शब्द का अर्थ क्या था, कहना अशक्य है । स्पष्टतः यह शब्द ''धृ'' धातु से बना है, जिसका तात्पर्य है धारण करना, आलम्बन देना, पालन करना । छान्दोग्योपनिषद् में धर्म शब्द का एक महत्त्वपूर्ण अर्थ मिलता है, जिसके अनुसार धर्म की तीन शाखाएँ मानी गयी हैं[१]— १. यज्ञ, अध्ययन एवं दान, अर्थात् गृहस्थ जीवन, २. तपस्या अर्थात् तापस धर्म तथा ३. ब्रह्मचारित्व अर्थात् आचार्य के गृह में अन्त तक रहना । यहाँ ''धर्म'' शब्द आश्रमों के विलक्षण कर्त्तव्यों की ओर संकेत कर रहा है । ''धर्म'' शब्द का अर्थ समय-समय पर परिवर्तित होता रहा है ।

इस सम्बन्ध में ''धर्म'' की कतिपय मनोरम परिभाषाओं की ओर संकेत करना अपेक्षित है । पूर्वमीमांसा सूत्र[२] में जैमिनि ने धर्म को ''वेदविहित प्रेरक'' लक्षणों के अर्थ में स्वीकार किया है, अर्थात् वेदों में प्रयुक्त अनुशासनों के अनुसार

१. त्रयो धर्मस्कन्धाः– यज्ञोऽध्ययनं दानमिति । प्रथमस्तत् एवेति द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् । (छान्दोग्योपनिषद्, २:३३)

२. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (पूर्वमीमांसासूत्र - १. १.२)

ही चलना वेदों द्वारा प्रेरित एवं प्रशंसित है । वैशेषिक सूत्रकार[१] ने धर्म की परिभाषा की है– धर्म वही है, जिससे आनन्द एवं नि:श्रेयस की सिद्धि हो । इसी प्रकार कुछ एकांगी परिभाषाएँ भी हैं, यथा "अहिंसा परमो धर्म:" (अनुशासनपर्व, ११५:१), "आनृशंस्यं परो धर्म:" (वनपर्व, ३७३:७६), आचार: परमो धर्म: (मनुस्मृति, १:१०८) । हारीत ने धर्म को श्रुतिप्रमाणक माना है[२] । बौद्ध धर्म-साहित्य में धर्म शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त है । कभी-कभी इसे भगवान् बुद्ध की सम्पूर्ण शिक्षा का द्योतक माना गया है । इसे अस्तित्व, एक तत्त्व अर्थ-जड़ तत्त्व, मन एवं शक्तियों का एक तत्त्व भी माना गया है[3] ।

डॉ० शामशास्त्री ने सन् १९०९ में कौटिल्य के अर्थशास्त्र का प्रकाशन एवं अनुवाद करके भारतीय शास्त्र-जगत् में एक नवीन चेतना की उद्भूति की ।

अर्थशास्त्र पर उपस्थित प्राचीनतम ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र ही है। अर्थशास्त्र एवं धर्मशास्त्र में आदर्श-सम्बन्धी विभेद है; किन्तु वास्तव में अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र की एक शाखा है; क्योंकि धर्मशास्त्र में राजा के कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों की चर्चा होती ही है ।[४] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'धर्मस्थीय' एवं 'कण्टकशोधन' नामक दो प्रकरण हैं, अत: इसका इस पुस्तक में विवेचन होना उचित ही है । 'शौनककृत चरणव्यूह' के मतानुसार अर्थशास्त्र अथर्ववेद का उपवेद है । जैसा कि स्वयं कौटिल्य ने लिखा है : इस शास्त्र का उद्देश्य है, पृथ्वी के लाभ-पालन के साधनों का उपाय करना ।[५] याज्ञवल्क्य एवं नारद-स्मृतियों में भी अर्थ एवं धर्मशास्त्र की चर्चा हुई है ।

बहुत प्राचीनकाल से ही चाणक्य या कौटिल्य या विष्णुगुप्त अर्थशास्त्र

---

१. अथातो धर्म व्याख्यास्याम: । यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि: स धर्म: (वैशेषिक-सूत्र)।

२. अथातो धर्म व्याख्यास्याम: । श्रुतिप्रमाणको धर्म: । श्रुतिश्च द्विविधा, वैदिकी तान्त्रिकी च । कुल्लूक द्वारा मनुस्मृति (२.१) में उद्धृत ।

३. An element of existence, i.e. of matter, mind and forces, vide Dr. Stcherbatsky Monograph on the Central Conception of Buddhism (1923), p. 73 .

४. अथ शास्त्रान्तर्गतमेव राजनीतिलक्षणं शास्त्रमिदं विवक्षितम्, मिताक्षरा (याज्ञ. स्मृ. २.२१)।

५. तस्या: पृथिव्या लाभपालनोपायानां शास्त्रमर्थशास्त्रमिति । (कौटिल्य अर्थशास्त्र– १५.१) ।

नामक ग्रन्थ के प्रणेता माने जाते रहे हैं। कामन्दक ने अपने नीतिशास्त्र में कौटिल्य (विष्णुगुप्त) के अर्थशास्त्र की चर्चा की है। कामन्दक ने विष्णुगुप्त (कौटिल्य) को अपना गुरु माना है। तन्त्राख्यायिका में, जो ३०० ई० के लगभग अवश्य लिखी गयी प्रतीत होती है, नृपशास्त्र के प्रणेता चाणक्य को प्रमाण माना गया है। दण्डी ने अपने दशकुमारचरित में लिखा है कि मौर्य राज के लिए छः सहस्त्र श्लोकों में विष्णुगुप्त ने दण्डनीति को संक्षिप्त किया (दशकुमारचरित–८)। बाण ने अपनी कादम्बरी (पृ० १०९) में कौटिल्य के ग्रन्थ को अतिनृशंस कहा है। पञ्चतन्त्र ने चाणक्य एवं विष्णुगुप्त को एक ही माना है, और चाणक्य को अर्थशास्त्र का प्रणेता कहा है। कौटिल्य का नाम पुराणों में भी अधिकतर आया है।

उपर्युक्त बातों में से कुछ स्वयं अर्थशास्त्र में व्यक्तिगत संकेत के रूप में प्राप्त होती हैं। प्रथम अधिकरण के प्रथम अध्याय के अन्त में कौटिल्य इस शास्त्र के प्रणेता कहे गये हैं, द्वितीय अधिकरण के दसवें अध्याय के अन्त में वे राजाओं के लिए शासन-विधि के निर्माता कहे गये हैं। अन्तिम श्लोक उल्लिखित है कि जिसने नन्द के चंगुल से पृथ्वी को मुक्त कराया, उसी ने इस ग्रन्थ का प्रणयन किया। वहीं यह भी आया है कि अर्थशास्त्र के भाष्यकारों की विभिन्न व्याख्याओं को देखकर विष्णुगुप्त ने स्वयं सूत्र एवं भाष्य का प्रणयन किया।

अर्थशास्त्र एक शाखा का ग्रन्थ इसलिए कहा गया है कि इसमें अन्य आचार्यों के साथ स्वयं कौटिल्य के मत लगभग ८० बार आये हैं; किन्तु इस प्रकार की प्रवृत्ति की ओर मेधातिथि तथा विश्वरूप ने बहुत पहले ही संकेत कर दिया है कि प्राचीन आचार्य अपने मत के प्रकाशनार्थ अपने नामों को अहंकारवादिता से बचाने के लिए बहुधा अन्य-पुरुष में दे देते थे।[१] उत्तम-पुरुष के एकवचन में बहुत ही कम व्यवहार हुआ है। जैकोबी एवं कीथ का यह कहना कि भारद्वाज (५.६) ने कौटिल्य की आलोचना की है, त्रुटिपूर्ण है। कौटिल्य पहले अपना मत देकर अपने पहले के आचार्यों का मत देते हैं। कीथ का कथन है कि 'कौटिल्य' कुटिल से बना है, अतः कोई ग्रन्थकार स्वयं अपने मत को इस उपाधि से नहीं घोषित करेगा। चाणक्य ने कूटनीति से मौर्य साम्राज्य का निर्माण किया और नन्द

१. "प्रायेण ग्रन्थकाराः स्वमतं परापदेशने ब्रुवते", मेधातिथि। याज्ञ० १.२ पर विश्वरूप ने कहा है।

जैसे आततायियों का नाश किया । अत: हो सकता है कि उन्हें आरम्भ में जो 'कुटिल' नाम दिया गया, वह अन्त में उन्हें, सत्कार्य करने के कारण, भला लगने लगा हो । एक बात और, कौटिलीय अर्थशास्त्र में बहुत से आचार्यों के उद्धृत नाम विचित्र ही हैं, यथा— पिशुन, वातव्याधि, कौणपदन्त ।

अर्थशास्त्र में कुल १५ अधिकरण, १५० अध्याय, १८० विषय एवं ६००० श्लोक (३२ अक्षरों की इकाइयाँ) हैं । यह गद्य में है, कहीं-कहीं कुछ श्लोक भी हैं । प्रत्येक अध्याय के अन्त में एक या कुछ अधिक श्लोक हैं । कुछ अध्यायों के बीच में भी श्लोक हैं । गद्यभाग को छोड़कर कुल ३४० श्लोक आये हैं । श्लोक अनुष्टुप् जाति में अधिक हैं । इन्द्रवज्रा या उपजाति में केवल ८ श्लोक हैं । अर्थशास्त्र के पूर्व के अर्थशास्त्र हमें नहीं मिल सके हैं, अत: यह कहना कठिन है कि कितने श्लोक उधार लिये गये हैं और कितने इसके अपने हैं । यह ग्रन्थ प्राचीन भारत के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन पर इतना मूल्यवान् प्रकाश डालता है, और इसमें इतने विषयों का प्रतिपादन हुआ है कि थोड़े में बहुत-कुछ कह देना संभव नहीं है। पन्द्रह अधिकरणों की विषय-सूची इस प्रकार है— १. राज्यानुशासन, राजा द्वारा शास्त्राध्ययन, आन्वीक्षिकी एवं राजनीति का स्थान, मन्त्रियों एवं पुरोहित के गुण तथा उनके लिए प्रलोभन, गुप्तचर-संस्था, सभा-बैठक, राजदूत, राजकुमार-रक्षण, अन्तःपुर के लिए व्यवस्था, राजा की सुरक्षा ; २. राज्य-विभाग के पर्यवेक्षकों के विषय, ग्राम-निर्माण, चरागाह, वन, दुर्ग, सन्निधाता के कर्तव्य, दुर्गों, भूमि, खानों, वनों, मार्गों के करों के अधिकारी, आय-व्यय निरीक्षक का कार्यालय, जनता के धन का गबन, राज्यकोष एवं खानों के लिए बहुमूल्य प्रस्तरों (रत्नों) की परीक्षा, सिक्कों का अध्यक्ष, व्यवसाय, वनों, अस्त्र-शस्त्रों, तौल-बटखरों, चुंगी, कपड़ा बनाने, मद्यशाला, राजधानी एवं नगरों के अध्यक्ष ; ३. न्याय-शासन, विधि-नियम, विवाह-प्रकार, विवाहित जोड़े के कर्तव्य, स्त्रीधन, बारह प्रकार के पुत्र, व्यवहार की अन्य संज्ञाएँ ; ४. कंटक-निष्कासन, शिल्पकारों एवं व्यापारियों की रक्षा, राष्ट्रीय विपत्तियों, यथा अग्नि, बाढ़, व्याधि, अकाल, राक्षस, व्याघ्र, सर्प आदि के लिए दवाएँ या उपचार, दुराचारियों को दबाना, कौमार अपराध का पता चलाना, सन्देह पर अपराधियों को बन्दी बनाना, आकस्मिक एवं घात के कारण मृत्यु, दोषांगीकार कराने के लिए

अतिपीड़ा देना, सभी प्रकार के राजकीय विभागों की रक्षा, अंग-भंग करने के स्थान पर जुर्माने, बिना पीड़ा अथवा पीड़ा के साथ मृत्यु-दण्ड, रमणियों के साथ समागम, विविध प्रकार के दोषों के लिए अर्थदण्ड ; ५. दरबारियों का आचरण, राजद्रोह के लिए दण्ड, विशेषावसर (आकस्मिकता) पर राज्यकोष को सम्पूरित करना, राज्यकर्मचारियों के वेतन, दरबारियों की योग्यताएँ, राज्यशक्ति की संस्थापना ; ६. मण्डलरचना, सार्वभौम सत्ता के सात तत्त्व, राजा के शील-गुण, शान्ति तथा सम्पत्ति के लिए कठिन कार्य, षड्विध राजनीति, तीन प्रकार की शक्ति ७. राज्यों के वृत्त (मण्डल) में ही नीति की सन्धि, विग्रह, यान, आसन, शरण गहना एवं द्वैधीभाव नामक छः गुण; सेना के कम होने एवं आज्ञोल्लंघन के कारण, राज्यों का मिलान, मित्र, सोना या भूमि की प्राप्ति के लिए सन्धि, पृष्ठभाग में शत्रु, परिसमाप्त शक्ति का पुनर्गठन, तटस्थ राजा एवं राज-मण्डल ; ८. सार्वभौम सत्ता के तत्त्वों के व्यसनों के विषय, राजा एवं राज्य के कष्ट (बाधा), मनुष्यों एवं सेना के कष्ट ; ९. आक्रमणकारी के कार्य, आक्रमण का उचित समय, सेना में रंगरूटों की भरती, प्रसाधन, अन्तः एवं बाह्य कष्ट (बाधा), असन्तोष, विश्वासघाती, शत्रु एवं उनके मित्र ; १०. युद्ध के विषय, सेना का पड़ाव डालना, सेना का अभियान, समरांगण, पदाति (पैदल सेना), अश्वसेना, हस्तिसेना आदि के कार्य, विविध रूपों में युद्ध के लिए टुकड़ियों को सजाना ; ११. नगरपालिकाओं एवं व्यवसाय-नियमों के विषय ; १२. शक्तिशाली शत्रु के विषय, दूत भेजना, कूट-प्रबन्ध योजना, अस्त्र-शस्त्र-सज्जित गुप्तचर, अग्नि, विष एवं भण्डार तथा अन्न-कोठार का नाश, युक्तियों से शत्रु को पकड़ना, अन्तिम विजय ; १३. दुर्ग को जीतना, फूट उत्पन्न करना, युक्ति से (युद्धकौशल आदि से) राजा को आकृष्ट करना, घेरे में गुप्तचर, विजित राज्य में शान्ति स्थापना; १४. गुप्त साधन, शत्रु की हत्या के लिए उपाय, भ्रमात्मक रूप-स्वरूप प्रकट करना ; औषधियाँ एवं मन्त्र-प्रयोग तथा १५. इस कृति का विभाजन एवं उसका निदर्शन।

व्यवहार-विषय शासन के वर्णन में कौटिल्य एवं याज्ञवल्क्य में बहुत साम्य है । मनु एवं नारद की बातें भी इस विषय में कौटिल्य से मिलती-जुलती-सी दृष्टिगोचर होती हैं; किन्तु उस सीमा तक नहीं, जहाँ तक याज्ञवल्क्य से।[१] अब

---

१. कौ० ३.१

प्रश्न है कि किसने किससे उधार लिया । याज्ञवल्क्य ने कौटिल्य से या कौटिल्य ने याज्ञवल्क्य से। भाषा-सम्बन्धी समानता बहुत अधिक है । सम्भवत: याज्ञवल्क्य ने ही अर्थशास्त्र से बहुत-सी बातें लेकर उन्हें पद्यबद्ध करके अपनी स्मृति में रख लिया है । बात यह है कि याज्ञवल्क्य स्मृति में कौटिलीय अर्थशास्त्र से अन्य भी बहुत-सी बातें पायी जाती हैं । कौटिलीय, अर्थशास्त्र मनुस्मृति से भी पुराना है । कौटिलीय में मानवों के मत की ओर पाँच बार संकेत आया है । अर्थशास्त्र में लिखा है कि मानवों के मतानुसार राजकुमार को तीन विद्याएँ पढ़नी चाहिए– त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति । आन्वीक्षिकी त्रयी का ही एक भाग है । राजमन्त्रियों की संख्या बारह है । मनुस्मृति (७.४३) ने विद्याओं को स्पष्ट रूप से चार माना है और राजमन्त्रियों की संख्या सात या आठ कही है । बुहलर और अन्य विद्वानों ने इस मतभेद को सामने रखकर यही कहा है कि इस विषय में कौटिल्य ने मानवधर्मसूत्र की ओर संकेत किया है; किन्तु हमने पहले ही देख लिया है कि मानवधर्मसूत्र था ही नहीं । धर्मशास्त्र में मानवों के अतिरिक्त बृहस्पतियों एवं औशनसों के नाम आते हैं; किन्तु आश्चर्य तो यह है कि कौटिल्य ने गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन, वशिष्ठ, हारीत की कहीं भी चर्चा नहीं की है। धर्मस्थीय प्रकरण में कौटिल्य ने अपने से पूर्व के आचार्यों की ओर संकेत अवश्य किया है। समानता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कौटिल्य ने पूर्वाचार्यों की ओर संकेत करके धर्मसूत्रकारों की ही चर्चा की है ।

धर्मस्थीय प्रकरण में जो कुछ आया है, उससे प्रकट होता है कि गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन के धर्मसूत्रों से बहुत आगे की ओर अतिप्रगतिशील बातें अर्थशास्त्र में पायी जाती हैं; किन्तु मनुस्मृति से कुछ पहले और याज्ञवल्क्य से बहुत पहले ही इसका प्रणयन हो चुका था । कौटिलीय अर्थशास्त्र के निर्माण-काल के विषय में हम अन्त:प्रमाणों पर ही अपने तर्कों को रख सकते हैं; क्योंकि बाह्य प्रमाण हमें दूर तक नहीं ले जा पाता। नि:सन्देह यह कृति २०० ई० के बाद की नहीं हो सकती; क्योंकि कामन्दक, तन्त्राख्यायिका तथा बाण ने इसकी प्रशंसा के गीत गाये हैं । इसे ई. पू. ३०० के आगे भी हम नहीं ले जा सकते ।

कौटिल्य ने चारों वेदों, अथर्ववेद के मन्त्रप्रयोग, छः वेदांगों, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र की चर्चा की है। इसमें सांख्य, योग एवं लोकायत

की शाखाओं की ओर भी संकेत आया है । इसमें मौहूर्तिक, कार्तान्तिक (फलित ज्योतिष जानने वालों), बृहस्पति ग्रह एवं शुक्र ग्रह की भी चर्चा की गयी है । धातुशास्त्र का नाम भी आया है । शासनाधिकार में काव्य-गुणों की भी चर्चा की गयी है, यथा–माधुर्य, औदार्य, स्पष्टत्व, जो अलंकारशास्त्र के प्रारम्भ की सूचक है ।

जिन देशों एवं लोगों की चर्चा अर्थशास्त्र में हुई है, उनमें कुछ उल्लेखनीय हैं । चीन के रेशम (कौशेय) एवं नेपाल के कम्बल की चर्चा हुई है । कीथ के कथनानुसार 'चीन' नाम चीन देश के 'थिसन' नामक राजवंश से बना है और इस वंश का राज्यारम्भ ई०पू० २७४ में हुआ, अत: अर्थशास्त्र ई० पू० ३०० में नहीं प्रणीत हो सकता; किन्तु 'चीन' शब्द की व्याख्या सरल नहीं है । यह किसी अन्य प्राचीन शब्द से भी सम्बन्धित हो सकता है । हो सकता है कि जहाँ यह शब्द आया है, वह सूत्र ही क्षेपक हो । कौटिल्य अर्थशास्त्र में वृष्णियों के 'संघ', कम्बोज एवं सुराष्ट्र के आयुधजीवी (युद्धजीवी) एवं वार्ताजीवी (कृषि-व्यापार-जीवी) क्षत्रियों की 'श्रेणियों' तथा लिच्छिविक, वृजिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर तथा कुरमचालों का (जो राजा पदवी वाले थे) वर्णन आया है (अर्थ. ११.१) । इन गणों में कुछ यथा–लिच्छिवि, वृजि (पालि में वज्जि) तथा मल्ल तो बौद्ध ग्रन्थों में भलीभाँति वर्णित हैं । हमें यह वर्णन मिलता है कि कम्बोज, सिन्धु, आरल्ठ तथा वनायु के घोड़े अत्युत्तम एवं वाह्लीक, पापेय, सौवीर एवं तैतल के मध्यम श्रेणी के होते हैं । कौटिलीय अर्थशास्त्र में म्लेच्छ जाति का भी वर्णन आया है, जिसमें सन्तानों की बिक्री हो सकती है और उन्हें बन्धक रखा जा सकता है (अर्थ. ३.१३) ।

कौटिल्य को प्रचलित महाभारत ज्ञात था कि नहीं, कहना कठिन है । अर्थशास्त्र में उद्धृत, यथा–ऐल, दुर्योधन, हैहय, अर्जुन, वातापी, अगस्त्य, अम्बरीष, सुपात्र (नल) की अधिकांश गाथाएँ महाभारत में भी आयी हैं । कहीं-कहीं गाथाओं में कुछ अन्तर भी है, यथा– जनमेजय ने क्रोध में आकर ब्राह्मणों पर आक्रमण किया और नष्ट हो गया; किन्तु महाभारत में जनमेजय की गाथा कुछ और ही है (महा. १२.१५०) । इसी प्रकार कुछ अन्य कथाओं में भी अन्तर है । कौटिल्य को पुराणों के विषय में जानकारी थी ।

कौटिल्य को जड़ी-बूटियों का आश्चर्यजनक ज्ञान था । डा० जाली के मत में इस विषय का कौटिल्य का ज्ञान सुश्रुत से कहीं अधिक विस्तृत था । चरक एवं सुश्रुत के कालों के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है । कौटिल्य ने 'रसद' नामक पारद-विष-व्यवहर्ता की चर्चा की है । उन्होंने 'रस' के व्यापारियों के लिए निष्कासन का दण्ड घोषित किया है । उन्होंने 'रस-विद्ध' (पारामिश्रित सोना) (अर्थ. २.१२), 'रसा: काञ्चनिका:' (स्वर्णयुक्त जलीय पदार्थ) एवं 'हिंगलुक' की चर्चा की है ।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में एक महत्त्वपूर्ण बात है दुर्ग के बीच में देवताओं के मन्दिरों की स्थापना की चर्चा । यथा–शिव, वैश्रवण, अश्विनौ, लक्ष्मी एवं मदिरा (दुर्गा?) के मन्दिर । इतना ही नहीं, उन्होंने झरोखों में अपराजित, अप्रतिहल, जयन्त एवं वैजयन्त की मूर्ति-स्थापना की चर्चा की है । उन्होंने ब्रह्मा, इन्द्र, यम एवं सेनापति (स्कन्द) को मुख्यद्वार के इष्ट देवताओं में गिना है। पतञ्जलि के महाभाष्य से पता चलता है कि 'मौर्यों ने धनलोभ से मूर्तियाँ स्थापित की', जिनमें शिव, स्कन्द एवं विशाख की पूजा हुआ करती थी[१] ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में बहुत प्राचीनता पायी जाती है । यह ई. पू. ३०० की कृति है, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए ।

इसी क्रम में महात्मा गाँधी के विचारों का भी संक्षेप में उल्लेख किया जा सकता है कि वे पाश्चात्त्य विद्वानों से असहमत क्यों थे ? गाँधी जी अर्थशास्त्र का अध्ययन एक पाठ्यविषय के रूप में नहीं करना चाहते थे । वे जीवन को एक सम्पूर्ण वस्तु समझते थे और इसलिए उनका विचार था कि आर्थिक क्रियाओं के नैतिक एवं सामाजिक परिणामों का अध्ययन अर्थशास्त्र से अलग रखकर नहीं किया जा सकता है । इस प्रकार उनके विचार में भौतिकवाद का कोई महत्व नहीं था । उन्होंने कहा कि साधन एक बीज है, उद्देश्य एक वृक्ष के समान है और दोनों में ऐसा ही अटूट सम्बन्ध है, जैसा बीज में है (हिन्द स्वराज, पृ० ६६-६९) ।

---

१. महाभाष्य-५.३.९९ ।

प्रो. अमर्त्य सेन की बौद्धिक प्रतिभा को देखते हुए सम्पूर्ण विश्व वर्षों से उन्हें नोबेल पुरस्कार सम्मान का हकदार मानता रहा है, जो उन्हें मिला है; किन्तु पश्चिम में रहने के बावजूद विकास के पश्चिमी मॉडल से मतभेद रखने के कारण द्धरॉयल स्वीडिस ऐकेडमी ऑफ सांइस विगत वर्षों में उनको नकारती रही है। अन्ततः अब यह सम्मान उन्हें प्रदान करना उनकी इस विचारधारा की परोक्ष पुष्टि ही है कि अन्धाधुन्ध उदारीकरण तथा वैश्वीकरण विकासशील राष्ट्रों के असंख्य निर्धनों के हितों की सुरक्षा नहीं कर सकता अन्यथा सोवियत संघ के विघटन के पश्चात यह आमतौर पर स्वीकार किया जाने लगा था कि पश्चिम का उन्मुक्त बाजारतन्त्र ही एकमात्र टिकाऊ और जनहितैषी व्यवस्था है। प्रो. सेन ने भारत व पाकिस्तान में वैश्वीकरण प्रयासों को एक भूल बताते हुए कहा है कि निर्धनों के लिए समुचित सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था विकसित किये बिना इस प्रकार के प्रयास उचित नहीं हैं। हाल ही के वर्षों में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किये जाने वाले वह पहले ऐसे अर्थशास्त्री हैं, जो निर्धनों के कल्याण की बातें करते और लिखते रहे हैं। अन्यथा विगत वर्षों में वित्तीय एवं निवेश अर्थशास्त्र के क्षेत्र में काम करने वाले अर्थशास्त्रियों का ही नोबेल पुरस्कार के क्षेत्र में बोलबाला रहा है। प्रो. सेन को नोबेल पुरस्कार इस मायने में भी एक बड़ी उपलब्धि है कि यह सम्मान उन्हें कल्याणकारी अर्थशास्त्र के क्षेत्र में योगदान के लिए दिया गया। १९९२ के पश्चात् यह दूसरी बार ही हुआ है कि अर्थशास्त्र के इस सर्वोच्च पुरस्कार के लिए उनका अकेले का ही चयन किया गया। पिछले दो वर्षों में यह पुरस्कार दो या तीन अर्थशास्त्रियों को संयुक्त रूप से ही दिया जाता रहा है।

प्रो. सेन की विचारधारा भारतीय दर्शन पर आधारित होने के बावजूद देश के करोड़ों लोगों के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि भारत ने अपने इस दार्शनिक अर्थशास्त्री से क्या हासिल किया है। यह वास्तव में शोचनीय है कि विकास के पश्चिमी मॉडल का अंधानुकरण करने वाले भारतीय राजनेताओं ने गाँधी की तरह प्रो० सेन की कल्याणकारी विकासवादी विचारधारा को हाशिए पर ही रखा है। वह उदारीकरण व वैश्वीकरण के विरोधी नहीं हैं, बल्कि सुधारों को भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखे जाने की बात करते हैं।

"मनु" से लेकर "अमर्त्य सेन" तक के सभी भारतीय विद्वानों की सामाजिक एवं आर्थिक संरचना की बात की जाय, तो प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक कौटिल्य के अर्थशास्त्र द्वारा समाज की संरचना की व्याख्या (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) इतनी बृहद् ढंग से तिरोहित की गयी है कि हमारे विचार से कोई भी समाज-वैज्ञानिक यदि आज के परिवेश में भी उसका प्रयोग करके देखे तो स्पष्ट होता है कि सामाजिक विज्ञान से सम्बन्धित विषयों में मुख्यतया अर्थशास्त्र, राजशास्त्र, समाजशास्त्र, इतिहास एवं मनोविज्ञान की स्पष्ट झलक परिदृश्य होती है । इस शास्त्र के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि किसी भी समाज के निर्माण के लिए अर्थ की बहुत बड़ी भूमिका होती है एवं सम्पूर्ण समाज-विज्ञान कौटिलीय अर्थशास्त्र में ही विद्यमान है ।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । मनुष्य अपनी प्रकृति को एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था के निर्माण एवं पुनर्निमाण की अभिव्यक्ति कराता है तथा वह अपने अनेक प्रकार के आचार-विचार व मार्गदर्शन द्वारा संगठन निर्मित करता है, जिसको समाज के नाम से हम जानते हैं, जो मानवीय क्रियाओं को स्वतन्त्रता प्रदान करता है। इसके लिए आचार, नीति, विचार एवं अध्यात्म जगत् का भी बोध कराता है । सामाजिक परिवेश में जीवन का मुख्य उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के आधार पर जीवन जीना एवं अन्त में लोककल्याण की भावना से अभिभूत होना है । हमारे विचार से सम्पूर्ण समाज-विज्ञान की परिकल्पना अर्थशास्त्र की ही परिसीमाओं में कैद है ।

◆

समाज संरचना में अर्थ की भूमिका

डॉ० बिमलेन्दु विकास चक्रवर्ती*

समाज की वर्तमान आर्थिक प्रगति और समृद्धि को सम्भव बनाने में मुद्रा का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है । वर्तमान युग में व्यक्ति अथवा समाज के जीवन का कोई ऐसा भाग नहीं है, जो मुद्रा के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त है । वर्तमान समय में जीवन का ऐसा कोई भी रूप नहीं है, जिसे विनिमय अथवा मौद्रिक प्रणाली ने प्रभावित न किया हो ।

प्राचीन समय में जब मानव की आवश्यकतायें अत्यन्त सरल तथा सीमित थीं, व्यक्ति पूर्णतः आत्मनिर्भर था । जब मनुष्य स्वावलम्बी था, तो उसके जीवन में विनिमय का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं था । अतः उस समय विनिमय एवं वितरण की जटिल समस्यायें नहीं थीं । जब स्वावलम्बन की व्यवस्था समाप्त होने लगी, तो विनिमय आवश्यक होने लगा । पहले तो अदला-बदली की प्रथा के अनुसार विनिमय हुआ करता था ।

सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य की आवश्कतायें बहुत सीमित थीं और प्रत्येक मनुष्य इनकी पूर्ति स्वयं अपने आप और अपने परिवार की सहायता से कर लिया करता था; परन्तु समय के बीतने तथा सभ्यता की उन्नति के साथ ही साथ मनुष्य की आवश्यकताओं में अत्यधिक वृद्धि हुई और उसके लिए स्वयं अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करना कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव हो गया । फलतः मनुष्य भिन्न-भिन्न वस्तुओं का उत्पादन करने लगे । वे एक-दूसरे के साथ अपनी वस्तुओं का विनिमय करके अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने लगे । आज समस्त समाज और संसार की आर्थिक व्यवस्था इसी पर निर्भर है । हमारी समस्त

---

* प्राध्यापक (अर्थशास्त्र), केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी ।

उत्पादन व्यवस्था विनिमय के लिए ही चलाई जाती हैं और प्रत्येक मनुष्य का जीवन इसी पर निर्भर है । प्रारम्भ में वस्तु–विनिमय के द्वारा लोग अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करते थे । दो व्यक्ति परस्पर अपनी वस्तुओं या सेवाओं का प्रत्यक्ष रूप से आदान–प्रदान करते थे; लेकिन समाज के विकास के साथ–साथ इसमें कठिनाइयाँ अनुभव की गईं, जिसके फलस्वरूप विनिमय के लिए एक सर्वमान्य माध्यम चुना जाने लगा, जिसे अर्थशास्त्र में मुद्रा या द्रव्य कहते हैं । वास्तव में, मुद्रा मानव का एक महत्त्वपूर्ण आविष्कार है । **प्रो. क्राउथर** के अनुसार 'मुद्रा मानवीय आविष्कारों में सबसे महत्त्वपूर्ण है ।'

शिकारी जीवन अवस्था काल या आखेट युग में चमड़ा, पशुपालन जीवन; अवस्था काल या चारागाह युग में गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि पशु, कृषि काल में अनाज तथा कौड़ी और आधुनिक उन्नतिशील औद्योगिक एवं व्यापारिक जीवन अवस्था काल में सोने–चाँदी आदि धातु; का विनिमय के लिए उपयोग किया गया है । भिन्न–भिन्न देशों में वहाँ के निवासियों के आर्थिक जीवन तथा इच्छा के अनुसार कौड़ी कोको, कपड़ा, नमक, तम्बाकू, चाय, सीपियाँ, हीरे–जवाहरात आभूषणों आदि अनेक प्रकार की वस्तुओं का उपयोग हुआ है । आधुनिक आर्थिक जीवन में केवल सोना, चाँदी आदि धातु ही नहीं, बल्कि कागज का भी अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है । इस प्रकार विभिन्न समयों पर विभिन्न वस्तुओं का मुद्रा के रूप में प्रयोग किया गया है।

प्राचीन काल में मुद्रा के रूप में प्रयोग की जाने वाली वस्तुओं में कई प्रकार के दोष व त्रुटियाँ पायी जाती थीं । कालान्तर में जब धातुओं का मुद्रा के रूप में प्रयोग होने लगा तो बाद में यह अनुभव किया जाने लगा कि धातुओं के वे टुकड़े, जो मुद्रा के रूप में प्रयोग किये जाते हैं, न केवल भद्दे ही हैं, बल्कि चालाक व्यक्ति उनमें से धातुओं के कुछ अंश निकाल भी लेते हैं । इस प्रकार धीरे–धीरे धातुओं के टुकड़ों के बजाय उनके सिक्कों का प्रयोग होने लगा । धातु के सिक्कों का प्रयोग सर्वप्रथम लिडिया और मिस्र में किया गया था। इस प्रकार पर्याप्त समय तक धातु के सिक्कों का प्रयोग होता रहा; परन्तु अब धीरे–धीरे धातु के सिक्कों के प्रयोग में भी कुछ कठिनाइयाँ अनुभव होने लगीं । धातु के सिक्के न केवल भारी होते हैं, बल्कि उनके प्रयोग से देश को आर्थिक क्षति उठानी पड़ती

है; क्योंकि लगातार प्रचलन के कारण वे काफी घिस जाते हैं; इसीलिए कागजी मुद्रा का आविष्कार किया गया । कागजी मुद्रा में वहनीयता तथा मितव्ययिता दोनों ही गुण पाये जाते हैं । कागजी मुद्रा न केवल हल्की होती है; बल्कि इसके प्रयोग से देश की मूल्यवान् धातुओं की बचत हो जाती है, जिनका प्रयोग या तो अन्य दूसरे देशों को भुगतान करने के काम में हो सकता है अथवा इनका उपयोग उत्पादन के अन्य कामों में हो सकता है । इस प्रकार धीरे–धीरे सभी देशों में कागजी मुद्रा का प्रयोग बढ़ने लगा है । पश्चिमी देशों में तो मुद्रा का और भी अधिक विकास हो चुका है । वहाँ पर तो कागजी मुद्रा से भी अधिक महत्त्व साख–मुद्रा को दिया जाता है । विकसित देशों में अधिकांश भुगतान चेकों, हुण्डियों आदि जैसे साख-पत्रों के माध्यम से ही किये जाते हैं । यह मुद्रा का नवीनतम रूप है।

अंग्रेजी का 'मनी' शब्द लैटिन भाषा के 'मोनेटा' शब्द से बना है । रोम में देवी जूनो का एक मन्दिर है । देवी जूनो का ही दूसरा नाम मोनेटा है । रोमन लोग देवी जूनो को 'स्वर्ग की रानी' मानते हैं । प्राचीन रोम निवासी मुद्रा में स्वर्गीय आनन्द की कल्पना किया करते थे । इसलिए प्राचीनकाल में रोम में सिक्कों का टंकन यानी मुद्रा का निर्माण देवी जूनो के मन्दिर में ही किया जाता था ।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा 'मुद्रा' शब्द की विभिन्न परिभाषायँ की गई हैं; लेकिन आजकल अर्थशास्त्री मुद्रा की परिभाषा यह कह कर करते हैं कि मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जो व्यापक क्षेत्र में विनिमय के माध्यम , मूल्य के मापक, स्थगित भुगतानों के मान एवं मूल्यों के संचय के साधन के रूप में सामान्य रूप से स्वीकार की जाती है तथा जिसे राजकीय संरक्षण अथवा मान्यता प्राप्त होती है ।

वर्तमान समय में मुद्रा समाज की अर्थव्यवस्था में सामान्य आर्थिक क्रियाओं का नियमन करती है तथा सामान्य सामाजिक सुधारों को सम्भव बनाती है । वर्तमान युग में मुद्रा समाज में सामाजिक सुधार एवं आर्थिक बुराइयों को दूर करने का साधन बन गई है । समाज में भौतिक वस्तुओं के सरल विनिमय के लिए मुद्रा का महत्त्व है। मनुष्य का आर्थिक विकास इसी की सहायता से सम्भव हो सका है । उसके जीवन के सभी क्षेत्रों में इसकी अत्यधिक महत्ता है । वस्तुतः वर्तमान आर्थिक अवस्था मुद्रा की नींव पर ही आधारित है । इसी आधार पर **डॉ. मार्शल**

ने कहा है–'मुद्रा वह धुरी है जिस पर अर्थविज्ञान चक्कर लगाता है ।' विनियम की आधुनिक प्रणाली सामाजिक जीवन कीं सभी स्थितियों से इस प्रकार घुल-मिल गई है कि यदि इसे अचानक नष्ट कर दिया जाय तो जीवन की अधिकांश अच्छाइयाँ समाप्त हो जायेंगी । इसीलिए आधुनिक अर्थशास्त्री मुद्रा को अर्थव्यवस्था में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपकरण मानते हैं । प्रो. क्राउथर ने कहा है – 'ज्ञान की प्रत्येक शाखा के अपने-अपने मूल अनुसन्धान हैं। जैसे— यन्त्रकला में चक्र, विज्ञान में अग्नि, राजनीतिशास्त्र में मताधिकार । इसी प्रकार अर्थशास्त्र तथा मानव के सामाजिक जीवन के व्यापारिक पक्ष में मुद्रा एक आवश्यक आविष्कार हैं जिस पर अन्य सभी बातें आधारित हैं।'

मुद्रा तथा सामाजिक जीवन

मनुष्य के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है । मुद्रा मनुष्य की समस्त आर्थिक क्रियाओं की प्रेरक शक्ति है । हमारे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में मुद्रा का महत्त्व है ।

१. आर्थिक क्षेत्र में मुद्रा का महत्त्व

उपभोग के क्षेत्र में – मुद्रा के आविष्कार से उपभोक्ता को बहुत बड़ा लाभ हुआ है। मुद्रा में सर्वग्राह्यता एवं मूल्य संचय का गुण पाया जाता है । अत: उपभोक्ता अपनी इच्छानुसार वस्तुयें तथा सेवायें प्राप्त कर सकता है । मुद्रा के द्वारा उपभोक्ता अपनी आवश्यकता की वस्तु किसी भी स्थान से खरीद सकता है । अपनी माँग को स्थगित करके वह प्राय: वस्तुओं को सस्ते मूल्य पर खरीदने में सफल हो जाता है, जिससे उस उपभोक्ता को बहुत अधिक बचत प्राप्त हो जाती है । अपनी आय को छोटे से छोटे टुकड़ों में विभाजित कर सकने की सुविधा से ही वह अपने व्यय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने में सफलता प्राप्त करता है।

उत्पादन के क्षेत्र में– उत्पादक के लिए भी मुद्रा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । प्रत्येक उत्पादक को उत्पादन के विभिन्न साधनों को जुटाने, कच्चा माल खरीदने, पूँजी उधार लेने तथा विज्ञापन एवं प्रचार करने में मुद्रा सहायता देती है । इसके कारण ही बड़े–बड़े उद्योगों तथा व्यापार स्थापित हो सके हैं । इसकी सहायता से

पूँजी का संचय तथा साख–संस्थाओं का निर्माण सम्भव हो सका है, जिससे बड़े पैमाने पर धनोत्पत्ति सम्भव हो सकी है । मुद्रा ने उत्पत्ति में श्रम विभाजन प्रणाली के उपयोग को प्रोत्साहन दिया है, जिससे आजकल बहुत बड़े-बड़े उद्योगों का निर्माण हुआ है ।

विनिमय के क्षेत्र में – मुद्रा के कारण वस्तु विनिमय (अदल–बदल) प्रणाली की सभी कठिनाइयाँ अब दूर हो गई हैं । इसलिए अब वस्तुओं का बाजार बहुत ही विस्तृत होता जा रहा है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व उद्योग को बहुत प्रोत्साहन मिला है । मुद्रा के कारण यातायात के साधनों में विकास हुआ है, जिससे गाँव की पृथकता का लगभग अन्त हो गया है । परिणामत: विनिमय सौदे स्वतंत्रता से होने लगे हैं तथा इन कार्यों का आधार प्रतियोगिता हो गई है । प्रतियोगिता के कारण ही लगान तथा मजदूरी भी सुगमता से निर्धारित होने लगी है और अब कृषक तथा श्रमिक को जमींदार या पूँजीपति पर निर्भर नहीं रहना पड़ता है।

वितरण के क्षेत्र में – आजकल उत्पादन का रूप सामूहिक है । उत्पादन के साधनों के सहयोग से ही धन उत्पन्न किया जाता है, जिससे संयुक्त उत्पादन के वितरण की समस्या का जन्म हो गया है । मुद्रा के कारण ही आज यह सम्भव हुआ है कि सभी उत्पादनकर्ताओं में उत्पादित धन उनके कार्य के अनुपात में बाँट दिया जाता है । भूस्वामी को लगान, श्रमिक को मजदूरी, पूँजीपति को ब्याज और साहसी को लाभ मुद्रा के रूप में ही प्राप्त होता है । यही कारण है कि मुद्रा प्रणाली के विकास के साथ ही साथ बड़े-बड़े उद्योगों की उन्नति हुई है ।

२. सामाजिक क्षेत्र में मुद्रा का महत्त्व

प्रो. के. पी. भटनागर के शब्दों में, 'मुद्रा सामाजिक सुधार की वाहक एवं आर्थिक रोगों की औषधि है' । मुद्रा के अनेक सामाजिक महत्त्व हैं ।

आर्थिक दासता से मुक्ति– वर्तमान समय में लगान, मजदूरी, ब्याज आदि का भुगतान मुद्रा के रूप में ही किया जाता है, जिससे किसान को जमींदार से, श्रमिक को उद्योगपति से तथा उपभोक्ता को व्यापारी के शोषण से मुक्ति मिल गई है । मुद्रा ने मजदूरों को उनकी परम्परागत दासता से मुक्ति दिलाई है ।

सामाजिक प्रतिष्ठा की सूचक – मुद्रा सामाजिक प्रतिष्ठा की सूचक है । आज के समय में धनवान् व्यक्तियों को विशेष सम्मान दिया जाता है । अत: प्रत्येक व्यक्ति धन अर्जित करके सामाजिक सम्मान प्राप्त करना चाहता है । इस प्रकार आज मुद्रा सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक बन गई है ।

सामाजिक कल्याण की मापक – मुद्रा सामाजिक कल्याण की मापक है। आज मुद्रा के माध्यम से सामाजिक कल्याण को मापा जा सकता है । किसी व्यक्ति को किसी वस्तु के उपभोग से कितनी उपयोगिता प्राप्त होती है, इसे केवल मुद्रा के द्वारा ही मापा जा सकता है । मुद्रा के अभाव में मानव जीवन में अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है ।

सामाजिक जीवन स्तर में सुधार लाने में सहायक– मुद्रा के कारण ही 'परिवारिक बजट' का निर्माण सम्भव हो सका है । अपनी आमदनी का बजट तैयार करके व्यय करने से गृहस्वामी को लाभ प्राप्त होता है । वह इसकी सहायता से सम–सीमान्त उपयोगिता नियम का प्रयोग करके अपने व्यय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने में सफल हो जाता है । इससे रहन–सहन का स्तर ऊँचा हो जाता है।

समाज-सुधार में सहायक– मुद्रा के कारण ही पारिवारिक बजटों का निर्माण सम्भव हो सका है और इससे समाज-सुधारकों को लाभ होता है । प्रत्येक समाज-सुधारक पारिवारिक बजटों का अध्ययन करके समाज की आर्थिक स्थिति की जानकारी प्राप्त कर सकता है । उन्हें इस बात का ज्ञान हो जाता है कि समाज के विभिन्न वर्गों की दरिद्रता तथा सम्पन्नता कैसी है— विभिन्न वर्गों की आमदनी कितनी-कितनी है तथा धनी व निर्धन वर्गों की आमदनी में कितना–कितना अन्तर है आदि । इस जानकारी के आधार पर ही समाज-सुधारक दलित वर्ग की दशा सुधारने का प्रयत्न करता है । बजटों के अध्ययन से समाज-सुधारकों को इस बात की जानकारी प्राप्त हो जाती है कि समाज के विभिन्न वर्ग अपने बच्चों की शिक्षा एवं चिकित्सा पर पर्याप्त मात्रा में धन व्यय करते हैं या नहीं अथवा व्यक्तियों में इन मदों पर उचित मात्रा में व्यय करने की सामर्थ्य है या नहीं । इसी के आधार पर समाज-सुधारक देश में गरीब लोगों के बच्चों के लिए नि:शुल्क शिक्षा व नि:शुल्क चिकित्सा की व्यवस्था करने के लिए सरकार को सुझाव देते हैं ।

३. राजनीतिक क्षेत्र में मुद्रा का महत्त्व

देश के राजनीतिक क्षेत्र में भी मुद्रा का बहुत महत्त्व है ।

राजनीतिक चेतना के प्रसार में सहायक– मुद्रा के प्रयोग से राजनीतिक चेतना में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है । आज का नागरिक इसके लिए सजग रहता है कि उसके द्वारा दिये गये धन का राज्य दुरुपयोग न करे ।

राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति में सहायक– आज के युग में सामान्यत: वही दल सत्ता प्राप्त करने में सफल होता है, जिसके पास विशाल मौद्रिक साधन होते हैं।

राष्ट्रीय एकता में सहायता – मुद्रा के कारण राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन मिला है । मुद्रा के परिणामस्वरूप सामाजिक अलगाव कम हो गया है । मुद्रा ने वाणिज्य एवं व्यापार को प्रोत्साहित किया है। अब दूर स्थित क्षेत्रों के लोग व्यापार हेतु एक-दूसरे से मिलते जुलते रहते हैं, जिससे उनके आपसी सम्बन्ध सुदृढ़ होते हैं और राष्ट्रीय एकता को बल मिलता है ।

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग– मुद्रा के प्रयोग से अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं की स्थापना, पूँजी के स्थानान्तरण और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सहयोग को प्रोत्साहन मिलता है ।

भौतिक प्रगति में सहायक– मुद्रा भौतिक प्रगति को सम्भव बनाती है । वर्तमान भौतिक प्रगति का आधार औद्योगीकरण ही है; परन्तु यह औद्योगीकरण बिना पूँजी संचयन के सम्भव नहीं हो सकता और पूँजी संचयन केवल मुद्रा के द्वारा ही सम्भव हो सकता है ।

इस प्रकार समाज की संरचना में मुद्रा की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है ।



आर्थिक उदारीकरण और भारत

डॉ० राजनाथ*

बीसवीं शताब्दी अब अपने अन्तिम पड़ाव पर है, इसके प्रारम्भ और समापन के बीच आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्रों में अनेक ऐसे परिवर्तन आये हैं, जिनसे वैश्विक अर्थव्यवस्था का स्वरूप ही बदल गया है । प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध के बीच विश्व की महाशक्ति समझा जाने वाला देश ब्रिटेन अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए यूरोप में ही हाथ-पैर मार रहा है। बोल्शेविक क्रान्ति के बाद पूँजीवाद को चुनौती देने वाला साम्यवाद अब मरणासन्न है तथा पूर्वी यूरोप और एशिया में इसका वर्चस्व फहराने वाला और विश्व की दूसरी महाशक्ति समझा जाने वाला देश सोवियत संघ इतिहास के पन्नों तक ही सीमित रह गया है । दूसरी ओर संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व की महाशक्ति बनकर भी आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक शक्तिशाली देश जापान और सैन्य दृष्टि से लगातार शक्तिशाली हो रहे देश चीन की चुनौतियों से परेशान है ।

आर्थिक विकास के लिए आवश्यक समझी जाने वाली संरक्षणवादी नीति के स्थान को एक बार पुनः मुक्त व्यापार एवं 'लेजेज फ़ेयर' ने ले लिया है। गैट के डंकल प्रस्तावों को १२४ देशों द्वारा स्वीकार कर लिए जाने तथा गैट के स्थान पर अधिक अधिकार प्राप्त संस्था विश्व व्यापार संगठन (W.T.O) के अस्तित्व में आ जाने से विदेशी व्यापार में लगभग प्रत्येक देश द्वारा सीमा शुल्कों को कम किया जा रहा है, तथा गैर कर नियंत्रणों, कोटा, लाइसेंस आदि को काफी बड़ी सीमा तक हटाया जा रहा है। १९४७ में विनिर्मित वस्तुओं पर औसत आयात शुल्क ४५% था, जो १९८० के अन्त तक ६% तथा उरुग्वे चक्र के समझौते के

---

* प्राध्यापक-अर्थशास्त्र, सामाजिक विज्ञान विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

लागू हो जाने के बाद यह मात्र ३% रह जायेगा । सैद्धान्तिक रूप से अब सभी देश इस बात से सहमत हैं कि वैश्विक स्तर पर अधिकतम लोगों का हित इसी में है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सभी कृत्रिम बाधाओं को हटा लिया जाय, इसके परिणाम भी सकारात्मक हो रहे हैं ।

आज उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रचार-प्रसार तेजी से फैल रहा है, जो स्पष्टतः समय की माँग है। विकासशील राष्ट्रों के समाज में आये इस उपभोक्तावादी चलन ने इन राष्ट्रों के बाजारों की दिशा-गति निर्धारक शक्ति के रूप में सामाजिक लाभ की भावना के स्थान पर अधिकतम भौतिक लाभार्जन की भावना को प्रतिष्ठित किया है । ऐसी हालत में उद्योग क्षेत्र का यह सामाजिक दायित्व है कि वह उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करे ।

इसी दिशा में भारत सरकार ने भी जुलाई १९९१ में आर्थिक चुनौतियों का सामना करने हेतु आर्थिक उदारीकरण का रास्ता अपनाया और भारत को इक्कीसवीं सदी के लिए विकसित राष्ट्र के रूप में तैयार करने का संकल्प लिया । तात्कालिक एवं भावी आर्थिक समस्याओं के निदान के लिए 'उदारीकरण' एक महत्त्वपूर्ण कदम कहा जा सकता है । यही कारण है कि आज हम उदारीकरण के दौर से गुजर रहे हैं ।

उदारीकरण वस्तुतः उस प्रक्रिया को कहा जाता है, जिसके अन्तर्गत नियन्त्रणों एवं प्रतिबन्धों में ढ़ील देकर उदार नीतियों का प्रतिपादन किया जाता है। विकास के प्रारम्भिक काल में अनेक राष्ट्रों के सार्थक क्रियाकलापों में राजकीय हस्तक्षेप की सीमा में वृद्धि होती रही, जिसके कारण एक ऐसी व्यवस्था का जन्म हुआ, जिसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं खुली प्रतियोगिता के स्थान पर राजकीय हस्तक्षेप में वृद्धि होती गयी । कालान्तर में इस प्रकार की नियन्त्रित अर्थव्यवस्था में अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न हो गईं। उद्योग, व्यवसाय आदि में राजकीय हस्तक्षेप की कठोर नीति विकास के मार्ग में साधक होने के बजाय बाधक सिद्ध हुए । यही कारण है कि विश्व के अधिकांश देशों ने ९वें दशक में ही उदारीकरण की प्रक्रिया को अपनाना प्रारम्भ कर दिया था ।

पूर्वी यूरोप एवं सोवियत संघ के घटना-क्रम ने भी भारतीय नेतृत्व की आर्थिक नीतियों के पुनरावलोकन के लिए प्रेरित किया । बाह्य कारणों के साथ-साथ देश की आन्तरिक परिस्थितयाँ भी आर्थिक सुधारों को तत्काल लागू किये जाने के लिए बाध्य कर रही थीं । देश में गिरता हुआ विदेशी मुद्रा का भण्डार भुगतान सन्तुलन का अभूतपूर्व संकट आदि भी भारत में उदारीकरण की प्रक्रिया को लागू करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका रखता है । इन समस्याओं से निपटने के लिए अर्थात् १९९१ के मध्य में दिवालियेपन की स्थिति में आ पहुँचे भारत को इससे उबारने के लिए जून १९९१ में केन्द्र में सत्ता परिवर्तन के साथ ही आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी ।

भारत में उदारीकरण

२४ जुलाई, १९९१ को घोषित औद्योगिक नीति के तहत कुछ उद्योगों को छोड़कर शेष के लिए लाइसेंस की व्यवस्था समाप्त कर दी गयी । विदेशी व्यापार का विस्तार और आयात-निर्यात के नियम को और आसान बनाया गया है। एकाधिकार और प्रतिबन्धित व्यापार की सम्पत्ति सीमा जो पहले १०० करोड़ रूपये थी, पूरी तरह से समाप्त कर दी गयी । विदेशी निवेश की सीमा ४०% से बढ़ाकर ५१% कर दी गयी । अभी हाल में तो कुछ क्षेत्रों में पूँजी निवेश की सीमा अधिकतम ७५% तक कर दी गयी है तथा १० लाख से कम आबादी वाले शहरों में औद्योगिक इकाइयों की स्थापना के लिए अब पूर्व अनुमति की आवश्यकता नहीं रह गयी है ।

इस प्रकार कठोर औद्योगिक नीति में अनेक परिवर्तन करके सरकार द्वारा औद्योगिक क्षेत्रों में लगे प्रतिबन्धों को समाप्त किया जा रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित कुछ क्षेत्रों को निजी क्षेत्र के लिए खोला जा रहा है एवं विदेशी पूँजी-निवेश के साथ विदेशी तकनीकी प्राप्त करना अब आवश्यक नहीं है ।

१९९० के पहले भारत में उदारवादी अर्थशास्त्रियों के निजीकरण या विनिवेश के सुझाव को एक भद्दी गाली-सा समझा जाता था तथा उसको लगभग

भर्त्सना का पात्र बनना पड़ता था । कोड़ोस की इस राय को वामपंथी भी सराहते थे । अत: इसी कारण से किसी भी तीसरे पक्ष की राय विनिवेश के पक्ष में उठ नहीं पायी । डा० मनमोहन सिंह के प्रयासों का भी खूब विरोध किया गया । १९९१ से अब तक जैसे-जैसे आर्थिक उदारीकरण के प्रश्न पर आम सहमति बनती आई है। वामपंथियों का विरोध कुछ कुंद एवं धीमा पड़ता जा रहा है ।

भारत में उदारीकरण को लागू करने के कुछ कारण इस प्रकार हैं :

१. देश के लगभग ढाई सौ सार्वजनिक उपक्रमों में से अधिकांश घाटे में चल रहे हैं । जबकि ये उपक्रम संसद के प्रति भी उत्तरदायी हैं; परन्तु इसके बावजूद भी घाटे वाले उपक्रमों में लम्बे अर्से से कोई सुधार के लक्षण नजर नहीं आ रहे हैं । यदि पिछले २५-२६ वर्षों को लें, तो जहाँ उपभोक्ता मूल्य सूचकांक लगभग ७ गुना बढ़ा है, वहीं सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में कर्मचारियों के वेतन आदि इसी अवधि में १७ गुने बढ़े हैं । ऐसी पूँजी के विनाश को रोकना इसलिए भी जरूरी है कि यह पूँजी अन्यत्र निवेश होकर अधिक उत्पादक सिद्ध होगी ।

२. भारत का आधुनिक विकास करना, उसके लिए विकसित देशों में पूँजीगत व तकनीकी सहायता लेना ।

३. ऐसा करते हुए यहाँ औद्योगिक व तकनीकी आधार खड़ा करना ।

४. पूँजी व तकनीकी उन्नति में आत्म-निर्भर बनना ।

५. आम जनता की दैनिक आवश्यकताओं के सामानों का अधिकाधिक उत्पादन करके उनकी पूर्ति करना ।

६. देश की सदियों पुरानी बेकारी, मँहगाई एवं गरीबी दूर करना ।

उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त एक अतिमहत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि विकसित देशों के पूँजी बाजारों में प्रतिफल की नीची दरों तथा भविष्य में इसमें किसी भी प्रकार का सुधार न हो पाने की आशंकाओं से ग्रसित पूँजी प्रबन्धकों,

नियमित निवेशकों तथा संस्थागत निवेशकों ने संयुक्त राज्य अमेरिका की राजनीतिक और जापान की आर्थिक शक्ति का 'सिवार' (पानी के ऊपर तैरती घास) पकड़कर मन्दी की नदी को पार करने का प्रयास किया है। इसके लिए प्रत्यक्ष तौर पर विकासशील देश मैक्सिको, दक्षिण कोरिया, ब्राजील, भारत, इन्डोनेशिया तथा मलेशिया आदि देशों पर यह दबाव डाला गया कि वे आर्थिक सुधारों का विस्तृत कार्यक्रम लागू करके अपनी-अपनी अर्थव्यवस्थाओं को उदार बनायें तथा विदेशी व्यापार, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश, परोक्ष विदेशी निवेश के लिए सभी प्रकार की बाधाओं को समाप्त करते हुए वैश्वीकरण की प्रक्रिया से स्वयं को आत्मसात् करें । यही कार्य विकसित देशों की 'जेबी संगठन' बन चुके विश्वबैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष एवं जनवरी १९९५ को अस्तित्त्व में आये विश्व व्यापार संगठन के माध्यम से करवाया गया । घरेलू एवं विश्व स्तर पर रातों-रात ऐसे विशेषज्ञ पैदा हो गये, जिनकी दृष्टि में किसी भी देश की किसी भी समस्या की मूल जड़ आर्थिक गतिविधियों पर लगाये गये नियन्त्रण एवं विनियमन थे। राष्ट्रवाद के नाम पर लागू की गयी संरक्षण की व्यवस्था, जिसने अतीत में वर्तमान के कई विकसित देशों को विकसित होने में उल्लेखनीय योगदान दिया था, एकाएक ही निष्प्रयोज्य पुरानी तथा बेकार हो गयी । वर्तमान अर्थशास्त्र के जनक एडम स्मिथ तथा उनके पश्चाद्वर्ती क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का 'लेजेज फेयर' का दौर फिर लौट आया।

वर्ष १९९०-९१ में पूर्वी यूरोप से साम्यवाद का पलायन तथा विश्व की महाशक्ति कहे जाने वाले सोवियत संघ के विघटन ने पूँजीवाद के समर्थकों को यह सिद्ध करने का अवसर प्रदान कर दिया कि राज्य के स्वामित्व एवं संरक्षण में देश का आर्थिक विकास सही ढंग से नहीं किया जा सकता ।

भारत के विभिन्न राज्यों में स्वीकृत विदेशी पूँजी निवेश : राज्यवार स्वीकृत विदेशी निवेश का बँटवारा

(अगस्त १९९१ से जनवरी १९९७)

राज्य	स्वीकृत नं०	राशि (करोड़ रूपये में)	निवेश का कुल प्रतिशत
दिल्ली	४५८	१७,३३०.३६	१७.०८
महाराष्ट्र	८३२	१२,६७६.३९	१२.४९
कर्नाटक	४३४	५,४९३.९०	५.४१
तमिलनाडु	५४३	५,४६८.७५	५.३९
मध्य प्रदेश	११०	५,२६८.३३	५.१९
प० बंगाल	१७९	५,२४९.५५	५.१७
उड़ीसा	४९	३,७९०.७९	३.७३
गुजरात	२५१	३,७६२.५४	३.७१
आन्ध्र प्रदेश	२९५	२,५११.२७	२.४७
उत्तर प्रदेश	२१९	२,४४४.५२	२.४१
हरियाणा	२६८	१,७८८.४०	१.७६
पंजाब	६६	८२१.२०	०.८१
राजस्थान	१२८	६०५.४७	०.६०
अन्य राज्य	४२४	३,११६.५५	३.०७
अन्य (राज्य, जो दर्शाये नहीं गये हैं)	१.७५२	३२,५९२.६७	३२.१२
कुल योग	५.८१४	१,०१,४९२.०२	१००.००

स्रोत : उद्योग मंत्रालय पर आधारित, एस० आई० ए० बुलेटिन, फरवरी १९९७ (राजधानी, १ से १५ अप्रैल, १९९८)

उदारीकरण का भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव

उदारीकरण के नाम पर तेजी से हो रहे निजीकरण एवं विदेशी पूँजी निवेश आर्थिक संकट को हल करने में कहाँ तक सफल होंगे या असफल होंगे, यह कह पाना अभी मुश्किल है । फिर भी इसके भारतीय अर्थव्यवस्था पर निम्न प्रभाव पड़ेंगे।

१. देशी-विदेशी पूँजी का अधिक से अधिक विनियोग तथा नयी मशीनों व उत्पादन का अधिक प्रयोग होगा, जिसके कारण उद्योगों, खदानों व अन्य संस्थाओं में मजदूरों व कर्मचारियों की छटनी करनी होगी ।

२. बीमार सार्वजनिक उपक्रमों को बन्द करना, जिससे उसमें कार्यरत श्रमिकों के सामने भुखमरी की समस्या उत्पन्न होगी ।

३. देश में पूँजीवादी व्यवस्था कायम होगी, जिसके कारण धन का असमान वितरण होगा और सामाजिक संघर्ष बढ़ेगा ।

४. देश के उद्योगों में विदेशी कम्पनियों का ५१% शेयर होने के कारण देश का अधिकाधिक लाभांश विदेशों में चला जायेगा ।

५. देश विदेशी तकनीक व पूँजी पर अत्यधिक निर्भर होगा, जिसके कारण देश की आर्थिक नीति विदेशियों के द्वारा तय होगी ।

६. देश में एकाएक अधिक पूँजी आ जाने के कारण मुद्रा प्रसार अधिक होने की सम्भावना बढ़ जायेगी, जिसके कारण वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगेंगी, जो सामाजिक असंतोष को जन्म देंगी ।

उदारीकरण की प्रक्रिया मैक्सिको में सबसे पहले देखने को मिली, जहाँ कृषि अर्थव्यवस्था से औद्योगिक अर्थव्यवस्था की ओर अग्रसर मैक्सिको ने संयुक्त राज्य अमेरिका, विश्वबैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के तथाकथित परामर्श पर अपनी अर्थव्यवस्था का द्वार विदेशी निवेशकों के लिए मुक्त भाव से खोल दिये । वर्ष १९९३-९४ में वहाँ अरबों डालर के विदेशी निवेश का अन्त:प्रभाव हुआ । आर्थिक सुधार एवं उदारीकरण के नाम पर दी गयी विभिन्न छूटों का परिणाम यह हुआ कि मैक्सिको के पूँजी बाजार में बेतहाशा विदेशी पूँजी आई, जिससे मुद्रा

प्रसार की स्थिति उत्पन्न हुई । दूसरी ओर निर्यातों में अपेक्षित वृद्धि न हो पाने के कारण आयातों के बढ़ जाने से व्यापार खाते का घाटा बहुत अधिक बढ़ गया और भुगतान सन्तुलन काफी अधिक सीमा तक प्रतिकूल हो गया । मुद्रा स्फीति की स्थिति से उबरने के लिए सरकार ने पीसों को अधिमूल्यित कर दिया ।

पीसों का अधिमूल्यन, चालू खाते का बृहद् स्तरीय घाटा एवं राजनीतिक अस्थिरता के माहौल में विदेशी पूँजी निवेशकों को अपनी पूँजी डूबती नजर आने लगी, जिसके कारण विदेशी निवेशकों ने शेयरों, डिवेञ्चरों,बाण्डों आदि को बेचकर अपनी पूँजी को बाहर निकालना प्रारम्भ कर दिया । इससे चालू खाते का घाटा और भी अधिक बढ़ गया और वर्ष १९९३ में लगभग ३६१० अमेरिकी डालर प्रति व्यक्ति आय के साथ स्वयं को विकसित देश होने का दंभ भरने वाला मैक्सिको, जिसने स्वयं को विकासशील देशों के समूह 'जी-७' से अलग करके विकसित देशों के समूह में शामिल हो जाने की घोषणा १९९४ में की थी, एकाएक १९९५ में धरातल पर आ गया और अपनी अर्थव्यस्था सुधारने के लिए उसने संयुक्त राज्य अमेरिका से ४७.८ अरब डालर एवं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से १७.८ अरब डालर सहायता लिया । मैक्सिको के साथ-साथ दक्षिण कोरिया, इण्डोनेशिया तथा थाईलैण्ड भी इसके शिकार हुए हैं, जिनके बारे में यह कहा जा सकता है कि इन देशों ने आर्थिक सुधारों तथा उदारीकरण की नीतियों को लागू करने में आवश्यकता से अधिक जल्दबाजी की ।

निष्कर्ष :

विगत ६-७ वर्षों से भारत में भी आर्थिक सुधारों तथा उदारीकरण की नीतियों की लहर चल पड़ी है, और इनमें से बहुत-सी नीतियाँ संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान, फ्रांस, जर्मनी, इग्लैंड तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्वबैंक, विश्व व्यापार संगठन, जो मुख्य रूप से विकसित देशों के ही 'माउथ पीस' हैं, के दबाव में आकर अपनायी गयी हैं । मैक्सिको एवं दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों में घटित घटनाओं के सन्दर्भ में अब भारत को अत्यधिक सावधान रहने की आवश्यकता है, विशेष तौर पर पूँजी खाते पर रूपये की पूर्ण परिवर्तनीयता लागू

करने तथा विदेशी निवेशकों को अधिकाधिक रियायतें देने के सम्बन्ध में । रिजर्व बैंक तथा भारत सरकार को इस बात पर भी नजर रखनी होगी कि भारत के व्यावसायिक बैंक बहुत बड़ी मात्रा में विदेशी बैंकों एवं कम्पनियों से अल्पकालीन ऋण न लें ।

पहले मैक्सिको एवं अब दक्षिण कोरिया, इण्डोनेशिया, थाईलैण्ड की अर्थव्यवस्थाओं के समक्ष पैदा हुए आर्थिक संकट ने आर्थिक सुधारों की सफलता पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया है। भारत में भी आर्थिक वृद्धि की वार्षिक दर जो अस्सी के दशक के वर्षों में औसतन ५ से ५ $\frac{१}{२}$ के बीच रही उदारीकरण नीति के बाद के वर्षों में गिरकर ३ से ४% के बीच ही रह गयी । अब यह बात स्पष्ट हो गयी है कि विकसित देशों की सरकारें और उनके संरक्षण में पल रही बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ विकासशील देशों की कम्पनियों, बैंकों तथा उद्योगों पर गिद्धदृष्टि लगाये बैठी हैं कि कब इनका दिवाला निकले और कब वे औने-पौने में इन्हें खरीद कर इन देशों के बाजारों पर कब्जा कर लें।

◆

बदलते सामाजिक परिवेश में संयोगी खाद्य-पदार्थ व भोज्य पदार्थों में मिलावट की भूमिका

डॉ० संगीता देवडिया*

खाद्य पदार्थों में अखाद्य पदार्थों को मिलाने की प्रक्रिया नवीन नहीं है । प्राचीन युग से ही विभिन्न खाद्य सामग्री जैसे नींबू, आम इत्यादि के अचार को तेल, नमक व मसाले के द्वारा लम्बे समय तक सुरक्षित करने की परम्परा रही है । इसी प्रकार एक विशेष प्रकार की लकड़ी के धूएँ से मछलियों को सुखाकर संरक्षित किया जाता था । भोज्य पदार्थों को आकर्षक बनाने के लिए सोने, चाँदी की पन्नी का उपयोग किया जाता था व सुगन्धित बनाने के लिए केशर व जायफल जैसी प्राकृतिक चीजों का प्रयोग होता रहा है ।

आधुनिकीकरण के दौर में खाद्य प्रौद्योगिकी के विकास ने खाद्य संरक्षण की प्रक्रियाओं में नये-नये रासायनिक खाद्य संयोजियों के आविष्कार व उपयोग के द्वारा खाद्य पदार्थों को लम्बे समय तक संरक्षित करने की दिशा में एक नयी क्रांति ला दी है । इन खाद्य संयोजियों के उपयोग द्वारा खाद्य पदार्थों के गुणों को परिवर्तित व विकसित करके उनकी संरचना, स्वाद, सुगन्ध व रंग में विभिन्नता उत्पन्न की है ।

बदलते हुए सामाजिक परिवेश में अधिकांश तैयार भोज्यपदार्थ जैसे ब्रेड, बिस्किट, जैम, जैली, केक, पेस्ट्री, ऑइसक्रीम, सूप, कैचप, नूडल्स, टॉफी, साफ्ट ड्रिंक्स, रिफाइण्ड तेल व अन्य ब्रेक-फास्ट सीरियल (Breakfast Cereal), फास्ट फूड भोज्य-पदार्थों हिट एण्ड सर्व आदि अनेक में इन खाद्य संयोजी यौगिकों का उपयोग होता है ।

---

* प्रवक्ता- गृहविज्ञान, वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी

खाद्य-संयोजी (Food additives) उन अखाद्य पदार्थों को परिभाषित करता है, जो सोच-समझकर सामान्यत: भोज्य पदार्थों के संसाधन के समय उनको आकर्षित बनाने के लिए सुगंध, संरचना, रंग आदि गुणों में परिवर्तन के लिए व संग्रह की अवधि को बढ़ाने के आशय से मिलाये जाते हैं । यह परिभाषा उन पदार्थों, जो पशुओं के भोजन में मिलाये जाते हैं व मनुष्यों के उन पशुजन्य भोजनों के अवशेष के रूप में बच जाते हैं और जो पदार्थ पैकिंग के सामानों का हिस्सा होते हैं व डिब्बाबंद या पैक भोजन में चले जाते हैं, को भी सम्मलित करता है । इन पदार्थों का कोई पोषण मूल्य नहीं होता है । हाल में ही W.H.O./F.A.O. ने इस परिभाषा में उन तत्त्वों को भी समावेशित कर दिया है, जो भोज्यपदार्थों में परिपूरक के रूप में उपयोग किए जाते हैं; जैसे–कृत्रिम विटामिन्स, खनिज, लवण इत्यादि ।

इन संयोजी पदार्थों का अनियंत्रित व अविवेकी प्रयोग उपभोक्ताओं के लिए स्वास्थ्य सम्बन्धी संकट खड़ा कर सकता है । उदाहरण के लिए कुछ संरक्षित करने वाले पदार्थ जैसे नाइट्राईट व नाइट्रेट विषाक्त पदार्थ नाइट्रोसाइमिन उत्पन्न कर सकते हैं, जिसको कैंसर के कारणों में गिना जाता है । मिठास वाला पदार्थ सैक्रीन व कोल्ड ड्रिंक्स में साइक्लामेट का उपयोग मूत्राशय में कैंसर उत्पन्न करने वाले तत्त्व हैं । कोलतार से निर्मित रंग (Coaltar dyes) के कारण कैंसर की संभावना रहती है । आटे की गुणवत्ता को बढ़ाने के लिए एजेन का उपयोग, जिसमें नाइट्रोजन व ट्राइक्लोराईड उपयोग होता था; परीक्षण से ज्ञात हुआ कि इससे मनोरोग होता है । चाइनीज भोज्यपदार्थों में सुगन्ध के लिए M.S.G. प्रयोग किया जाता था, जिससे शरीर के भागों की संवेदना नष्ट हो जाती थी, अत: इसे प्रतिबन्धित कर दिया गया । खाद्य संयोजकों के विघटन होकर रासायनिक गुणों व परिवर्तन की प्रक्रियाओं में अध्ययन जारी है ।

आजकल लगभग ३००० से अधिक रासायनिक यौगिकों का प्रयोग खाद्य– संयोजी के रूप में किया जा रहा है, इन्हें मुख्यत: दो समूहों में वर्गीकृत किया गया है।

I प्रथम समूह के अन्तर्गत खाद्य-संयोजी पदार्थों को निम्न रूप से विभाजित किया गया है :

१. **संरक्षित करने वाले पदार्थ (Preservative)** – ये भोज्य-पदार्थ को सूक्ष्म जीवाणुओं की वृद्धि से बचाते हैं । उदाहरण – सोडियम बन्जोएट का प्रयोग फलों से बने पदार्थ में, सल्फर डाई आक्साईड व सलफाईड का उपयोग फल व सब्जियों के लिए, सोडियम व कैल्शियम प्रोपीओनेट का उपयोग ब्रेड, केक को मोल्ड से बचाने के लिए, एस्कार्बिक अम्ल का प्रयोग अचार में एवं सॉरबिक अम्ल का प्रयोग चीज को संरक्षित करने के लिए किया जाता है ।

२. **आक्सीकरण को रोकने वाले पदार्थ (Antioxidant)**-ये पदार्थ वसा के आक्सीकरण की प्रक्रिया को रोकते हैं । B.H.A. व B.H.T. का प्रयोग बिस्किट, तेल, घी, चिप्स इत्यादि पदार्थों को लम्बे समय तक दुर्गन्धरहित रखते हैं। फलों व सब्जियों को काटने से उसमें स्थित फिनॉल के कारण रंग परिवर्तित होता है, इसे रोकने के लिए एस्कार्बिक, साइट्रिक व फॉस्फोरिक अम्ल का प्रयोग किया जाता है ।

३. **चिलेटिंग एजेंट (Chelating Agent)**–कुछ भोज्य–पदार्थों में खनिज लवण जैसे—लौह, ताँबा, मैग्नीज इत्यादि थोड़ी मात्रा में होते हैं, जिसके कारण भोज्य–पदार्थों के रंग, सुगन्ध, संरचना में परिवर्तन आता है । इन खनिज लवणों को पॉलीफास्फेट, साइट्रिक अम्ल, ई. डी. टी. ए. के प्रयोग से बंधित कर दिया जाता है ।

४. **रंग देने वाले पदार्थ (Colouring agent)**–भोज्य–पदार्थों को आकर्षक बनाने लिए कृत्रिम रंगों का प्रयोग होता है, ये अकार्बनिक पदार्थ जैसे—आयरन ऑक्साईड का प्रयोग लाल रंग के लिए और टीटैनियम डाई आक्साईड का प्रयोग सफेदी के लिए होता है ।

५. **सतह पर क्रिया करने वाले पदार्थ (Surface acting agent)**–इन पदार्थों का उपयोग मुख्यत: भोज्य-पदार्थों की सतह पर क्रिया करके

विभिन्न प्रवस्थाओं के मिश्रण को स्थिर रखने के लिए किया जाता है । उदाहरणार्थ–लिसीथीन का उपयोग कोका, चाकलेट, कैंडी, ब्रेड व खमीरीकृत पदार्थों में होता है ।

६. **स्थिर व गाढ़ा करने वाले पदार्थ (Stabilisers and Thickeners)–** ये पदार्थ भोज्य-पदार्थ को गाढ़ा बनाने के लिए उपयोग में आते हैं । इन्हें पानी में मिलाने से गाढ़ापन व स्थिरता आती है । विभिन्न पेड़ों से प्राप्त गोंद, जिलेटीन, पेक्टिन, अण्डे का पीला भाग, सी. एम. सी. का प्रयोग केक, जेली, पुडिंग ग्रेवी, दूध से बने पेय पदार्थ, चाकलेट आदि भोज्य पदार्थों में होता है ।

७. **विरंजक व परिपक्व करने वाले पदार्थ (Bleaching and maturing agent)–** आटे मैदे की बेकिंग गुणवत्ता बढ़ाने के लिए ब्रोमेट व आक्सीकारक पदार्थ जैसे–क्लोरिन डाई आक्साईड, नाइट्रोजन आक्साईड का प्रयोग विरंजक के रूप में किया जाता है ।

८. **बफर, अम्ल व क्षार – (Buffer, Acid and alkali)–** इनका उपयोग PH नियंत्रित करने के लिए किया जाता है । विभिन्न एन्जाईम विभिन्न PH पर क्रियाशील होते हैं । उदा, साइट्रिक एसिड, सोडियम साइट्रेट PH नियंत्रण के साथ-साथ खाद्य-पदार्थों की सुगन्ध संरचना व पाककला के गुणों को बढ़ाता है ।

९. **कृत्रिम मिठास वाले पदार्थ (Sweet ners)–** चीनी के स्थान पर बहुत थोड़ी मात्रा के प्रयोग से बहुत अधिक मिठास हो जाती है । सैक्रीन में चीनी की अपेक्षा ३०० गुना मिठास है । इसका उपयोग भोज्य-पदार्थ को संरक्षित करने में व साफ्ट-ड्रिंक्स में होता है ।

१०. **सुगंध वाले पदार्थ (Flavuring agents)–** लगभग २१०० सुगन्धित पदार्थ ज्ञात हैं, जिनमें लगभग १६०० कृत्रिम व ५०० प्राकृतिक हैं । कृत्रिम सुगन्धित पदार्थ के अन्तर्गत ईस्टर, एल्डीहाईड, कीटोन, अल्कोहल व ईथर समूह का मुख्य रूप से समावेश है । प्राकृतिक पदार्थ हमेशा

उपलब्ध नहीं होते व मँहगे होते हैं । कृत्रिम सुगंधित पदार्थ संश्लेषित कर लिए जाते हैं ।

११. **पोषक परिपूरक पदार्थ** **(Nutrient Supplements)**—भोज्य-पदार्थों में प्राकृतिक रूप से पोषक तत्त्वों की कमी होने पर या भोज्य-पदार्थों को संसाधित करने की प्रक्रिया में नष्ट हुए पोषक तत्त्वों को कृत्रिम परिपूरक मिलाकर परिपूर्ण कर दिया जाता है । उदाहरणार्थ–बिटामिन ए लौह तत्त्व में, कैल्शियम अनाज से बने पदार्थ में, विटामिन सी फलों के रस में, विटामिन डी दूध में, आयोडिन नमक में मिलाकर परिपूर्ण किया जाता है।

१२. **अन्य बचे हुए पदार्थ** – **(Miscellaneous Agents)**—फलों के रस, बियर, शराब में आक्सीकरण प्रक्रिया से नष्ट हुए पदार्थ को हटाने के लिए क्लोरिफाईंग एजेंट जैसे–बिटोनाईट,कृत्रिम रेंजिन का उपयोग किया जाता है। एल्युमिनियम सल्फेट, कैल्शियम लवण का उपयोग फलों व सब्जियों को कड़ा करने के लिये किया जाता है ।

II द्वितीय समूह के अन्तर्गत विभाजन निम्नवत् है :

१. **विशेष आशय के लिए मिलावट** **(Intentional Addition)**– भोज्य पदार्थ में से महँगे पदार्थों को निकालना जैसे–दूध से क्रीम । इसी प्रकार भोज्य-पदार्थ में सस्ते भोज्य-पदार्थों को मिलाना जैसे–खानेवाले तेलों में खनिज तेल, दूध में पानी, मसाले पावडर में चांक पावडर, अनाज में कंकड, जिसके कारण भोज्य-पदार्थ की गुणवत्ता में गिरावट आती है ।

२. **आकस्मिक परिस्थिति के कारण दूषित (Incidental contamination)**– इसके अन्तर्गत कीटनाशक का उपयोग अधिक मात्रा में हो जाने पर भोज्य– पदार्थ दूषित हो जाते हैं । डिब्बाबन्द पदार्थों में यदि टीन की गुणवत्ता उत्तम न हो या उपयोग किये गये घोल की प्रक्रिया टीन पर हो जाने से भोज्य-पदार्थ दूषित हो जाते हैं । प्लास्टिक पैकिंग में उपयोग किये गये पदार्थ का स्वास्थ्य पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है ।

३. **धातु के कारण दूषित (Metalic contamination)**– विभिन्न धातुओं से भोज्य पदार्थ दूषित हो जाते हैं । यदि अरासायनिक, शीशा, पारा शरीर में किन्हीं स्रोतों से पहुँचकर संग्रहीत हो जाते हैं तो बहुत ही हानिकारक होते हैं । उदाहरणार्थ– सेव, अंगूर, आम में लेड आरसनेट का फौवारा दिया जताा है । यदि इनका बिना धोए उपयोग किया जाय, तो हानिकारक होता है ।

आधुनिकता व पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होकर प्रत्येक व्यक्ति घोर औद्योगीकरण के युग में जी रहा है । जिसके कारण लोगों के रहन–सहन के स्तर व पद्धतियों में परिवर्तन आया है । व्यस्तता, महिलाओं का नौकरीपेशा होना, प्रचार के माध्यमों, भागदौड़ की जिन्दगी के कारण भोजन के रूप में बाजार में उपलब्ध संसाधित खाद्य-सामग्री के उपयोग का प्रचलन दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है । फास्ट–फूड (Fast Food), हीट एण्ड सर्व (Heat & serve), इन्सटैंट फूड (Instant Food) भोज्य-पदार्थों की शृंखला में वृद्धि होती जा रही है क्योंकि ये भोज्य-पदार्थ में विभिन्नता उत्पन्न करते हैं । इन कारणों से इनका उपभोग बढ़ता जा रहा है ।

वैज्ञानिक व तकनीकी विकास के फलस्वरूप जहाँ एक ओर भोज्य-पदार्थों के उत्पादन दर में वृद्धि हुई है, वहीं दूसरी तरफ लाभ व मुनाफा कमाने के फेर में स्वास्थ्य की दृष्टि से भोज्य-पदार्थ की गुणवत्ता के स्तर में गिरावट आयी है । दुनिया के कई देशों में प्रतिबन्धित कीटनाशकों का प्रयोग भारत में अस्वास्थ्यकर होता जा रहा है। इनसे हृदय की बीमारी, दिमाग व गुर्दे में कैंसर होने का खतरा बढ़ता जा रहा है ।

के. जी. एम. सी. और आई. टी. आर. सी. (१९९०) परीक्षण के अनुसार मनुष्य जब डी. डी. टी., बी. एच. सी. जैसे रसायनों को निगलता है, तो छोटी आँत उनको सोख लेती है, फिर वे चिकनाई वाले ऊतकों से चिपक जाते हैं । पूरे शरीर की ऊर्जा इन्हीं ऊतकों से मिलती है । ये जहरीले रसायन आमतौर पर थायराईड, दिल, गुर्दे, जिगर, स्तन, ग्रन्थि और बीजावरण जैसे महत्त्वपूर्ण अंगों में जमा हो जाते हैं । ये नाभिनाल से विकसित भ्रूण में जा सकते हैं और

स्तनपान से शिशुओं के शरीर में इन जहरीले रसायनों का ५०-८० मिलीग्राम भाग कई वर्षों तक रह सकता है ।

गत वर्ष सरसो तेल में आरजीमोन की मिलावट से होने वाले रोग ड्राप्सी का स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव से हम सभी लोग भयभीत हैं ।

१९८९ में कृषि क्षेत्र में हुए सर्वेक्षण में पाया गया कि किसान बन्दगोभी पर सफेदी लाने के लिए पैराथियोन छिड़कते हैं और भिण्डी को ज्यादा हरी दिखाने के लिए नीला थोथे में भिगाते हैं । जिन लोगों के शरीर में यह जहर गया, उनकी स्मरण शक्ति बेहद कमजोर हो गयी ।

विश्व के सभी देशों में खाद्य-संयोजियों का उपयोग सरकारी नियंत्रण व कानून के अन्तर्गत आता है । भारत में दो अधिनियम—

१. Prevention of Food Adultration Act. (P.F.A.)

२. Food product Order (F.P.O.)

खाद्य संयोजी पदार्थों के उपयोग के नियमों व व्यवस्था को निर्धारित करते हैं। अगर किसी भोज्य पदार्थ में उन खाद्य-संयोजी पदार्थों का उपयोग किया जाता है, जो सरकार द्वारा स्वीकृत नहीं हैं या सरकार द्वारा निर्धारित सीमा से अधिक मात्रा में मिलाये गये हैं, तो उन भोज्य-पदार्थों को मिलावटयुक्त माना जाता है । खाद्य-संयोजी पदार्थों की प्रकृति व प्रयुक्त मात्रा को पैकिंग पर या लेबल पर दर्शाया जाना चाहिए । इसी प्रकार यदि कृत्रिम रंगों का उपयोग किया जाता है, तो 'कृत्रिम रंग' का उपयोग लेबल्स पर लिखा होना चाहिए । अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर १९६३ में F.A.O./W.H.O. का संयुक्त कार्यक्रम भोज्य-पदार्थों के मानक को निर्धारित करने के लिए शुरू किया गया, जिसमें F.A.O./W.H.O./Codex Alimentarius Commission इसकी मुख्य संस्था है । उपभोक्ताओं के स्वास्थ्य का संरक्षण इस आयोग का मुख्य उद्देश्य है । खाद्य-संयोजी पदार्थों का मनुष्य के स्वास्थ्य पर प्रभाव जनस्वास्थ्य सम्बन्धी मुख्य समस्या है ।

देश व उसके निवासी केवल विचारों से ही नहीं, एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं; बल्कि भोजन भी इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । लोगों की भोजन

के प्रति पसन्द सांस्कृतिक प्रभावों के कारण विभिन्न स्थानों पर तथा विभिन्न समुदायों में भिन्न-भिन्न होती है । इसका कारण भोजन सम्बन्धी आदतें, परम्परायें, विश्वास, रीतिरिवाज, भौगोलिक परिस्थितियाँ व दृष्टिकोण में परिवर्तन है । आधुनिकीकरण व औद्योगीकरण से भोजन सम्बन्धी आदतों में परिवर्तन आ रहे हैं; परन्तु विभिन्न सामाजिक समुदायों में सांस्कृतिक प्रभाव के फलस्वरूप फास्ट फूड, इन्सटेंट फूड व अन्य प्रकार के भोजन के प्रयोग में विभिन्नता है, उनके शरीर पर प्रभाव भी भिन्न-भिन्न हैं तथा उनके सम्बन्ध में उनकी जानकारी भी पृथक्-पृथक् है।

इस सम्बन्ध में शिक्षित ५० महिलाओं के समूह पर एक अध्ययन किया गया। अनुसूची विधि द्वारा वैज्ञानिक आधार पर खाद्य-पदार्थों में खाद्य-संयोजी यौगिकों की मिलावट के सम्बन्ध में उनकी जानकारी व दृष्टिकोण का विश्लेषण किया गया। उनसे निम्न जानकारी के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे गये :

१. भोज्य-पदार्थों में मिलावट की जानकारी के सम्बन्ध में ।

२. भोज्य-पदार्थों में मिलाये जाने वाले खाद्य-संयोजी यौगिकों के सम्बन्ध में

३. खाद्य-संयोजी यौगिकयुक्त भोज्य-पदार्थों की खरीददारी के सम्बन्ध में ।

४. इन भोज्य-पदार्थों की जानकारी के माध्यम ।

इस सम्बन्ध में उनसे प्राप्त जानकारी सारिणी के रूप में निम्न प्रकार से दर्शायी गयी है :

सारिणी–१

क्रम-संख्या	विवरण	प्रतिशत
१.	आमदनी बढ़ाने के लिए	९०%
२.	आकर्षण बढ़ाने के लिए	५०%
३.	संरक्षित करने के लिए	४५%
४.	कम मूल्य की वस्तुओं को अधिक दाम पर बेचने के लिए	५०%

सारिणी– २

क्रम-संख्या	विवरण	प्रतिशत
१.	कीटनाशक के रूप में	९०%
२.	फसलों की सुरक्षा हेतु	९०%
३.	भोज्य पदार्थों के संग्रहण के लिए	७५%
४.	आकर्षक बनाने के लिए	६०%
५.	अनाज उत्पादन बढ़ाने के लिए	६०%
६.	बीमारियों को रोकने हेतु	५०%
७.	पोषक तत्त्वों की मात्रा बढ़ाने हेतु	६०%

सारिणी– ३

क्रम-संख्या	विवरण	प्रतिशत
१.	मजबूरी के कारण	१००%
२.	समय की कमी के कारण	९०%
३.	आसानी से उपलब्धता के कारण	९०%
४.	अधिक प्रचलन के कारण	६०%
५.	विज्ञापन से प्रभावित होकर	४०%
६.	अज्ञानता के कारण	२५%
७.	आलस्य के कारण	–

सारिणी–४

क्रम-संख्या	**विवरण**	**प्रतिशत**
१.	दूरदर्शन द्वारा	९०%
२	समाचारपत्र द्वारा	८०%
३.	मित्रों द्वारा	६०%
४.	अनुभव के आधार पर	६०%
५.	बाजार में	६०%

इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि शिक्षित महिलाएँ यह जानती हैं कि खाद्य-संयोजी यौगिकों का प्रयोग हानिकारक है; लेकिन मिलावटी चीजों की उपलब्धता व प्रचलन के कारण उनका प्रयोग उनकी मजबूरी हो गयी है । बाजार में हो रही धोखेबाजी के कारण लोगों का विश्वास आई.एस.आई व एगमार्क, एफ. पी. ओ. से भी हटता जा रहा है ।

दुनिया के कई देशों में प्रतिबन्धित जहरीले कीटनाशकों के भारत में धुँआधार इस्तेमाल से भारतीय भोजन दिन–ब–दिन अस्वास्थ्यकर होता जा रहा है। यहाँ तक कि पीने का पानी भी सुरक्षित नहीं रह गया है, जिससे कई तरह की बीमारियों का गंभीर खतरा पैदा हो गया है, जैसे–हृदयरोग, कैंसर, स्मरणशक्ति कमजोर होना, आँखों की रोशनी समाप्त होना, जोड़ों की बीमारी, स्तन ट्यूमर, गर्भपात आदि ।

विशिष्ट विषविज्ञानी **डॉ. राजेन्द्र कालर** कहते हैं—'साफ है कि हम ज्यादा खतरे से घिर गये हैं । केवल कीटनाशक ही नहींद्ध बल्कि भारतीयों के लिये शीशा, कैल्शियम, मैगनीज और निकल जैसे भारी धातुओं से भी नया खतरा पैदा हो गया है। सरकार द्वारा खाद्य पदार्थों की सुरक्षा हेतु कानून व अधिनियम बना देने से ही इस भयंकर समस्या का हल सम्भव नहीं है, बल्कि इन कानून व अधिनियमों को कार्यरूप देना होगा। इसके लिए स्वयंसेवी संगठनों व शिक्षित

गृहिणयों को आगे आकर अपनी अहम् भूमिका निभानी होगी । समय आ गया है कि इस दिशा में भी कदम उठाये जाँय' ।

इण्डिया टुडे १५ जून, १९८९ में भोज्य-पदार्थों में मिलावट से बचने के उपाय बताये गये हैं ।

१. सब्जियों को धाराप्रवाह पानी से अच्छी तरह धोकर तथा कुछ देर सिरके में भिगोकर उपयोग किया जाय ।

२. अन्य खाद्य पदार्थ चावल, गेहूँ, दाल को भी अच्छी तरह धोकर प्रयोग किया जाय ।

३. बाजार में मिलने वाले सभी खाद्य-पदार्थों में मिलाये जाने वाले खाद्य-संयोजी यौगिकों की मात्रा, नाम, आई. एस. आई. व एगमार्क की लेबलिंग की जाय।

४. खाद्यान्न के विषैले तत्त्वों के बारे में लोगों को आगाह करके वस्तुओं की नियमित जाँच-पड़ताल की जाय ।

५. किसानों को कीटनाशकों के सही इस्तेमाल की जानकारी देने के लिए 'एकीकृत कीट प्रबंधन कार्यक्रम' में तेजी लायी जाय ।

६. डी. डी. टी. और बी. एच. सी. कीटनाशकों का इस्तेमाल धीरे-धीरे खत्म किया जाय ।

७. उद्योगों में जहरीले अवशिष्ट छोडने से रोका जाय ।

८. कीटनाशक नीति तय करते समय स्वास्थ्य सम्बन्धी तथ्यों पर ध्यान रखा जाय।

सन्दर्भ-ग्रन्थसूची

१. Swaminathan M. (1981) Food science chemistry and experimental Food.

2. Manay N. Shakuntala and Swamy M. Shadarshara (1987) Food Facts and principles.

3. Park K. (1997) Text book of preventive and social medicine.

4. Roy Chengappa (15 June, 1989) Poisoning in Food– India Today.



२१ वीं सदी का समाज : सम्भावनाएँ एवं चुनौतियाँ

डॉ० सोमनाथ त्रिपाठी *

बीसवीं शताब्दी को आमतौर पर विज्ञान का युग कहा जाता है। इससे उम्मीद की जाती है कि नई सदी में लोग वैज्ञानिक दृष्टि से अपनी समस्याओं का समाधान करेंगे। थोड़ा विचार करने पर यह भी जनमानस में गहराई से बैठा एक भ्रम ही लगता है। जो चमत्कार हमें बीसवीं सदी में दिखाई दिया और जिससे हम बीसवीं सदी को विज्ञान की सदी मानने लगे थे, वह दरअसल तकनीक के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण प्रगति का नतीजा था। विज्ञान से हमारा तात्पर्य वैसे ज्ञान से है जो हमारी चेतना को ब्रह्माण्ड की बाहरी सीमाओं और पदार्थों तथा जीवन की भीतरी सीमाओं तक पहुँचाकर उसके रहस्यों को हमारी अवधारणाओं के भीतर ला सके। विज्ञान की दृष्टि से बीसवीं सदी बिल्कुल सपाट लगती है; क्योंकि हमारे समय की सभी मौलिक खोज या तो १९ वीं शताब्दी की है या २० वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों की, जिसकी आभा से बीसवीं सदी का वैज्ञानिक जीवन आलोकित रहा है। टी.वी. लेजर, माईक्रोचिप्स, आप्टिकल फाइवर, इन्टरनेट, जेनेटिकली मोडिफाएड फूड, भू-उपग्रहों का प्रक्षेपण आदि मनुष्य का पदार्थों के गुणों का ज्यादा से ज्यादा अध्ययन और फिर इनसे प्राप्त जानकारी का अपनी स्फीत आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रयोग करने की इच्छा का परिणाम है, यह किसी बुनियादी वैज्ञानिक खोज का परिणाम नहीं । दरअसल बीसवीं सदी उपभोक्तावादी विक्षिप्तता की सदी है। इसी से चमत्कृत करने वाली इसकी चकाचौंध दिखाई देती है, जो वर्तमान समाज के अस्तित्व के लिए संकट का कारण भी है।

विज्ञान की दिशा में जो परिवर्तन आया है, उसके दो कारण लगते हैं। पहला तो यह कि प्रारम्भ में विज्ञान दर्शन के क्षेत्र का विस्तार था, जिसमें अपने

---

* अध्यक्ष- सामाजिक विज्ञान विभाग, सं.सं.वि.वि., वाराणसी ।

आप को, संसार को और इसके बीच के रिश्तों को समझने की गहरी अभिलाषा थी, अर्थात् द्रष्टा और दृश्य के सम्बन्धों को समझने की अभिलाषा । आधुनिक औद्योगिक विकास की आवश्यकताओं के दबाव में अमेरिका में प्रैग्मेटिज्म के उस प्रयोगवादी रूप का विकास हुअ, जिसके जनक **जान डिवी** थे। उनके अनुसार वस्तुओं को समझना और उसके साथ छेड़छाड़ करना एवं उन्हें तोड़-मरोड़ कर उसके विविध गुणों का आकलन करना है। ज्ञातव्य है कि दर्शन के क्षेत्र में यही दृष्टि **कालमार्क्स** की भी थी, जो उसने डेढ़ सौ साल पहले फायरबाख पर अपनी थीसिस में व्यक्त की थी। उसने अन्त में निष्कर्ष के रूप में लिखा था— 'दार्शनिकों ने अभी तक संसार की विविध व्याख्यायें देने की कोशिश की है; लेकिन समस्या इसे बदलने की है'। इस तरह हमारे समय के विज्ञान का ध्यान विश्वदृष्टि निर्माण की जगह विखण्डन पर केन्द्रित है। आज वैज्ञानिकों का ध्यान अणुओं, परमाणुओं, कोशिकाओं, डी०एन०ए० आदि को खण्डित कर इसके सूक्ष्म से सूक्ष्म खण्डों के गुणों के अध्ययन पर केन्द्रित है। स्वाभाविक है कि इस प्रक्रिया में पदार्थ के ऐसे पहलू नित्य सामने आने लगे हैं, जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकी थी। जब हम वस्तुओं के विविध गुणों को जानते हैं, तो उनकी क्या उपयोगिता हो सकती है, यह भी जान लेते हैं । इससे नित्य नये अविष्कार के मार्ग खुलते हैं । इस तरह वर्तमान समाज के उपभोक्तावादी मूल्य का विज्ञान के उपभोक्तावादी रुझान के साथ स्वाभाविक रिश्ता बन गया है। ज्यादातर वैज्ञानिक इसी दिशा में अग्रसर हैं। इस स्थिति का एक और भी कारण दिखाई देता है। सम्भवत: मनुष्य, जिसकी ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकृति की ही अंग हैं, अवलोकन की उस सीमा पर पहुँच गया है, जिसके आगे विश्व की वैसी अवधारणा की गुंजाइश नहीं, जिसे प्रयोग से सही या गलत सिद्ध किया जा सके, जो अब तक किसी भी वैज्ञानिक सिद्धान्त की कसौटी मानी जाती थी। इस तरह विज्ञान का इस दिशा में बढ़ना इसे दार्शनिक अनुमान की कोटि में डाल देगा, जहाँ से विज्ञान ने प्रयोगात्मक कसौटी अपनाने की दिशा में छलांग लगाई थी। आज बहुत थोड़े से वैज्ञानिक ऐसे अनुभवों की तरफ आकर्षित होते हैं; क्योंकि प्रतिष्ठानों को दार्शनिक कल्पनाशीलता की जरूरत नहीं, व्यावहारिक लाभ की जरूरत है, और किसी भी शोध के लिए आवश्यक शैली उन्हीं के पास है।

किसी भी काल में ज्ञान का विस्तार तरंग की परिधि के फैलाव की तरह होता है, अर्थात् हर क्षेत्र में ज्ञान कमोवेश पैर से पैर मिलाकर चलता है। इससे समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि क्षेत्रों में भी उन व्यापक समस्याओं से जूझने की रुझान नहीं है, जिनके परिप्रेक्ष्य में इन शाखाओं का जन्म हुआ था। अर्थशास्त्र तो सिमटकर बाजार की नित्य की स्थिति में हानि-लाभ की सम्भावना को मुहैय्या कराने मात्र का माध्यम रह गया है, जिसके लिए वह जटिल गणितीय समीकरणों के ईजाद में लगा है।

समाजशास्त्री भी आज के समाज और प्रतिष्ठानों में नित्य होने वाले छोटे-छोटे संघर्षों के अध्ययन और उनके निराकरण के उपाय ढूँढ़ने में लगे हैं। दरअसल बृहद् समाज की समस्याओं के सार्विक हल की चिन्ता अब इन क्षेत्रों में उपहास का विषय है। वे कहेंगे कि बृहद् समाज में परिवर्तियों की इतनी बहुलता है कि इन्हें किसी अर्थपूर्ण समीकरण में नहीं बाँधा जा सकता । विचाराधारा का अन्त, इतिहास का अन्त आदि की बातें पूरे समाज की समस्याओं से जूझने की इच्छाशक्ति के अभाव एवं भविष्य के प्रति निराशा की अभिव्यक्ति ही लगती हैं। आज बौद्धिक संसार में अवधारणात्मक संकीर्णता आयी है, जिससे लोग स्वयं की या छोटे समूह की तात्कालिक जरूरतों से आगे नहीं सोचते।

दूसरा संकोच मनुष्य के भौतिक संसार और जीवन के लिए आवश्यक संसाधनों की संभावित उपलब्धि के क्षेत्र में आया है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ की दुनिया मानव चेतना में खुली सीमा की दुनिया थी। उसे यह विश्वास था कि वह अपनी जरूरत को चाहे जितना बढ़ाए, चाहे कितनी भी वस्तुओं का उत्पादन करे, प्रकृति उस पर आपूर्ति की कोई सीमा नहीं लगाती; । परन्तु आज जमीन और खनिजों पर ही नहीं, जल और वायु तक की उपलब्धि पर प्रश्नचिह्न लग गया है। अशुभ का संकेत देती घटनाएँ सब तरफ घटित हो रही हैं– धरती के बढ़ते ताप ओजोन परत में छेद, तूफान, जलप्लावन, बर्फ के विशाल भण्डार का क्षय आदि।

अपने स्वार्थवश मनुष्य जीन बैंकों में जैविक सम्पदा के संरक्षण की कोशिश तो कर रहा है; लेकिन संस्कृतियों की विशिष्टताओं को बचाए रखने के लिए उसने अभी तक कोई भी वैज्ञानिक विधि ईजाद नहीं की है। नई सदी एक

विचारधारा के रूप में संस्कृतियों के वैविध्य को मिटाने और सांस्कृतिक एकरूपता लाने के संकल्प के साथ उपस्थित हुई है। वैश्वीकरण, जिसका पैगाम लेकर नई सदी में आई है, एक अर्थ में संस्कृतियों का हॉलोकास्ट है। इस प्रक्रिया से पोषित एक मात्र संस्कृति 'वैश्विक संस्कृति' नाभिकीय शास्त्रों से लैस और प्रतिस्पर्धा मानकों से निर्मित मानव सम्बन्धों पर आधारित होगी। फिर इसे आत्महत्या करने से कौन रोक पाएगा, इसकी आत्माहत्या के बाद कोई भी क्षेत्र नहीं बच पाएगा। जहाँ बचा-खुचा जीवित मनुष्य पुनः एक संस्कृति का निर्माण करे।

बीसवीं सदी की तरह इक्कीसवीं सदी में सबसे बड़ा अनिष्ट जिस शास्त्र से होने की सम्भावना है, वह है अर्थशास्त्र, जो दरअसल शास्त्रों की बुनियादी मान्यता के हिसाब से कोई शास्त्र है ही नहीं । इस बात को थोड़ा स्पष्ट करना जरूरी है। विज्ञान का आधार होता है संसार का वस्तुपरक अवलोकन, अध्ययन के विषय का विवरण और उसके विविध परिवर्तियों के सम्बन्धों को नियमबद्ध करना। विषयवस्तु के गुणों की विशिष्टता को आधार बनाकर प्रस्तावित नियम के तहत होने वाले सम्भावित परिणामों की भविष्यवाणी की जाती है। ये गुण विषयवस्तु के होते हैं। उदाहरण के लिए पदार्थ में जड़ता का गुण बाहर से अरोपित नहीं किया जाता है। इसके विपरीत अर्थशास्त्र बिना इसकी सत्यता की परीक्षा किये यह आधार अपनाता है कि आदमी के कार्यकलाप लोभ एवं ईर्ष्या से परिचालित होते हैं। इतना ही नहीं, आदमी को आर्थिक आदमी मान लिया जाता है, जिसके ये आदर्श गुण माने जाते हैं । यह अपेक्षा की जाती है कि हर व्यक्ति इन्हीं गुणों–यानी लोभ एवं ईर्ष्या के अनुरूप व्यवहार करेगा। इसके विपरीत हकीकत यह है कि आदमी दया, परोपकार आदि के भाव से भी परिचालित होता है। अनेक कबायली समाजों में प्रतिष्ठा, शौर्य एवं बलिदान में या सम्पत्ति को लोगों को खिलाने-पिलाने में खर्च करने या बाँटने में होती है। अर्थशास्त्री यहाँ एक खास समाज यानी पूँजीवादी समाज द्वारा अपनाये गये या आरोपित आदर्श को मनुष्य का स्वभाव मान लेते हैं और उसी आधार पर समाज का ढाँचा खड़ा करना चाहते हैं। फिलहाल समाजशास्त्री समाज को (समुदायभाव आधारित) जेमाइनशाफ्ट और (व्यक्तिनिष्ठ सामाजिक) जेजेलशाफ्ट की श्रेणियों में विभाजित करते हैं और यह मानते हैं कि विकास के लिए दूसरे श्रेणी में संक्रमण जरूरी है - यानी वैसे समाज की तरफ जहाँ सगे-

सम्बन्धी समुदाय आदि की भावना से मुक्त आदमी शुद्धरूप से अपना हित साधता है। इस तरह अर्थशास्त्र विवरणात्मक की जगह आदेशात्मक अनुशासन बन जाता है। इस औद्योगिक पूँजीवादी मान्यताओं को मानव स्वभाव का आधारभूत गुण मानकर अर्थशास्त्र के पूरे ढाँचे का निर्माण होता है।

इस सन्दर्भ में ई.एफ. **शुभारवर** द्वारा अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'स्माल इज ब्यूटीफुल' में वर्णित **मेनार्ड कीन्स** के विचार गौरतलब हैं। मेनार्ड कीन्स ने यह तो माना कि लोभ और ईर्ष्या को समाप्त होना चाहिए; लेकिन यह भी कहा कि कम से कम अगले १०० वर्ष तक मानव विकास के लिए इसका बना रहना जरूरी है। इसके बाद फिर जीवन के ऊँचे आदर्शों की वापसी होगी। जब ये बातें कही गई थीं, तब से दो तिहाई सदी निकल चुकी है, पर लोभ और ईर्ष्या की पकड़ लोगों के जीवन पर बढ़ती ही जा रही है। इसी बीच लोभ और प्रतिस्पर्धा के कारण एक भीषण विश्वयुद्ध हो चुका है और छोटे-मोटे स्थानीय युद्धों से पूरी दुनिया झुलसती रही है। चाहे वे युद्ध काँगों के हीरे के लिए हों, खाड़ी देशों के तेल के लिए या फिर कोलम्बिया के मादक पदार्थों की लुभावती तस्करी के लिए हों । इनसे पैदा विषमता से ईर्ष्या और लोभ उत्तरोत्तर बढ़ते ही जायेंगे, घटने का तो सवाल ही नहीं उठता ।

गान्धी जी ने अगर आधुनिक पश्चिमी सभ्यता को शैतानी सभ्यता कहा था, तो निश्चित रूप से इस सभ्यता का यही स्वरूप उनके सामने रहा होगा। उन्होंने कहा था कि संसार में सभी लोगों की जरूरतों को पूरा करने के लिए तो काफी वस्तुएँ हैं; लेकिन एक आदमी की लिप्सा के लिए भी यथेष्ट नहीं । इस बात की सच्चाई वैश्वीकरण के युग में साफ-साफ दिखाई देती है।

आर्थिक केन्द्रीकरण की जो प्रक्रिया चल रही है, उसके परिणाम सम्पन्न औद्योगिक देशों और दुनिया के बाकी देशों में अलग-अलग होंगे, जिसकी कुछ झलक आज हम पाते हैं। विशाल कम्पनियों की प्रतिस्पर्धा उत्तरोत्तर तेज होती जाएगीं; क्योंकि पूँजीवादी प्रसार का यह अन्तर्निहित नियम है। गैर औद्योगिक दुनिया में पश्चिमी विकास प्रक्रिया का परिणाम अब तक विघटनकारी रहा है और आने वाले दिनों में उत्तरोत्तर अधिक विघटनकारी होने की सम्भावना है। पश्चिमी

देशों के सम्पर्क से इन देशों का पारम्परिक उत्पादन और विनिमय का ढाँचा, पारस्परिकता पर आधारित जीवन-पद्धतियाँ एवं संस्कृतियाँ नष्ट हो गई हैं। उनका जीवन पूरी तरह पश्चिमी देशों पर आश्रित होता गया है।

आदमी का आत्मबोध कभी भी अपने आन्तरिक द्वन्द्व से मुक्त नहीं होता। यह उन जीव वैज्ञानिकों द्वारा, जो जीवों के व्यवहारों का अध्ययन करते हैं, लगभग सिद्ध किया जा चुका है कि आदमी के भीतर परमार्थ और आक्रमणता की दो विपरीत प्रवृत्तियाँ सदा कार्यरत रहती हैं, जिनमें आक्रामकता स्वतः स्फूर्त और त्वरित रूप से कार्यशील होती है। यही अन्तर्विरोध धार्मिक चिन्तकों द्वारा भगवान् और शैतान, दैविक एवं पाशविक शक्तियों के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है। महात्मा गाँधी ने इसी अर्थ में गीता के कृष्ण-अर्जुन संवाद को ऐतिहासिक घटना की बजाय मानव मन में उपस्थित विपरीत रुझान के द्वन्द्व के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की थी। आदमी के स्वभाव का यह गुण सदियों और सहस्राब्दियों में नहीं बदला है। संस्कृतियाँ अपने मूल्यों के अनुसार इससे एक-दूसरे को प्रोत्साहित करती रही हैं; लेकिन यह द्वन्द्व सदा बना रहा है।

कल का समाज क्या होगा, इसकी अटकलबाजी का कोई अर्थ नहीं । यह जो अच्छाई और बुराई का संघर्ष है, इसमें अपना पक्ष चुनकर पूरी इच्छाशक्ति से जुटकर ही विनाश के कगार पर खड़ी दुनिया को बचाया जा सकता है। इसमें शैतान का पक्ष कौन है? यह समझना कठिन नहीं । वह पूरी आर्थिक व्यवस्था, जो लोभ और ईर्ष्या में विकास का मर्म देखती है, शैतान का करिश्मा है। विड़म्बना यह है कि इतिहास के पिछले कालखण्डों की तरह हमारे समय में भी इसके विरोध में द्वेष और हिंसा को ही हथियार बनाया गया है और स्वाभाविक नतीजा होता रहा है–शैतान की अन्तिम विजय। 'बीसवीं सदी' में महात्मा गाँधी ने इसके खिलाफ एक हथियार अहिंसा और विरोधी से भी प्रेम का दिया । यह हथियार अन्ततः शैतान की शक्तियों को निरस्त कर सकता है। आज के शोषित वर्गों को समता और बन्धुत्व की भावना में पुनः प्रशिक्षित करना होगा, नहीं तो शोषण के नये केन्द्र विकसित होंगे । नई सदी का समाज क्या होगा, हम इस चुनौती को कितनी संजीदगी से ग्रहण करते हैं, इसी से निर्धारित होगा।



परिशिष्ट

पुनश्चर्या-पाठ्यक्रम में सम्मिलित प्रतिभागियों की सूची

१. **डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र**
प्रवक्ता, समाजशास्त्र विभाग,
मर्यादा पुरुषोतम महाविद्यालय,
मु.+पो.- रतनपुरा,
जि० - मऊ (उ०प्र०)

२. **डॉ. सविता पाठक**
प्रवक्ता, समाजशास्त्र विभाग,
गौतमबुद्ध राजकीय महाविद्यालय,
फैजाबाद (उ०प्र०)

३. **डॉ. (श्रीमती) महिमा मिश्र**
प्रवक्ता, इतिहास विभाग,
हिन्दू स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
मु.+पो.- जमानियाँ,
जिला-गाजीपुर (उ०प्र०)

४. **डॉ. दीनबन्धु तिवारी**
प्रवक्ता, समाजशास्त्र विभाग,
ला० ब० स्नात० महाविद्यालय,
मु.+पो.- मुगलसराय,
जिला चन्दौली (उ०प्र०)

५. **डॉ. राजीव द्विवेदी**
प्राध्यापक, इतिहास विभाग,
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी ।

६. **डॉ० दिवाकर लाल श्रीवास्तव**
प्राध्यापक, इतिहास विभाग,
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी ।

७. **डॉ. कैलास नाथ सिंह**
प्राध्यापक, इतिहास विभाग,
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी ।

८. **डॉ. लक्ष्मीशंकर उपाध्याय**
प्राध्यापक, इतिहास विभाग,
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी ।

९. **डॉ. राजदेव प्रसाद**
प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान विभाग,
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी ।

१०. **डॉ. राजनाथ उपाध्याय**
प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग,
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी ।

११. **डॉ. उदित नारायण चौबे**
प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग,
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी ।

१२. डॉ. श्रीमन् पाण्डेय
प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग,
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी ।

१३. डॉ. कौशलेश सिंह
प्राध्यापक, प्राचीन इतिहास,
केन्द्रीय तिव्वती उच्च शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी

१४. डॉ. विमलेन्दु विकास चक्रवर्ती
प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग,
केन्द्रीय तिव्वती उच्च शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी

१५. डॉ. उमेश चन्द सिंह
प्राध्यापक, इतिहास विभाग,
केन्द्रीय तिव्वती उच्च शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी

१६. डॉ. सरोज रानी
प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास विभाग,
आर्य महिला महाविद्यालय,
वाराणसी ।

१७. डॉ. मधुमिता भट्टाचार्य
प्रवक्ता, समाजशास्त्र विभाग,
आर्य महिला महाविद्यालय,
वाराणसी ।

१८. डॉ. उषाकला उपाध्याय
प्रवक्ता, इतिहास विभाग,
केन्द्रीय तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान,
वाराणसी ।

१९. डॉ. नन्दिनी वर्मा
प्रवक्ता, प्रा.भा. इति. एवं संस्कृति विभाग
बसन्त कन्या महाविद्यालय,
वाराणसी ।

२०. डॉ. रीता सिंह
प्रवक्ता, समाजशास्त्र विभाग,
बसन्त कन्या महाविद्यालय,
वाराणसी ।

२१. डॉ. कल्पलता डिमरी
प्रवक्ता, अर्थशास्त्र विभाग,
बसन्त कन्या महाविद्यालय,
वाराणसी ।

२२. डॉ. स्मृति भट्टनागर
प्रवक्ता, इतिहास विभाग,
बसन्त कन्या महाविद्यालय,
वाराणसी ।

२३. डॉ. संगीता देवड़िया
प्रवक्ता, गृहविज्ञान विभाग,
बसन्त कन्या महाविद्यालय,
वाराणसी ।

२४. डॉ. महेन्द्र नाथ सिंह
प्राध्यापक, प्राचीन इतिहास विभाग,
उदय प्रताप महाविद्यालय,
वाराणसी ।

२५. डॉ. (कु.) अदिति मिश्र
प्रवक्ता, राजनीति विज्ञान
जगतपुर स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
जगतपुर, वाराणसी ।

२६. डॉ. मीना लाल
प्राध्यापक,प्रा.भा.इति.एवं संस्कृति विभाग,
महिला महाविद्यालय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी ।

२७. डॉ. विजय लक्ष्मी शर्मा
प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास विभाग,
पं. क० त्रि० स्नात० महाविद्यालय,
चन्दौली ।

२८. डॉ. अरुण कुमार श्रीवास्तव
प्राध्यापक, राज० विज्ञान विभाग,
डी.ए.वी.पी.जी. कालेज,
वाराणसी ।

२९. डॉ. अजय कुमार मिश्र
प्राध्यापक, प्राचीन इतिहास विभाग,
बी.आर.डी.बी.डी. स्नात० कालेज,
आश्रम, बरहज, देवरिया ।

३०. डॉ. अशोक कुमार सिंह
प्राध्यापक, इतिहास विभाग,
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

३१. डॉ. रवि प्रकाश पाण्डेय
प्राध्यापक, समाज शास्त्र विभाग,
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी ।

३२. डॉ. प्रवेश भारद्वाज
प्राध्यापक, प्राचीन इतिहास विभाग,
डी.ए.वी. डिग्री कालेज,
वाराणसी ।

३३. डॉ. अवधेश राय
प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग,
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी ।

३४. डॉ. श्याम कुमार द्विवेदी
प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग,
मुरारका संस्कृत महाविद्यालय,
पटना सिटी, पटना ।

३५. डॉ. शम्भुनाथ उपाध्याय
प्राध्यापक, मनोविज्ञान विभाग,
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी ।

३६. डॉ. विजय शंकर मिश्र
प्राध्यापक, समाजशास्त्र विभाग,
ला.ब. शा०स्नात० महाविद्यालय,
मु. पो. - मुगलसराय,
जिला - चन्दौली ।

३७. डॉ. (श्रीमती) ज्योति मिश्र
प्राध्यापक,
गु० दे० म० स्नात० महाविद्यालय,
बलिया।

३८. डॉ. आम्रपाली त्रिवेदी
प्राध्यापक, गृहविज्ञान विभाग,
बसन्त महाविद्यालय,
राजघाट, वाराणसी ।




सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
श्रुतम् मे गोपाय


सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
श्रुतम् मे गोपाय